विश्व धर्म

डॉ० हृदय नारायण मिश्र

विश्व धर्म

(तुलनात्मक धर्म)

लेखक

डॉ० हृदय नारायण मिश्र

एम० ए० (दर्शन, मनोविज्ञान) पी० एच० डी०

दर्शनशास्त्र विभाग,

काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

ज्ञानपुर (वाराणसी)

(पूर्वांचल विश्वविद्यालय)

शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद

290

प्राक्कथन

दार्शनिक शोधों तथा अध्ययनों में विश्व धर्म या तुलनात्मक धर्म का स्थान अत्यन्त ही विशिष्ट और महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। यही कारण है कि भारतीय विश्वविद्यालयों ने विश्व धर्म को अपने पाठ्यक्रम में रखना प्रारम्भ किया है। अभी हाल ही में गोरखपुर तथा पूर्वांचल विश्वविद्यालयों ने इसे अपने पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है।

प्रस्तुत पुस्तक इन विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को दृष्टि में रखते हुए लिखी गयी है। निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कुछ अन्य धर्मों का भी उल्लेख पुस्तक में होना चाहिए था, परन्तु शीघ्रता में सम्भव नहीं हो सका। पुस्तक के अगले संस्करण में अन्य धर्मों का भी समावेश कर दिया जाएगा। पुस्तक कितनी उपयोगी हो सकी है, इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। यदि पुस्तक में कोई विशेष कमी हो तो मेरा विनम्र अनुरोध है कि सुधी पाठक उस ओर स्पष्ट संकेत करने तथा सुझाव देने की कृपा करेंगे।

पुस्तक की पांडुलिपि को व्यवस्थित करने, भाषा का परिमार्जन करने तथा अनेकानेक सुझाव देने की कृपा डॉ० विभुराम मिश्र ने की है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ। हमारे विभाग के सहयोगियों—प्रो० श्यामबिहारी मिश्र, डॉ० बी० पाण्डेय तथा डॉ० के० एन० त्रिगुणायत की सद्भावना मेरे साथ रही है। लेखन-कार्य में इनसे मुझे प्रोत्साहन मिला है। मैं इन्हें धन्यवाद करता हूँ।

अन्त में प्रकाशक श्री द्वारका प्रसाद अग्रवाल, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद को मैं धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने शीघ्रता से पुस्तक प्रकाशित करने का कार्य किया।

28-3-1990

हृदय नारायण मिश्र
दर्शन विभाग
काशी नरेश राजकीय महाविद्यालय
ज्ञानपुर (वाराणसी)

अनुक्रम

———

1 | भूमिका : धर्म एवं विश्व धर्म

विज्ञान ने वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न की। जीवन के सभी क्षेत्रों में नवीन विचारों के स्फुलिंग विकीर्ण हो उठे। अनुभूतियों और विश्वासों के आसन हिल उठे और उनके स्थान पर विचार हो गये आसीन। धर्म अपनी निराश्रितता या निर्मूलता पर छटपटाने लगा और उसका 'सत्य' विचारों की आँधी में इधर से उधर भटकता रहा।

धर्म के सम्बन्ध में लोगों के ऐसे विचार बन गये हैं कि कितने ही लोग धर्म का जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं समझते। कितने ऐसे हैं जो धर्म के नाम पर नाक, भौंह सिकोड़ते हैं और इसे पिछड़ेपन का सूचक बतलाते हैं। कहते हैं यह पुरानी दुनिया की चीज है। कुछ बुद्धि के निस्तेज और छिछोरे इसका उपहास करना अपने फैशन का एक अंग समझते हैं। ऐसे लोग लक्ष्य-हीन और संशयवादी ही समझे जा सकते हैं। वैज्ञानिक और कुछ विज्ञान से प्रभावित विचारक अपने ही मत को सर्वप्रधान मत मानते हैं और धर्म को घृणा की दृष्टि से देखते हुए भी अपने ही मत को 'धर्म' कहने का दावा करने लगते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों, साम्यवादी विचारकों तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने धर्म को विभिन्न रंगीन शीशों से देखने का निरर्थक प्रयास किया है। जिस प्रकार कई अन्धे मिलकर हाथी को पहचानने का प्रयास करते हैं वैसे ही इन अन्धों का भी प्रयास स्पष्ट है। धर्म के सम्बन्ध में अपनी हठवादिता के आधार पर ही लोगों के विभिन्न विकल्प हैं। कोई शेली के शब्दों में कहता है—धर्म वह घड़ी है जो विशिष्ट दिनों के लिये सूचित करती है। अर्थात् धर्म बहुत दिनों से चली आती हुई परम्परा है, जिसका पालन लोग बिना प्रश्न किये ही करते हैं। कोई धर्म को और कुछ नहीं, एक ढंग मात्र मानता है। बहुत सी संख्या में तो लोग यह मानते हैं कि धर्म का ढोंग करके पूजा, तपस्या और ध्यान की आड़ में जघन्य कार्य करने का अवसर मिल जाता है। कुछ झक्की समूह पीछे दौड़ता है तथा दांत की पीड़ा ठीक करने और बुढ़ाई को यौवन में बदलने या अलभ्य लाभ प्राप्त करने का साधन मानता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे रहस्योद्घाटन करने वाले साधु मिलते हैं जो प्रकृति की रहस्यमयता में विश्वास करके धर्म के कूट-द्वार से होकर सभी प्रकार के आत्माओं, भूतों और प्रेतों की खोज करते हैं।

दूसरी ओर ऐसे लोगों का समूह है जो विश्व में द्रव्य शक्ति और घटना को छोड़ कुछ नहीं देखते, उनको विश्व में विकासवाद का कोरा अट्टहास ही मिलता है।

1 | भूमिका : धर्म एवं विश्व धर्म

विज्ञान ने वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न की। जीवन के सभी क्षेत्रों में नवीन विचारों के स्फुलिंग विकीर्ण हो उठे। अनुभूतियों और विश्वासों के आसन हिल उठे और उनके स्थान पर विचार हो गये आसीन। धर्म अपनी निराश्रितता या निर्मूलता पर छटपटाने लगा और उसका 'सत्य' विचारों की आँधी में इधर से उधर भटकता रहा।

धर्म के सम्बन्ध में लोगों के ऐसे विचार बन गये हैं कि कितने ही लोग धर्म का जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं समझते। कितने ऐसे हैं जो धर्म के नाम पर नाक, भौंह सिकोड़ते हैं और इसे पिछड़ेपन का सूचक बतलाते हैं। कहते हैं यह पुरानी दुनिया की चीज है। कुछ बुद्धि के निस्तेज और छिछोरे इसका उपहास करना अपने फैशन का एक अंग समझते हैं। ऐसे लोग लक्ष्य-हीन और संशयवादी ही समझे जा सकते हैं। वैज्ञानिक और कुछ विज्ञान से प्रभावित विचारक अपने ही मत को सर्वप्रधान मत मानते हैं और धर्म को घृणा की दृष्टि से देखते हुए भी अपने ही मत को 'धर्म' कहने का दावा करने लगते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों, साम्यवादी विचारकों तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने धर्म को विभिन्न रंगीन शीशों से देखने का निरर्थक प्रयास किया है। जिस प्रकार कई अन्धे मिलकर हाथी को पहचानने का प्रयास करते हैं वैसे ही इन अन्धों का भी प्रयास स्पष्ट है। धर्म के सम्बन्ध में अपनी हठवादिता के आधार पर ही लोगों के विभिन्न विकल्प हैं। कोई शेली के शब्दों में कहता है—धर्म वह घड़ी है जो विशिष्ट दिनों के लिये सूचित करती है। अर्थात् धर्म बहुत दिनों से चली आती हुई परम्परा है, जिसका पालन लोग बिना प्रश्न किये ही करते हैं। कोई धर्म को और कुछ नहीं, एक ढंग मात्र मानता है। बहुत सी संख्या में तो लोग यह मानते हैं कि धर्म का ढोंग करके पूजा, तपस्या और ध्यान की आड़ में जघन्य कार्य करने का अवसर मिल जाता है। कुछ झक्की समूह पीछे दौड़ता है तथा दांत की पीड़ा ठीक करने और बुढ़ाई को यौवन में बदलने या अलभ्य लाभ प्राप्त करने का साधन मानता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे रहस्योद्घाटन करने वाले साधु मिलते हैं जो प्रकृति की रहस्यमयता में विश्वास करके धर्म के कूट-द्वार से होकर सभी प्रकार के आत्माओं, भूतों और प्रेतों की खोज करते हैं।

दूसरी ओर ऐसे लोगों का समूह है जो विश्व में द्रव्य शक्ति और घटना को छोड़ कुछ नहीं देखते, उनको विश्व में विकासवाद का कोरा अट्टहास ही मिलता है।

उनकी दृष्टि में विश्व का कोई और उद्देश्य नहीं है। इसके पीछे न तो कोई चातुर्य या आकृति है और न कोई इसका सृजनकर्ता ही है। यह संसार घटना मात्र है।

एक पक्ष और है। नवपाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की धर्म के विषय में अद्‌भुत धारणाएँ हैं। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि मनुष्य पुर्जों और हिस्सों को जोड़कर तैयार की गई एक मशीन है, जो दौड़ने के लिये तैयार है। पुराने परम्परागत मनोविज्ञान में वर्णित आत्मा और चेतना की धारणा व्यवहारवाद को स्वीकार्य नहीं। उनका कहना है कि मनुष्य उद्दीपनों और प्रतिवेदनों के बीच की एक कड़ी है। मन एक शरीर है और मनुष्य एक यन्त्र है। मनुष्य की गतिविधि रहस्यमय है, आत्मा स्वतन्त्र है, ये कथन कल्पनामात्र हैं। अगर हम उतारू हो जायँ तो ग्रन्थियों से देवता का भी निर्माण कर सकते हैं। यह है व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों की आतमा, जीवन और मनुष्य के विषय में धारणा। धर्म की तो बात ही क्या !

मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिकों की धर्म के प्रति और भी विचित्र धारणाएँ हैं। उनका मत है कि धार्मिक विश्वास और सिद्धान्त प्रक्षेपता और परावर्तन आदि मानसिक यन्त्रों द्वारा उत्पादित सन्तोष प्रदान करने के साधन हैं। उनका सम्बन्ध किसी वास्तविक सत्ता से नहीं है। ईश्वर तो केवल अचेतन मन का कार्य है। धर्म और कुछ नहीं लैंगिक आनन्द का दूसरा नाम है। उनका 'लिविडो' का सिद्धान्त ही धर्म की व्याख्या करता है। उनकी दृष्टि में धार्मिक या रहस्यवादी अनुभव विकृत व्यक्तियों की विकृत अभीप्साओं के प्रक्षेपण हैं।

मनोविज्ञान और विज्ञान के विकासवादी चमत्कारों द्वारा साम्यवादी विचारों को मानवतावादी दृष्टिकोण की आड़ में प्रश्रय मिला और उन्होंने धर्म की हास्यास्पद चुटकी लेना प्रारम्भ किया। उनके ये कथन और धारणाएँ अच्छी तरह प्रचलित हैं कि 'धर्मपीड़ित प्राणी की सिसकी है, एक हृदयहीन संसार का हृदय है और नितान्त आत्महीन दशाओं की आत्मा है। यह गरीबों की अफीम है। परमात्मा की धारणा ही विकृत सभ्यता की केन्द्र-शिला है। मार्क्स कहता है 'धर्म का, जो एक भ्रामक काल्पनिक आनन्द देता है, दमन करना वास्तविक आनन्द के दावे की स्थापना करना है।' एन्जिल्स कहता है कि 'धर्म का पहला शब्द ही झूठ होता है।' लेनिन ने लिखा है कि 'धर्म आत्मिक अत्याचार का ही एक पहलू है।'

यही नहीं धर्म के और भी कई विकल्प हैं। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' में व्यक्त किया है कि 'जिन लोगों के मन धार्मिक सन्देहों से आक्रान्त हैं वे वर्तमान अनिश्चय और व्यामोह की स्थिति में से निकलने के लिये अनेक उपाय निकाल रहे हैं। नेताओं से कोई निश्चित दिशा न मिलने के कारण वे बड़े भद्दे और आश्चर्यजनक मतों का अवलम्बन कर रहे हैं। वे

थियोसोफी, एन्थोयोसफी, क्रिश्चियन साइंस, न्यू थाट या इसी प्रकार की मानवीय मन की नई कसरतों में ऐसा विकल्प ढूँढ रहे हैं, जो धर्म का स्थान ले सके।' उदाहरण के लिये उन्होंने प्रकृतिवाद, नास्तिकवाद, अज्ञेयवाद, सन्देहवाद, मानवीयवाद कलावाद और आप्त प्रमाणवाद आदि मतों की चर्चा की है। और अन्त में उन्होंने कहा है कि एक विभिन्न प्रकार के समंजन के प्रयास अपने उद्देश्य में सफलीभूति नहीं हुए हैं। धर्म के नपे-तुले, बँधे-बँधाये आकारों के सम्बन्ध में गहरे असन्तोष के बावजूद लोग उसके प्रति अधिकाधिक गम्भीर होते जा रहे हैं। धर्म के बँधे-बँधाये आकार विलीन हो रहे हैं, किन्तु उनकी आवश्यकताएँ अभी तक कायम हैं। करोड़ों व्यक्ति, जिनमें न तो धर्म को अपनाने का साहस है और न उसे अस्वीकार करने का, पथ-निर्देश के लिये इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे हैं। प्रकृतिवाद, नास्तिकवाद, अज्ञेयवाद, सन्देहवाद, मानवीयवाद और आप्त प्रमाणवाद की दार्शनिक पद्धतियाँ स्पष्ट और सरल हैं किन्तु उनसे यह प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने मानवीय आत्मा की नैसर्गिक गहराई को अनुभव किया हो।[1]

कुछ संकीर्ण विचार-धाराएँ भी धर्म के अन्दर घुसी हुई हैं जिनसे प्रच्छन्न है धर्म का आकार और स्वरूप। कभी-कभी इन संकीर्ण विचारधाराओं को ही धर्म समझा जाने लगता है। इस दशा में कहने वाले मिल जाते हैं कि धर्म नैतिक नियमों का पालन मात्र है। यही नहीं समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा, मानव-सेवा आदि कार्य भी धर्म ही समझे जाते हैं और धर्म के नाम पर कितनी मिशनरीज स्थापित की गई हैं। धर्स-सेवा संघ की स्थापना हुई है। क्या धर्म, मन्दिर, मस्जिद और गिरिजाघर हैं? क्या बलि, पूजा, मत-प्रचार धर्म नहीं हैं? ऐसे भी प्रश्न धर्म के विषय में उठते हैं।

उपरोक्त सभी विचार और वितर्क आज धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न बनकर खड़े हैं। हमें यह ढूँढना है कि धर्म क्या है? सभी उपरोक्त विचार धर्म के सम्बन्ध में कहाँ तक समीचीन हैं? और हमें धर्म का कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है? इसके निर्णय पर पहुँचना है। इसके लिये आवश्यक है कि हम धर्म के शाब्दिक अर्थ पर विचार कर लें और यह देखें कि किस-किस रूप में धर्म को ग्रहण किया गया है।

हम जिसे धर्म कहते हैं अंग्रेजी में उसे 'रिलीजन' कहते हैं। हमारी भाषा में 'रिलीजन' का कोई ठीक पर्याय नहीं है।[2] शब्द-कोष में अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' के कई अर्थ प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये किसी जाति, मत, पंथ या सम्प्रदाय के रीति अथवा आचार कर्म को रिलीजन के अर्थ में लिया जाता है। नियम, प्रयोग (व्यवहार), रीति-रिवाज, अधिनियम, धार्मिक या नैतिक गुण, पवित्रता,

---

1. डॉ० राधाकृष्ण—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ 78-79।
2. डॉ० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, प्रकाशन ब्यूरो, उ० प्र० सन् 1957, पृष्ठ 318।

अच्छे कार्य, कर्तव्य, व्यवहार के लिये निर्धारित क्रिया-विधि—(षष्ठांश वृत्तरेपिधर्म एष: स० 5, 4; म० स० 1 114) सत्य, न्याय, अपक्षपात, समदर्शिता, ईश्वर-भक्ति, पुण्यात्मा होने का गुण, मर्यादा या शिष्टाचार, नैतिकता, नीतिशास्त्र, स्वभाव, चरित्र, आवश्यक गुण, विशेषता, लक्षण, उपाधि-विशेषण, ढंग और भक्ति आदि को भी 'रिलीजन' का शाब्दिक अर्थ बताया गया है।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म के इन विभिन्न अर्थों को विभिन्न रूपों में लिया गया है। इसीलिये कोई धर्म को आचार नीति तक ही सीमित करता है. कोई परम्परा या रीति-रिवाज या कर्म-काण्ड की निर्धारित क्रिया-विधि तक ही धर्म को मानता है ; या कुछ लोग व्यक्तिगत जीवन के चरित्र और व्ययहार से सम्बन्धित गुणों को ही मानवतावादी दृष्टिकोण से सर्वोपरि धर्म मानते हैं। स्पष्ट है कि आध्यात्मिक अर्थ में जिसे हम धर्म कहते हैं उसका इन मान्यताओं से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। नृतत्व-विज्ञान के मर्मज्ञ विकासवादी दृष्टिकोण से जो धर्म की रूप-रेखा खींचते हैं, उससे भी हमारा अर्थ नहीं है। हाँ आध्यात्मिक अर्थ में धर्म का अर्थ जो ईश्वर-भक्ति से लिया गया है, वही हमें अभिप्रेत हो सकता है। चरम सत्ता या जीवन में सन्निहित सत्ता के सान्निध्य को ही धर्म का वास्तविक रूप दिया जा सकता है। इतना अवश्य है कि यदि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इन सभी अर्थों को लिया जाय—साधन के रूप में, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। जब हम मुख्य तत्व को छोड़कर सहायक तत्वों को ही मुख्य मानने लगते हैं तो पथ से हट जाते हैं। इस दशा में अशुद्ध निर्णय और मान्यताओं पर हमारा पहुँच जाना स्वाभाविक है। धर्म के वास्तविक अर्थ में तो व्यक्ति भगवान्, पुरुषोत्तम, महाशक्ति के सन्निकट होता है। जिसको स्वामी रामानन्द जी ने प्रार्थना न कहकर 'आन्तर योग' कहा है। प्रार्थना या आन्तर योग से व्यक्ति महाशक्ति में लीन हो जाता है। "अन्तस्तल की नीरव नितान्त एकान्त गुहा में आत्मा का, साधक का—अपने प्रियतम प्रभु से—कृपामयी जगज्जननी महाशक्ति से—माँ से—गाढ़ सम्मिलन है आन्तर योग (Inner Communion)" और सत्ता का यही सानिध्य ही है धर्म।[2]

धर्म के इस स्वरूप को न ग्रहण कर पाने से ही हम धर्म के विभिन्न विकल्पों में पड़ते हैं। इसी से धर्म का वास्तविक अर्थ आछन्न हो गया। किंचित इसी दृष्टि-कोण से योगिराज श्री अरविन्द ने कहा है कि 'भारतीय धारणा के हिसाब से धर्म केवल शुभ, उचित, सदाचार, न्याय और आचार-नीति ही नहीं है, बल्कि अन्य प्राणियों के साथ, प्रकृति और ईश्वर के साथ मनुष्यों के जितने भी सम्बन्ध हैं, उन

---

1. वर्मन शिवराम आप्टे—द स्टूडेन्ट्स संस्कृत, इंगलिश डिक्शनरी, पृष्ठ 268।
2. स्वामी रामानन्द—आध्यात्मिक साधन, खंड 2—सन् 1949, पृष्ठ 1। प्रकाशक त्रिलोकचन्द विश्नोई, बरेली।

सबका सम्पूर्ण नियमन है और यह नियामक तत्व ही वह दिव्य-धर्म-तत्व है जो जगत के सब रूपों और कर्मों के द्वारा आन्तर और वाह्य जीवन के विविध आकारों के द्वारा तथा जगत में जितने प्रकार के भी परस्पर सम्बन्ध हैं उनकी व्याख्या के द्वारा अपने आपको सिद्ध करता रहता है।'[1]

श्री तिलक ने 'गीता रहस्य' में तीन प्रकार से धर्म की व्याख्या दी है—पारलौकिक, व्यावहारिक या नीति धर्म और तीसरी मीमांसकों की व्याख्या। यहाँ पारलौकिक धर्म को उन्होंने आध्यामिक दृष्टि से ही लिया है। यह तो धर्म शब्द का एक पहलू है, दूसरे रूप में धर्म को व्यावहारिक या समाज धर्म या नीति धर्म के रूप में भी लिया गया है। इस प्रकार इसका अर्थ व्यापक है। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो, तो पारलौकिक धर्म को 'मोक्षधर्म' अथवा सिर्फ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति धर्म को 'धर्म' मात्र ही कहा करते हैं। उदाहरण के लिए चतुर्विद्य पुरुषों की गणना करते समय हम लोग 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' कहा करते हैं। इसके पहले शब्द 'धर्म' में ही यदि 'मोक्ष' का समावेश हो जाता तो अन्त में मोक्ष को पृथक् पुरुषार्थ बतलाने की आवश्यकता न होती। अर्थात् यह कहना पड़ता है कि 'धर्म' पद से इस स्थान पर संसार के सैकड़ों नीतिधर्म ही शास्त्रकारों को अभिप्रेत हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मोक्षधर्म' ही हमारे लिए अभीष्ट प्रतीत होता है परन्तु सर्वांश रूप में वह भी नहीं क्योंकि प्रश्न उठता है कि 'धर्म' धर्म के लिए या मोक्ष के लिए। मोक्ष के लिए स्वामी रामानन्द महाराज जी का वह अन्तर योग वह सतत् महत् से सम्बन्ध नहीं प्रकट होता। एक वाह्य लक्ष्य सीमित कर देता है। कर्ता-कर्म का द्वैत उत्पन्न कर देता है। भक्त की मात्र यह कामना नहीं होती। फिर भी धर्म के अन्य विभिन्न अर्थों से यह अधिक समीचीन है। क्योंकि इसका अध्यात्म से सन्निकट सम्बन्ध है। धर्म शब्द के अन्य अर्थों का, हो सकता है कि कुछ सहाय्य सम्भव हो परन्तु, हमारे लक्ष्य के रूप में वे सिद्ध नहीं। महाभारत में जिस स्थान पर पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थान पर अर्थात् शान्ति पर्व के उत्तरार्ध में 'मोक्ष धर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गयी है।[1] अन्य लेखकों ने भी[2] धर्म के विभिन्न प्रपंचों में न पड़कर उसके वास्तविक अर्थ को 'मोक्ष धर्म' के ही रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि जो जीवन मोक्ष अथवा पूर्णत्व की खोज करता

---

1. श्री अरविन्द, गीता प्रवन्ध—प्रथम भाग—श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी, सन् 1954, पृष्ठ 308।
2. श्री बालगंगाधर तिलक—गीता रहस्य, जयंत श्रीधर तिलक, 568, नारायण सेठ, लोकमान्य तिलक मन्दिर (गायकवाड वाडा) पूना 2, सन् 1962, पृष्ठ 65-66, 69-507।
3. डॉ० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ 318।

है, वह कर्तव्य पालन रूप नैतिकता से उदासीन भी हो सकता है। इसीलिए आध्यात्मिक जीवन के इस पहलू को 'मोक्ष धर्म' कह सकते हैं। हमारी भाषा में आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग प्रायः मोक्षान्वेषी जीवन के लिए होता है।[1] यद्यपि 'मोक्ष' शब्द विवादास्पद अवश्य है, जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, परन्तु यहाँ इसका अर्थ पूर्णत्व प्राप्त करने या चरम सत्ता से सान्निध्य प्राप्त करने से ही है। इसमें कोई आपत्ति नहीं।

योगिराज अरविन्द ने भी धर्म की व्याख्या तीन रूपों में दी है। प्राथमिक रूप में धर्म (धर्म शब्द 'धृ' से बनता है जिसका अर्थ है धारण करना) शब्द का अर्थ हमारी प्रकृति का वह मूल विधान है जो गुप्त रूप से हमारे सब कार्यों को नियत करता है और इसलिए इस दृष्टि से प्रत्येक जीव वर्ण, प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति और समूह का अपना अपना एक विशिष्ट धर्म होता है।[2] श्री अरविन्द जी ने धर्म के प्राथमिक अर्थ को प्राचीन और वास्तविक तथा मौलिक रूप में ही लिया है। इसी से मिलते-जुलते विचार संत साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी के भी हैं। उनका कहना है कि 'धर्म' शब्द को यदि उसके प्राचीन मौलिक अर्थ में लिया जाय तो यह किसी वस्तु या व्यक्ति की उस प्रकृति या स्वभाव को सूचित करता है जो उसमें तत्वतः निहित हैं, अर्थात् जिसका अस्तित्व बने रहने के ही कारण उस वस्तु या व्यक्ति को कोई वैसी संज्ञा विशेष प्रदान की जाती है। उसका धर्म उसे इसी कारण धारण करता है। जहाँ तक पता चलता है धर्म शब्द का ऐसा प्रयोग सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' के उस मन्त्र में किया गया था जिसमें विष्णु के तीन पदों को काम में लाना और इस प्रकार सभी धर्मों को यथावत् बनाये रखना कहा गया है। (त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन् 1-22-18) इस दृष्टि से जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना है; जल का शीतल होना तथा सूर्य का प्रकाश फैलाना है; उसी प्रकार कोई धर्म विशेष मनुष्य का भी हो सकता है। उस धर्म विशेष के ही कारण मनुष्य; मनुष्य है और इसके अभाव में वह निरा पशुवत प्राणी मात्र कहला सकता है।[3] अतएव जब हम किसी धर्म विशेष का नाम लेते हैं, तो साधारणतः वहाँ पर भी यही समझा जाता है कि उसके द्वारा किन्हीं ऐसे आदर्शों की प्रतिष्ठा की गयी होगी जो मनुष्य के उक्त मौलिक या प्राकृतिक धर्म की सुसंगति में लाये जा सकते हैं तथा इसी कारण, उनका अनुसरण करना इसके लिए परम कर्तव्य हो जाता है और उसका पालन करने के लिए उसे दृढ़ प्रतिज्ञ भी बनना पड़ता है। यदि हम सारे प्रमुख धर्मों में सामान्यतः पायी जाने वाली बातों

---

1. डा० देवराज—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृष्ठ 318।
2. श्री अरविन्द—गीता प्रबन्ध—प्रथम भाग, पृष्ठ 308।
3. इसीलिए महाभारत में कहा गया है—आहार, निद्रा, भय मयथुनं च—।
   धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना। (284-29)

का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह पता चल सकता है कि उनमें कोई तात्विक भेद नहीं है, प्रत्युत वे मूलतः एक समान हैं तथा वे किसी न किसी प्रकार, उन विशेषताओं को प्रकट करती हैं जिन्हें 'मनुष्य' के मौलिक धर्म का नाम दिया जा सकता है। अतएव किसी व्यक्ति का साधारण धर्म उसे ऐसे आदर्शों की सहायता से वस्तुतः उसके उस धर्म विशेष की ओर भी इंगित करता कहा जा सकता है जिसके कारण वह अपने को मनुष्य के रूप में मान सकता है तथा जिसको ध्यान में रखकर चलने पर ही उसके जीवन का सफल होना भी कहा जा सकता है।[1]

चतुर्वेदी जी इस प्रकार निष्कर्ष निकालते हुये 'धर्म' को किसी 'जीवन-दर्शन' का पर्याय मानते हैं और इसी को धर्म का मौलिक तथा वास्तविक स्वरूप प्रदान करते हैं। यह जीवन-दर्शन मनुष्य के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों को परिवेष्ठित करता है। इसी आदर्श को मानना ही जीवन की सार्थकता है। धर्म के इस मूलतत्व को न समझने के कारण लोगों ने धर्म के अन्य विकल्पों को जो प्रश्रय दिया है वह भ्रमात्मक है। धर्म को वाह्य विधान का रूप देना और उसी का अन्धानुसरण करना धर्म का दुरुपयोग है। कदाचित् धर्म के इसी दुरुपयोग के कारण आधुनिक पण्डितों ने धर्म को ही सभी अनर्थों की जड़ तक मान लिया है। धर्म के प्रति इस अन्याय की धारणा उसको मौलिक तथा तात्विक रूप में न समझने के कारण ही है। या यों कहें कि कोरा भ्रम है।

श्री अरविन्द ने धर्म की दूसरी धारणा अन्तःक्रियाओं के विधान के रूप में प्रदान की है। उनका कहना है कि 'हमारे अन्दर जो भागवत प्रकृति है उसे भी तो हमारे अन्दर विकसित और व्यक्त होना है, और इस दृष्टि से धर्म अन्तः क्रियाओं का वह विधान है जिसके द्वारा भागवत प्रकृति हमारी सत्ता के अन्दर विकसित होती है।'[2]

यह है व्यक्ति का वह जीवन-दर्शन जो उसे अपने अन्तरतम में स्थित सत्ता से सान्निध्य प्राप्त करने, उसको अपने में व्यक्त करने में चरितार्थ होता है, यही है धर्म। ज्यों-ज्यों भागवत प्रकृति हमारी सत्ता के अन्दर विकसित होती जाती है त्यों-त्यों हम उसके निकट आते हैं, पूर्णता को प्राप्त होते जाते हैं; और धर्म को मुखर करते जाते हैं। यह है अन्तः का स्फुरण और वाह्य का अन्तःसन्निवेष। इस धर्म में विद्वेष नहीं, अत्याचार नहीं, आलोचना और विकर्षण नहीं। कोई इसे व्यक्तिगत धर्म कह सकता है परन्तु वास्तविक धर्म यही है। यहाँ 'व्यक्तिगत' शब्द जोड़ देने पर कुछ लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि ऐसा धर्म व्यष्टिवादी ही होकर रह जाता है, स्वार्थ की गन्ध है परन्तु ऐसी बात नहीं है। यह है समष्टि का व्यष्टिगत

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—रहस्यवाद, पृष्ठ 27।
2. श्री अरविन्द—गीता प्रबन्ध, पृ० 308-309।

सन्निवेश। बुद्ध, ईसा तथा श्री रामकृष्ण परमहंस का उदाहरण द्रष्टव्य है।[1] जब हम सांस्थिक धर्म पर दृष्टि डालते हैं तो इसके ठीक विपरीत पाते हैं। सांस्थिक धर्म तो वाह्य आचार-नीति, समाज-धर्म का रूप है। समाज का पोषक हो सकता है परन्तु पूर्णता का द्योतक नहीं।

'धर्म व्यष्टि और समष्टि का एकमात्र समन्वय है' इस दृष्टिकोण से यदि हम विचार करें तो श्री अरविन्द जी ने धर्म की एक तीसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है जो वाह्य आचार-धर्म के समान ही दृष्टिगत जान पड़ता है, परन्तु उसका लक्ष्य भी 'मोक्ष धर्म' या 'जीवन-दर्शन' की स्थिति में ही है। उनका कहना है कि 'धर्म वह विधान है जिससे हम अपने वहिर्मुखी विचार, कर्म और पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करते हैं ताकि भागवत् आदर्श की ओर उन्नत होने में हमारी और मानव जाति की अधिक से अधिक सहायता हो।' इस परिभाषा के अनुसार व्यष्टि और समष्टि का समापन भागवत सत्ता में है, भागवद् सत्ता आदर्श की प्राप्ति में ही है। यह क्रिया तभी संभव है जब व्यष्टि अपने सभी बाह्य क्रियाओं और व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हुये एक महत्तर चेतना की ओर मुड़ता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति ऐसे जीवन-दर्शन की प्रस्थापना करता है जिससे उसका जीवन ससीम से असीम की ओर, मरण से जीवन की ओर और आत्मवाद से सर्वात्मवाद की ओर अग्रसरित होता जाता है। दूसरी परिभाषा के अनुसार श्री अरविन्द जी ने जो धर्म का एकान्तिक अर्थ लिया था अर्थात् बाह्य का आन्तरीकरण किया था, अन्तःक्रियाओं का विधान माना था, वह इस तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार बाह्यान्तर का सामंजस्य ज्ञात होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्म को मानवतावादी पर्याय के रूप में ही ग्रहण करें। व्यक्ति ऐसे जीवन-दर्शन या धर्म से अपने साथ समष्टि को लेता चलता है भागवत् आदर्श की ओर। बस यही। कोई यह नहीं कह सकता कि मानवतावाद ही उसका लक्ष्य है। वही साध्य है। मानवीयवाद, ऊपर से देखने पर धर्म के ही रूप में लगता है और लोगों की मान्यता किंचित् इसी प्रकार की सी है और ऐसे लोग धर्म के स्थान पर मानवीयवाद को ही मानते हैं। मानवीयवाद की मान्यता है कि 'यह संसार ही हमारी मुख्य दिलचस्पी का विषय है और मानवीयता की पूर्णता हमारा एक आदर्श है,' ज़बकि धर्म की मान्यताएँ नहीं हैं। 'जब जीवन की बुनियादें हिलने लगती हैं, जब जीवन के अन्तिम प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं और हमसे जवाब मांगते हैं, तब अकेले मानवीयवाद से काम नहीं चलता। जीवन एक महान देन है और हमें उसे महान उच्च स्थिति में लाना है। अकेला मानवीयवाद उसे इसके लिये

---

1. स्वामी अखिलानन्द—हिन्दू व्यू ऑफ क्राइस्ट, फिलासफिकल लाइब्रेरी न्यूयार्क, 1948, पृ० 22।

प्रेरणा नहीं दे सकता।' मानवीयवाद का सम्पूर्ण बल समाज सुधार पर आधारित है किन्तु हम यह नहीं भूल सकते कि तत्वतः आध्यात्मिक मुक्ति का नाम धर्म है, सामाजिक सुधार का नहीं।' पवित्रता तथा साधुत्व का अर्थ परोक्ष रूप में भले ही सेवा और बन्धुत्व हो किन्तु वे उसका प्रत्यक्ष और सीधा अर्थ नहीं हो सकते।'[1]

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि धर्म का स्थान अन्य मत-मतान्तर नहीं ले सकते। धर्म का तत्व एक ही होता है, उसमें परिवर्तन की सम्भावना नहीं। हो सकता है कि समय और देश के अनुसार उसका नामकरण विभिन्न धर्मों के रूप में हो जाये, उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्न आदि। इन सभी रूपों में परिवर्तन होता दीख पड़ सकता है परन्तु इसके तत्व एक ही हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में धर्म को साधारणतया सनातन और अपरिवर्तनीय कहा जाता है, और इसका मूलतत्व और आदर्श है भी ऐसा ही; पर इसके रूप निरन्तर बदला करते हैं उनका विकास होता रहता है।[2] इसके लिये श्री अरविन्द जी ने अवतारों को भी स्थान दिया है, जिनसे धर्म का निर्धारण होता है। 'अवतार एक धर्म बतलाते हैं, आत्म अनुशासन का एक धर्म बतलाते हैं, जिससे कि मनुष्य निम्नतर जीवन से निकलकर उच्चतर जीवन में संवर्धित हों।' धर्म को जो विभिन्न रूपों और नामों या संघ के रूप में पाते हैं वह अवतारों के कार्य प्रतिपादन और विधान के कारण ही हैं, तत्वतः उनमें कोई अन्तर नहीं होता। धर्म में सदा ही, कर्म के विषय में तथा दूसरे-दूसरे मनुष्यों और प्राणियों के साथ साधक का क्या सम्बन्ध होना चाहिये इस विषय में एक विधान भी रहता है, जैसे कि अष्टाङ्ग मार्ग अथवा श्रद्धा-प्रेम और पवित्रता का धर्म अथवा इसी प्रकार का और कोई धर्म जो अवतार के भागवत स्वरूप में प्रकट हुआ हो। इसके बाद चूंकि मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति के सामूहिक और वैयक्तिक दो पहलू होते हैं, चूंकि जो लोग एक ही मार्ग का अनुसरण करते हैं उनमें स्वभावतः एक आध्यात्मिक साहचर्य और एकता स्थापित हो जाती है; इसलिये अवतार एक संघ की स्थापना करते हैं। संघ अर्थात उन लोगों का सख्य और एकत्व जो अवतार के व्यक्तित्व और शिक्षा के कारण एक सूत्र में बँध जाते हैं।[3]

अभी हमने देखा कि धर्म की अभिव्यक्ति में विभिन्नताएँ होती हैं, और इसी को देखकर कुछ धर्म को बाह्य रूप से समझने वाले पंडितों ने इसका विकास भी माना है। वे धर्म की उत्पत्ति आदिम मानव के साथ ही साथ मानते हैं। उनका कहना है कि धर्म का स्वरूप सर्वप्रथम वनखंडों, प्रस्तरों, बादलों, विभिन्न देवी-

---

1. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० 55-68।
2. श्री अरविन्द—गीता प्रबन्ध, पृ० 310-311।
3. वही पृ० 310-311।

देवताओं और पशु तथा नर बलि तक ही सीमित था, परन्तु आज विकसित होकर सर्वेश्वरवाद तक पहुँच गया है, मानवतावाद के अधिक निकट है। परन्तु यह मत हमें समीचीन नहीं जान पड़ता। धर्म एक धारणा (Conception) नहीं है। धर्म एक अस्तित्व (Existence) है। मानव का अस्तित्व धर्म का अस्तित्व है। अस्तित्व की न उत्पत्ति होती है और न विकास। अस्तित्व का दूसरा अर्थ है 'पूर्ण'। फिर पूर्ण की उत्पत्ति और विकास कहाँ। तो धर्म को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने वाले पंडितों ने विकास की एक धारणा बनाकर एक भूल की है। विकास मानव व्यवहार का हो सकता है। उसके अन्दर अनुस्यूत तथा आच्छन्न उस महत् तत्व का नहीं। मानव जिस रूप में उसे प्रकट करेगा वही अभिव्यक्ति की विभिन्नता होगी। स्वामी रामानन्द जी महाराज ने ठीक ही लिखा है—"पुरुषोत्तम अणु-अणु में निहित हैं। वह प्रकट होने के लिए सचेष्ट हैं। परन्तु इस अभिव्यक्ति के साधन प्रकृति में हैं। अत: प्रकृति में परिवर्तन आवश्यक है। महाशक्ति की शक्ति का प्रवाह सतत प्रेरित रहता है निहित चेतना पर। निहित पुरुषोत्तम का जगजाना तो आवश्यक ही है। महाशक्ति का आकर्षण तो सतत बना हुआ है, परन्तु वह जगना तो धीरे-धीरे होता है।"[1] धर्म का विकास नहीं। धर्म तो सनातन है। उसके ऐतिहासिक रूप को देखने पर वह जादू, टोना, नीम हकीमी और अन्धविश्वास लगता है, परन्तु इससे धर्म का अस्तित्व और महत्व समाप्त नहीं हो जाता। जहाँ तक विभिन्नता की बात है उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि 'जो लोग एक ही धर्म को मानते हैं, उनमें भी विविधताएँ, भिन्नताएँ पाई जाती हैं। किन्तु चाहे हम हिन्दू ऋषियों को लें, बौद्ध उपदेशकों को लें या यूनानी विचारकों को लें या फिर ईसाई रहस्यवादियों और सूफियों को लें, इनमें पाई जाने वाली समानता आश्चर्यजनक है।'[2] सभी धर्म एक ही सत्य, तत्व और निष्ठा के पोषक हैं। धर्म का मुख्य तत्व उन धर्म सिद्धान्तों, उन धार्मिक मतभेदों, विधियों और उत्सवों तथा संस्कारों में नहीं है, जिसको देखकर लोगों ने धर्म से विरक्ति पैदा की और धर्म की विभिन्न आलोचनायें और धारणायें पैदा कीं। धर्म न तो वैज्ञानिकों की दृष्टि में है कपोल कल्पना, न तो मनोवैज्ञानिकों की 'ओडिपस काम्पलेक्स' की परिणति या 'आत्म सुझाव' या लैंगिकता का एक प्ररूप ही।[3] अथवा उन्हीं मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह भय या अचेतन का प्रतिफल ही है और न तो आधुनिक मानवतावादी विचारों के ढिढोरा पीटने वाले साम्यवादियों और बुद्धिवादियों के अनुसार 'गरीबों की अफीम' ही है।[4] वास्तव में धर्म का मुख्य

---

1. साधना—सम्पादक, प्रो० रूपनारायन टण्डन, मेरठ; वर्ष 19, अङ्क 3, मई 1966, पृष्ठ 20।
2. डॉ० राधाकृष्णन, सत्य की खोज, पृष्ठ 130।
3. डॉ० राधाकृष्णन—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ 223–226।
4. के० एस० राम स्वामी शास्त्री—दी एवोल्यूशन आफ इण्डियन मिस्टिसिज्म, पृष्ठ 78।

तत्व 'युगों की गम्भीरतम बुद्धिमत्ता में, अनवरत तत्वज्ञान में, सनातन धर्म में है। विभिन्न धर्म सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते अपितु सत्य के उन विभिन्न पक्षों और धारणाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें कि लोग विश्वास करते हैं। वे उस एक ही सत्य की विविध ऐतिहासिक अभिव्यक्तियाँ हैं, जो अपनी प्रामाणिकता की दृष्टि से सार्वभौम और सार्वलौकिक हैं।[1]

हमने इस ओर पहले भी संकेत किया था कि धर्म के दो रूप मिलते हैं—सांस्थिक और वैयक्तिक। यह विस्तृत रूप में विचारणीय है। इन दोनों में धर्म का कौन-सा रूप हो सकता है ? वास्तव में दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। यद्यपि संस्थाओं को लेकर धर्म में बड़े वितण्डावाद खड़े हुए, लोग उसी को धर्म समझने लगे। परन्तु संस्था धर्म नहीं है। संस्था धर्म के लिए हो सकती है, धर्म संस्था के लिए नहीं। मूर्ति पूजा, मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर धर्म की साधना के लिए प्रतीक के रूप में सहायक हैं, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे भ्रष्टाचार के आधार बन जायें। धर्म तो व्यक्ति के हृदय, अन्तःकरण और अनुभूति के ही निकट है, फिर भी ससीम से असीम की ओर बढ़ने के लिए कुछ प्रतीकों का, कार्य विधानों का, जैसा कि श्री अरविन्द ने बतलाया है, आश्रय लेना पड़ता है। फिर तो ससीम ही असीम बन जाता है। व्यक्ति ही पूर्णत्व को प्राप्त करता है संस्थाएँ नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है कि हमें मन्दिर में जन्म लेना चाहिए परन्तु उसी में मर नहीं जाना चाहिए। सच कहा जाये तो प्रतीकवाद असीम का ससीम में दर्शन है। प्रतीक कोई अपने स्वभाव से ही असीम को ससीम का विषय नहीं बना देते। वे ससीम को पारदर्शक बना देते हैं जिससे हम उसके बीच में से असीम को देख सकें।[2] चाहे जो हो धर्म की एक ही संज्ञा है। संस्थाएँ साधन का कार्य कर सकती हैं। वे धर्म नहीं हैं। धर्म का वाहक व्यक्ति होता है। उसी का जीवन धर्ममय होता है। धार्मिक अनुभूतियाँ व्यक्ति को होती हैं, मन्दिर या गिरजाघर को नहीं। व्यक्तिगत पहलू ही धर्म के अन्य पहलुओं का स्रोत है। अतः धर्म जेम्स के अनुसार सम्पूर्ण के रूप में जीवन पर मनुष्य की की गई प्रतिक्रिया है।[3] यह प्रतिक्रिया मनुष्य की आकस्मिक प्रतिक्रियाओं से भिन्न है। हम आकस्मिक प्रतिक्रियाओं को जीवन में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते हैं। हम भूख, प्यास, काम; सम्मान प्राप्ति आदि के लिए विभिन्न क्रियायें करते हैं। इन क्रियाओं से मानव जीवन की विशिष्ट आवश्यकताओं की ही पूर्ति होती है। परन्तु धर्म की प्रतिक्रिया मानव की सम्पूर्ण के रूप में प्रतिक्रिया है। इसमें मानव की सभी इच्छाएँ, वासनाएँ, अनुभूति अर्थात् इच्छा, ज्ञान, क्रिया किसी एक महत् चेतना की ओर उद्बुद्ध हो उठती हैं।

---

1. डॉ० राधाकृष्णन—धर्म और समाज, पृष्ठ 45-46।
2. वही, पृष्ठ 139।
3. विलियम जेम्स—वैरायटीस ऑफ रीलिजस एक्सपीरियन्स, पृष्ठ 35।

उसकी सभी क्रियायें सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् में समाहित हो जाती हैं। जीवन में एक पूर्ण समंजन होता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं को गम्भीर स्वरूप में किसी महत् के प्रति समर्पित कर देता है, जिससे उसको सबलता प्राप्त होती है। उसमें दुःख नहीं, आनन्द भय नहीं, साहस का संचार होता है। वह महत् के समक्ष सब कुछ अर्पित कर निर्भय और निर्मल बन जाता है और कह उठता है—'मैं' 'तू' ही हूँ। यहाँ जेम्स का दृष्टिकोण चाहे व्यावहारिक ही क्यों न रहा हो, यदि वह हमारे लक्ष्य सिद्धि का समर्थक प्रतीत होता है तो हमें स्वीकार करने में आपत्ति नहीं। उसने धर्म को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—धर्म का अर्थ मानव के वैयक्तिक और उसके एकान्तिक जीवन के भावनाओं, क्रियाओं और अनुभूतियों से है, जिससे कि वह अपने को किसी दैवी सत्ता से सम्पर्क मानता हुआ समझता है। जेम्स ने इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न भी उठाया है कि यदि परिभाषा को संकीर्ण दृष्टि से देखने का प्रयास किया जायेगा तो अवश्य ही यह प्रश्न किया जा सकता है कि बहुत से ऐसे धर्म भी हैं जो ईश्वर में विश्वास नहीं रखते परन्तु संसार उनको धार्मिक कहता है। यहाँ तक कि स्वयं बुद्ध की प्रसिद्धि एक ईश्वर के ही रूप में है। यद्यपि बौद्ध धर्म को नास्तिक कहा जाता है। उसी प्रकार कुछ आधुनिक आध्यात्मवादी जो ईश्वर की पराशक्ति (सर्वातिशायी सिद्धान्त) में विश्वास रखते हैं, उनके लिए भी दैवी सत्ता निर्गुण है, एक व्याप्त शक्ति है। उनके लिए विश्व की रचना आध्यात्मिक है। सर्वातिशायी धर्म का समर्थक इमर्सन है, वह अमूर्त नियमों की आराधना को धर्म मानता है। उसने एक विश्वात्मा की कल्पना की है और उसके प्रति इमर्सन की जो आस्था और उसका विश्वास है, वह धर्म की ही कोटि में है। जेम्स ने स्पष्ट ही कहा है कि इमर्सन के आशावाद और बौद्ध धर्म के निराशावाद में जो प्रेरणा निहित है और जो व्यक्ति तथा उसकी क्रियाओं को एक निश्चित दिशा प्रदान करती है, वह किसी भी धर्म के सर्वोत्तम प्रेरक तत्वों तथा क्रियाओं से भिन्न नहीं है। हम किसी भी दैवी या अर्द्ध दैवी विश्वासों को धर्म कह सकते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि धर्म की परिभाषा में जो 'दैवी' शब्द आया है, उसका अर्थ संकुचित रूप में नहीं करना चाहिए। इसको तो वृहद् रूप में ही ग्रहण करना वांछनीय है। 'दैवी' शब्द कोई निश्चित या रूढ़ि पूर्ण शब्दों में नहीं है। यहाँ दैवी से अर्थ ईश्वरीय या ईश्वर या ईश्वर तुल्य है। चाहे वह सगुण हो या निर्गुण। जेम्स ने तो यहाँ तक कहा है कि मनुष्य के धर्म का तादात्मीयकरण उसकी मनोवृत्तियों से हो सकता है, यदि वह आदि सत्य के विषय में हो और इसी प्रसंग में उसने जीवन पर सम्पूर्ण के रूप में की गई प्रतिक्रिया को धर्म कहा है।[1] जेम्स के भी विचारों से धर्म एक व्यक्ति के जीवन-दर्शन के समान ही प्रकट हो रहा है। धर्म में व्यक्ति की सभी क्रियायें एक दृष्टि प्राप्त कर लेती हैं, जो उसके जीवन के प्रति होती रहती है। इसी प्रकार

---

1. विलियम जेम्स—वैरायटीस ऑफ रीलिजस एक्सपीरियन्स, पृष्ठ 31–35।

व्हाइटहैड कहता है कि धर्म वह क्रिया है जो व्यक्ति अपनी एकान्तता के साथ करता है,[1] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जेम्स की भाँति यह भी धर्म को व्यक्तिगत अनुभव के रूप में ही मानता है। क्योंकि मनुष्य केवल सामाजिक प्रपंच मात्र नहीं है। वास्तविक रूप में धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से है। धर्म व्यक्ति को सनातन सत्य की अनुभूति के लिए योग्य बनाता है। इसका मुख्य तत्व यही है कि यह व्यक्ति को अव्यवहित रूप में सत्य का व्यक्तिगत अनुभूति कराता रहे। धार्मिक संस्थाएँ और सम्प्रदाय तो धार्मिक अनुभूति के पश्चात् ही आविर्भूत होते हैं। धार्मिक अनुभूतियों का जो महत्व है वह उनका नहीं।[2] 'धर्म मानव जीवन की आदर्श संभावनाओं की खोज का एक प्रयत्न है, निरर्थक अहंकारपूर्ण और क्षुद्र भावनाओं के अव्यवहित दबाव से मुक्ति के लिए एक साधना है। धर्म जब तक परम्परागत विचार का पल्ला छोड़कर व्यक्तिगत अनुभव नहीं बनता तब तक वह सच्चा धर्म नहीं है। डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है कि धर्म आभ्यन्तर और व्यक्तिगत चीज है जो सब मूल्यों का एकीकरण और सब अनुभवों का संगठन करती है। यह समग्र यथार्थ सत्ता के प्रति समग्र मानव की प्रतिक्रिया है। हम धार्मिक विषय को अपनी समग्र मनःशक्तियों और ऊर्जाओं से खोजते हैं। समग्र मानव की यह क्रिया आध्यात्मिक जीवन कही जा सकती है; जो मात्र बौद्धिक या नैतिक या सौन्दर्यबोधात्मक क्रिया या उन सबके सम्मिश्रण से एक सर्वथा भिन्न क्रिया है। एक स्थान पर उन्होंने यह भी कहा है कि भावना, संवेग और भाव, नैसर्गिक वृत्ति, पूजा और कर्मकाण्ड, प्रत्यक्षानुभाव और विश्वास इन सबको धर्म कहा जाता रहा है और अपने भावात्मक अर्थ में ये सब विचार ठीक भी हैं परन्तु अपने अभावात्मक या निषेधात्मक अर्थ में वे गलत हैं। ये विचार जहाँ किसी वस्तु को धर्म कहते हैं वहाँ तक वे सही हैं, किन्तु जहाँ ये अपने सिवाय बाकी सबको अधर्म कहते हैं, वहाँ ये सही नहीं हैं।[3]

तो यह हम देख ही चुके कि धर्म का वास्तविक सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से ही है। संस्थाएँ और सम्प्रदाय तो इसके पश्चात् के आविर्भाव हैं। उनको ही धर्म नहीं माना जा सकता। हाँ यह तो सम्भव ही है कि उन संघों और संस्थाओं से धर्म का वैयक्तिक पहलू समिष्ट का कल्याणकारक होता है। अनुभूति के पश्चात् ही, पहले नहीं, व्यवहार का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। तब तो व्यवहार आवश्यक भी हो जाता है। व्यष्टि फिर समष्टि का हो जाता है। स्वामी रामानन्द जी ने इसी स्तर पर कहा है—"व्यक्ति की साधना भी वास्तव में व्यक्ति के लिए न हो, समष्टि के लिए हो। यद्यपि इस भाव का साधना के आरम्भ में समझ में आना कठिन है, परन्तु साधना के पथ पर आगे चलकर यह वस्तु स्थिति हो ही जाती है। वह जीता

---

1. व्हाइटहैड—रीलिजन इन दी मेकिंग, पृष्ठ 6।
2. के० एस० रामस्वामी शास्त्री—एवोल्यूशन आफ इण्डियन मिस्टिसिस्म, पृष्ठ 7
3. डॉ० राधाकृष्णन—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृष्ठ 85–86।

भी अपने लिए नहीं। ठीक तो यह है कि वह जीता है जीने के लिए। उसका जीवन ही यज्ञ है सेवा है।[1] यह है आन्तरिक अनुभूतियों का बाह्य उपयोग। यह है आन्तर योग का बाह्य स्फुरण।

यदि हम काण्ट की तरह धार्मिक अनुभव और नैतिक चेतना को एक बनाने का प्रयत्न करते हैं तो स्पष्ट है कि इन दोनों क्रियाओं को भिन्न-भिन्न लक्षणों की उपेक्षा करते हैं। धर्म केवल नैतिक मूल्यों की चेतना ही नहीं है। तो फिर अन्तर क्या ?

अन्तर स्पष्ट है। धर्म में कुछ रहस्यात्मक तत्व है, वास्तविक सत्ता का एक निरपेक्ष बोध और उसका निरपेक्ष आनन्द है, जो नैतिक चेतना में नहीं होता। इस अर्थ में धर्म रहस्यवाद के समकक्ष ही है। धर्म और धार्मिक अनुभूतियों को कुछ लोगों ने 'रहस्यवादात्मक धर्म' तक की संज्ञा दी है। सांस्थिक धर्म तथा रहस्यात्मक धर्म में अन्तर बतलाते हुए कहा है कि जहाँ एक कर्मकाण्ड, उत्सव और संस्थाओं पर निर्भर करता है वहाँ दूसरा आभ्यान्तरिक दृष्टि पर। उनके अनुसार रहस्यात्मक अनुभूति धार्मिक अनुभूति ही है, जो प्रत्यक्ष अव्यवहित और अन्तरंग रूप में होती हैं। स्टेस के अनुसार यदि धर्म का अर्थ सांस्थिक मत, सम्प्रदाय या सिद्धान्त के रूप में लिया जाता है तो रहस्यवाद का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे रूप में यदि धर्म का अर्थ बौद्धिक मतों और सिद्धान्तों की अपेक्षा अनुभूति के रूप में लिया जाता है, जो पवित्र तथा दैवी होती है, तो वह अवश्य रहस्यात्मक अनुभूति के रूप में मानी जा सकती है। इस धारणा के अनुसार अनीश्वरवादी समझे जाने वाले धर्म (बौद्ध और जैन) भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं, जैसा कि जेम्स ने भी इसे स्वीकार किया है। स्टेस के अनुसार रहस्यवाद पूर्णतः स्वतन्त्र है—इस अर्थ में कि इसका अस्तित्व बिना किसी धर्म या मत के ही है। परन्तु धर्म और रहस्यवाद इस अर्थ में एक दूसरे से सम्बन्धित और अभिन्न है कि दोनों लौकिक क्षितिज के परे अनन्त और सनातन की ओर दृष्टि रखते हैं और इसलिए भी कि दोनों में दैवी एवं पवित्रभाव निहित हैं। रहस्यवाद को यदि धर्म के रूप में देखने का प्रयास करते हैं तो केवल इसी रूप में कि यह मानव के मौलिक एवं स्वाभाविक धर्म का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु उस रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता जो धर्म, मजहब, पंथ या सम्प्रदाय विशेष का स्वरूप ग्रहण करता है, क्योंकि इनमें ऐसे तत्व निहित होते हैं, जिनका सम्बन्ध रहस्यवाद से बिल्कुल नहीं है। उदाहरणार्थ कर्मकांड, सृष्टिशास्त्र, ईश्वरीय-शास्त्र आदि ऐसे अनेक अंग हैं, जो रहस्यवाद के लिए महत्वहीन हैं। इनसे केवल मजहबी और साम्प्रदायिक विप्लव ही हुआ करते हैं। विज्ञान के साथ भी ऐसे धर्म का कोई मेल नहीं है। रहस्यवाद से विलग धर्म की धारणा के आधार पर हम बौद्ध

---

1. स्वामी रामानन्द, एम० ए०—आध्यात्मिक साधन खण्ड 2, त्रिलोकचन्द विश्नोई, बरेली, 1949, पृष्ठ 112।

धर्म या जैन धर्म को धर्म का संज्ञा नहीं प्रदान कर सकते, क्योंकि वह तो इसके सदा विपरीत है। अतः जब हम धर्म का अर्थ व्यापक कर दें तो अनीश्वरवादी धर्मों को भी धर्म की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। इस अर्थ में स्वीकार करने पर अनीश्वरवादी धर्म रहस्यवाद और धर्म दोनों की कोटि में आ जाते हैं। इसी तथ्य को स्टेस ने भी स्वीकार किया है। इन दोनों में आन्तरिक अनुभूति को ही महत्व प्रदान किया जाना चाहिये। स्टेस ने रहस्यवादी एन० एम० की अनुभूतियों का उद्धरण दिया है, जिससे यही प्रकट होता है कि रहस्यात्मक अनुभूतियाँ धार्मिक ही हैं। परन्तु इस धर्म-कोटि की नहीं जो मजहवी रूप में है। "मुझे यह कहना चाहिए कि मेरा यह अनुभव 'धार्मिक कोटि' का है, किन्तु फिर भी मैं इसका सम्बन्ध किसी ऐसे धर्म या सम्प्रदाय के साथ जोड़ना असंगत समझता हूँ जिनकी संस्थाएँ चल रही हैं। मेरी तो यहाँ तक धारणा है कि जितने सुव्यवस्थित धर्म व सम्प्रदाय दीख पड़ते हैं, वे स्वभावतः रहस्यवादी भावना के विरुद्ध पड़ते हैं।" सारांश यह कि रहस्यात्मक अनुभूति को धार्मिक अनुभूति की संज्ञा प्रदान की जाती है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार तो धार्मिक जीवन निवर्तन (पीछे हटना) और पुनरावर्तन की एक लयबद्ध गति है—व्यक्तिगत एकान्त में निवर्तन, जो विचार और चिन्तन की आवश्यकता का द्योतक है, और समाज के जीवन में पुनरावर्तन। एकान्त की गतिविधि दो रूप धारण करती है—बौद्धिक, जो दर्शन और धर्म विज्ञान की ओर ले जाती है, और भावात्मक, जो रहस्यवाद में परिणत होती है" ये दोनों धार्मिक जीवन के अवयवभूत-अंग हैं। जेम्स भी रहस्यवादी और धार्मिक व्यक्ति को जो बहुधा एक ही कहे जाते हैं, समान ही समझते हुए ज्ञात होते हैं। उन्होंने व्यक्त किया है कि धार्मिक व्यक्ति जिस विशिष्ट ढंग से सत्य का साक्षात्कार करता है, वह ढंग विशेष रहस्यवाद है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार तो भारत का रहस्यवादी धर्म ही नए विश्व का धर्म बनने वाला है। (धर्म और समाज—पृष्ठ 53)

इस रहस्यवादी धर्म का कथन है कि आध्यात्मिक वस्तुएँ वैयक्तिक हैं और हमें उन्हें अपने जीवन में प्रतिबिम्बित करना चाहिये। संसार में ऐसे साधक हुए हैं जिन्होंने वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए सांसारिक विषयों से विमुख होकर साधना की कसौटी पर खरे उतर कर नयी ऊर्जा तथा संकल्प और सत्य की ज्योति लेकर सम्पूर्ण जगत को द्युतिमान कर दिया है। ऐसे महापुरुष प्रत्येक युग में समय-समय पर होते रहे हैं और जिन्हें देवदूत, पैगम्बर तथा अवतार की संज्ञा प्रदान की जाती रही है। संत मूसा, ईसा, बुद्ध, शंकर, महावीर स्वामी, मोहम्मद साहब, गुरुनानक आदि महापुरुष ऐसे ही धर्म के उपदेष्टा रहे हैं। इनके नाम से जाति और देश का भी नाम जुड़ता गया, संस्थाएँ बनती गयीं, मजहब, पंथ, बनते गये, साथ ही संकीर्णताएँ घुसती गयीं, परन्तु धर्म के तत्वों से अभिभूत उन महापुरुषों का व्यक्तित्व सनातन है। उनकी अनुभूतियों में कोई विलगाव नहीं है। इनकी अनुभूतियाँ मानव

जाति के लिए है। मानवता का सन्देश उनकी वाणी से मुखरित हुआ है। इनकी अनुभूतियों में मानवता सन्निहित है। मानवतावाद अलग से कोई धर्म नहीं है। हमने इन्हीं महापुरुषों के सन्देशों को धर्म विशेष के नाम से पढ़ा है। इनमें मानव की आध्यात्मिक पिपासा शान्त करने की क्षमता है। ये धर्म-विशेष केवल नैतिक कोश नहीं हैं। यह तो पूर्णता की आकांक्षा को सन्तोष देने वाले हैं, जीवन के लक्ष्य हैं। अब हम क्रमशः विश्व के इन धर्मों की मूलभूत विशेषताओं और सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे। अन्त में देखेंगे कि क्या सर्वधर्म समन्वय किया जा सकता है और क्या इन सभी धर्मों के स्थान पर 'मानवतावाद' को एक धर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जो मानव जीवन को शान्ति, सुरक्षा तथा पूर्णतः प्रदान कर सके। अन्त में धर्म निरपेक्षतावाद, जो मानवतावाद का पर्याय माना जाता है, पर भी विचार-विमर्श किया जाएगा।

———

2 हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म की स्थिति अन्य धर्मों से भिन्न है। ईसाई धर्म की स्थापना क्राइस्ट द्वारा, इस्लाम धर्म मोहम्मद साहब द्वारा, पारसी (जोरोस्ट्रियनिज्म) धर्म जोरोस्टर द्वारा संस्थापित किया गया, परन्तु हिन्दू धर्म की संस्थापना किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुई। जहाँ तक इसके नामकरण का प्रश्न है, हिन्दू नाम न तो किसी जाति द्वारा दिया गया और न तो इस धर्म के अनुयायियों द्वारा ही रखा गया है। कहा जाता है कि हिन्दू नाम सिन्धु नदी के नाम पर आधारित है। सिन्धु को अंग्रेजी में इन्डअस (Indus) कहा गया। पारसियों तथा पाश्चात्य आक्रामकों द्वारा गलत उच्चारण के कारण इन्डस से 'हिन्दूज' (Hindus) हो गया।[1] नामकरण का आधार चाहे जो भी रहा हो, हिन्दू धर्म एक प्राचीन एवं सनातन धर्म माना जाता है, क्योंकि इसका मूल आधार वैदिक परम्पराएँ ही हैं। यद्यपि हिन्दू धर्म का मूल स्रोत वैदिक परम्परा अवश्य है परन्तु अन्य कई अवैदिक परम्पराएँ भी इसके विकास में सहयोगी रही हैं। अनेक विचारकों के अनुसार जैन, बौद्ध और सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जैन और बौद्ध धर्म वैदिक धर्म से पृथक् नहीं कहे जा सकते।

विकास की दृष्टि से हिन्दू धर्म को चार अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है—1—वैदिक युग, 2—आचार्य युग, 3—सन्त युग, 4—आधुनिक युग।

1—**वैदिक युग**—प्रत्येक धर्म का अपना एक धर्म-ग्रन्थ होता है। वही मूल आधार होता है, जिसपर धर्म अवस्थित होता है। हिन्दू धर्म का आधार वेद है। वेद अपौरुषेय एवं सनातन है। इसलिए हिन्दू धर्म सनातन धर्म भी कहलाता है। हिन्दू धर्म के अन्य धर्म-ग्रन्थ भी हैं जिन्हें हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम भाग में श्रुति एवं स्मृति हैं। चार वेद, उपनिषद् एवं गीता श्रुति हैं तथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि स्मृति हैं। महाकाव्य पुराण एवं आगम आदि धर्मग्रन्थों को दूसरे भाग में रखा जा सकता है। तीसरे भाग में टीकाओं और व्याख्याओं को रखा जा सकता है जिसमें विभिन्न आचार्यों द्वारा श्रुति-स्मृति, महाकाव्य और पुराण आदि पर टीकाएँ तथा धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। विकास की दृष्टि से वैदिक युग को भी तीन कालों में विभाजित किया जा

1. मित्रा—डायनामिक्स ऑफ फेथ, पृष्ठ 164, डॉ० राधाकृष्णन् 'दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ' पृष्ठ 13।

सकता है—1—संहिताकाल, 2—ब्राह्मणकाल और 3—अरण्यकाल। प्रथम अवस्था में वैदिक ऋषियों की धार्मिक अनुभूति और वैदिक सत्यों का अनुभव आता है। दूसरे काल में कर्म-काण्ड का विवेचन आता है और तीसरे काल में दार्शनिकता की प्रधानता है। यह काल उपनिषद्काल से भी अभिहित किया जा सकता है, क्योंकि इसी समय उपनिषदों की रचना हुई। उपनिषद् वैदिक चिन्तन की पराकाष्ठा है। इसलिए उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उपनिषद् ही हिन्दू धर्म की नींव है। भारतीय धर्म, संस्कृति और दर्शन का मूल स्रोत और आधार इसी काल को माना जा सकता है। इसी काल में बहुदेववाद अद्वैतवाद में और कर्मकाण्ड अध्यात्मवाद में प्रविष्ट होता है।

2—**आचार्य युग**—इस युग में विभिन्न आचार्यों ने वेदान्त की अलग-अलग व्याख्याएँ की। शंकराचार्य का मायावाद, जिसका भारतीय जन-जीवन पर अमिट प्रभाव देखा जाता है, इसी काल में स्थापित हुआ। शंकर ने अद्वैतवाद के आधार पर एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया है और द्वैत का निषेध करते हुए जगत को प्रपंच या मिथ्या कहा। शंकर के अतिरिक्त रामानुज, बल्लभ एवं निम्बार्क प्रभृति आचार्यों ने वेदान्त की व्याख्या की। इन समस्त आचार्यों का योग हिन्दू धर्म के लिए महान् है।

3—**भक्ति युग**—आचार्य युग में वेदान्त की व्याख्या से जिस शुष्क ज्ञानवाद का प्रचार हुआ वह बहुत लोकप्रिय न हो सका, उसकी प्रतिक्रिया फलस्वरूप मध्य-कालीन भारत में भक्ति-सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। शैव और वैष्णव भक्तों ने ज्ञान के स्थान पर भक्ति की रसधारा प्रवाहित की। कहना न होगा कि जिस प्रकार शंकराचार्य ने अवैदिक धर्म-परम्पराओं (जैन, बौद्ध धर्म) से रक्षा के लिए वैदिक धर्म का विकास ज्ञानवाद के रूप में किया, उसी प्रकार इन भक्ति सम्प्रदायों ने भारत पर अनेक जातियों और धर्मों के आक्रमण से बचने के लिए भक्ति का बिगुल बजाया। भक्ति-आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और इनमें अनेक सन्तों और भक्तों ने भाग लिया। चैतन्य, कबीर, सूरदास, तुलसी, मीरा आदि ने अपनी काव्य-धारा से हिन्दू जन-जीवन को प्राण दान दिया। हिन्दू धर्म इन भक्तों की रचना-परम्परा में पूर्णतया सुरक्षित है, और आज भी इनका जीवन पर स्पष्ट प्रभाव दिखायी दे रहा है।

4—**आधुनिक युग**—आधुनिक युग में विज्ञान के प्रभाव तथा पाश्चात्य धर्म परम्परा के प्रवेश से हिन्दू धर्म में परिवर्तन आया है। युग के अनुकूल धर्म हो, यह युग की माँग है। अतः वाह्य धर्मों के प्रभाव से मुक्त रखने तथा युगानुकूल धर्म की आवश्यकता को देखते हुए हिन्दू धर्म की नवीन व्याख्या की गयी। गतिशील धर्म ही युगानुकूल हो सकता है। हिन्दू धर्म प्रगतिवादी है। इसकी प्रगतिशीलता सनातनता में ही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि सदियों से इस धर्म पर

कितने घात-प्रतिघात हुए, कितने धर्मों का प्रवेश हुआ परन्तु सभी को यह अन्तस्त कर गया, यही इसकी विशालता एवं उदारता है और सर्वोपरि प्रगतिशीलता भी। यह चिरनवीन है। समय-समय पर अवतारों और महापुरुषों का आगमन हुआ है और उनका नव सन्देश सनातन में विलीन होकर भी नवीन कलेवर लेकर जन-जीवन के समक्ष आता है। आधुनिक युग में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री रायकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द एवं गाँधी ने हिन्दू धर्म को नवीन कलेवर दिया है। हम अगले पृष्ठों में देखने का प्रयास करेंगे कि श्री रामकृष्ण ने किस प्रकार और कितनी नवीनता हिन्दू धर्म में उत्पन्न की है। हिन्दू धर्म क्या है, इस विषय को थोड़े पृष्ठों में बाँधना सम्भव नहीं है, क्योंकि इतना इसका विपुल साहित्य और इसके इतने अनेक व्याख्याता हैं कि उन सबको यहाँ देख पाना सम्भव नहीं होगा। हाँ इतना तो सर्वमान्य है कि हिन्दू धर्म को समग्र रूप में प्रस्तुत करने का प्रतिनिधित्व उपनिषद् और गीता द्वारा होता है। इन्हीं के आधार पर हम हिन्दू धर्म की कुछ प्रमुख मान्यताओं पर दृष्टिपात कर सकते हैं। उदाहरण के लिए श्रुतियों में आस्था, ईश्वर में विश्वास, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म एवं आवागमन चक्र, कर्मवाद, पुरुषार्थ तथा वर्णाश्रम व्यवस्था आदि।

श्रुतियों में आस्था—हिन्दू धर्म की मुख्य मान्यता श्रुतियों में आस्था है। हिन्दू धर्म के अनुसार आस्तिक, नास्तिक का भेद इसी बात पर निर्भर है कि जो वेदों में आस्था रखे वही आस्तिक है, ईश्वर में आस्था रखना आवश्यक नहीं है। कोई व्यक्ति नास्तिक इसलिए नहीं है कि वह ईश्वर में आस्था नहीं रखता वरन् वेद और श्रुतियों में अनास्था रखने वाला ही नास्तिक है। यही कारण है कि सांख्य और मीमांसा दर्शन ईश्वर में आस्था न रखने पर भी नास्तिक नहीं कहे जाते। वे आस्तिक दर्शन हैं क्योंकि उनकी आस्था वेदों में है। दूसरी ओर जैन तथा बौद्ध धर्म से कई अर्थों में समानता रखते हैं। फिर भी श्रुतियों में आस्था न रखने के कारण नास्तिक कहे जाते हैं।

ईश्वर में विश्वास—हिन्दू धर्म में ऐसा विश्वास है कि ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है। जैन एवं बौद्ध धर्म के अतिरिक्त हिन्दू एक अति प्राकृतिक शक्ति में विश्वास रखते हैं, जो जगत् का सृष्टिकर्त्ता है और जगत् को अपने में धारण किये हुए है। ब्रह्म सूत्र में कहा गया है 'यतो वा इयानि भूतानि।' ईश्वर ही परमसत्ता है। जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय इसी सत्ता पर निर्भर है। गीता में कहा गया है ईश्वर उस सूत्र के समान है जिसमें सम्पूर्ण अस्तित्ववान जगत उसी प्रकार पिरोया हुआ है जिस प्रकार मणियाँ सूत्र में पिरोयी रहती हैं। 'मयि सर्वं मिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' (7/7) हिन्दू धर्म में ईश्वर का स्वरूप दो प्रकार का पाया जाता है—निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार। निर्गुण ईश्वर मन-बुद्धि से परे (अचिन्त्यम्), सर्वव्यापी (सर्वत्र-गम्), अकथनीय (अनिर्देश्यम), सदा एक रहने वाला (कूटस्थम्), नित्य (ध्रुवम्),

अचल (अचलम्), निराकार (अव्यक्तम्) और अविनाशी (अक्षरम्) है। सगुण ईश्वर शरीरधारी पुरुषोत्तम वासुदेव हैं। वह सम्पूर्ण जगत का धारण-पोषण करने वाला, कर्म फल को देने वाला, पिता-माता, पितामह, स्वामी, साक्षी (शुभाशुभ को देखने वाला), निवास और शरण है। वह सर्वगुण सम्पन्न, परम दयालु, सर्वान्तिर्यामी, सर्वव्यापी है। पुरुषोत्तम भक्तों के उपास्य देव हैं। ईश्वर की दो प्रकृतियाँ हैं—एक परा और दूसरी अपरा। अपरा प्रकृति जड़ है जिसके आठ भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। परा प्रकृति चेतन है। इस प्रकार चेतन तथा जड़ पदार्थों को परा और अपरा प्रकृति में विभाजित किया है। इस आधार पर ईश्वर विश्व रूप और विश्वातीत दोनों है। वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त भी है और जगत से परे भी है। हिन्दू धर्म में ईश्वर-अवतार की अवधारणा मिलती है। ईश्वर नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त पूर्ण ब्रह्म परमात्मा होते हुए भी अनेक रूपों में प्रकट होता है। गीता में भगवान ने कहा है—मैं अजन्मा और अविनाशी होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ (4/6)। जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब मैं साकार रूप में प्रकट होता हूँ (4/4)।

आत्मा—हिन्दू धर्म में आत्मा एक आध्यात्मिक तत्व है जो शरीर से भिन्न है। शरीर जन्म लेता है और मरता है। आत्मा देश-काल से परे अमर और अजन्मा है। शरीर में आवद्ध होने पर वह जीवात्मा है जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है। तात्विक रूप में आत्मा अनन्त और नित्य है। वह सर्वव्यापी, स्थिर, अनिर्वचनीय और अपरिवर्तनीय है। आत्मा मन, बुद्धि और इन्द्रियों से परे है। आत्मा का अस्तित्व शरीर के पहले और बाद में भी रहता है। शरीरान्त हो जाने पर आत्मा नये शरीर में प्रविष्ट हो जाती है। आत्मा सत्, रज और तम से परे है। इन्हीं गुणों से सुख दुःख, तृष्णा, संवेग, भ्रम, मन, बुद्धि और अहंकार आदि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं विषय भी इन्हीं गुणों से पैदा होते हैं। आत्मा इन गुणों और वृत्तियों से परे साक्षी रूप है। सांसारिकता में लिप्त जीवात्मा बन्धन में रहता है। परन्तु मुक्तावस्था शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जब तक जीवात्मा मुक्ति की प्राप्ति नहीं करती तब तक नाना योनियों में शरीर धारण करती रहती है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध होने पर आत्मा में भौतिक, मानसिक एवं नैतिक गुण प्रकट होते हैं। भौतिक दृष्टि से जीवात्मा के तीन शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर। स्थूल शरीर का निर्माण पंच भूतों से होता है और इसका विकास अन्न से होता है। इसलिए इसे 'अन्नमयकोश' भी कहते हैं। सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर भी कहते हैं, क्योंकि यह चिन्ह का काम करता है। इसके द्वारा आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है। सूक्ष्म शरीर के तत्व हैं—पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, मनस और बुद्धि आदि

1. शंकराचार्य—विवेक चूड़ामणि—पृ. 31-33

इस प्रकार सूक्ष्म शरीर प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय का संयोजन है। जीव के कर्मों के अनुसार उसके पाप-पुण्य सूक्ष्म शरीर में संचित रहते हैं और जीव दूसरे शरीर में प्रवेश पाता है तो सूक्ष्म शरीर उसके साथ रहता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर के कारण होने के नाते तीसरे प्रकार का शरीर कारण शरीर कहलाता है। मानसिक दृष्टि से आत्मा के तीन प्रकार हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। आत्मा में ज्ञान, इच्छा, क्रिया और सुख-दुःख आदि गुण पाये जाते हैं, परन्तु ये तभी तक रहते हैं जब तक कि आत्मा बन्धन में है, जब मुक्तावस्था को प्राप्त करती है तब ये सभी गुण समाप्त हो जाते हैं। आत्मा चित रूप है। आत्मा की चेतनावस्था चार प्रकार की है—जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, निद्रावस्था, तुरीयावस्था, जिनको क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और विश्वातीत अवस्था भी कहा जाता है। यह चौथी अवस्था शुद्ध चैतन्य की अवस्था है। इसमें आत्मा व्यावहारिक बन्धन से मुक्त रहती है। नैतिक दृष्टि से आत्मा के गुण विशेष महत्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर भौतिक एवं मानसिक गुणों का निर्धारण होता है। शरीर, परिवार और समाज तथा शुभ-अशुभ कार्य, प्रकृति आदि की प्राप्ति इसी से होती है। कर्म ही प्रधान है। इसी के फल-स्वरूप जीव का स्वरूप निर्धारित होता है। नैतिक स्थिति के अनुसार जीवात्मा के तीन रूप माने गये हैं—नित्य जीव—ऐसे जीव जो सदैव मुक्त रहते हैं, बन्धन में आते ही नहीं। मुक्त जीव—ऐसे जीव जो कभी बन्धनग्रस्त थे परन्तु मुक्त हो चुके। वद्ध जीव—वे जीव हैं जो सदैव बन्धनग्रस्त हैं। साधारण मनुष्य इसी कोटि का है।

विश्व की नश्वरता—हिन्दू धर्म विश्व की प्रत्येक वस्तु को नाशवान एवं परिवर्तनशील मानता है। अपढ़ हिन्दू भी यह विश्वास करता है कि मृत्यु, नश्वरता एवं विनाश सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। अतः इसी धारणा के साथ यह विचार भी असंदिग्ध रूप से स्वीकृत किया जाता है कि जो वस्तु परिवर्तनशील और नाशवान है, वह सत् नहीं हो सकती। यदि कोई वस्तु किसी समय में प्रारम्भ होती है और समय विशेष में ही नष्ट होती है तो वह असद् है। जब प्रारम्भ और अन्त असत् है तो मध्य तो असत् होना ही चाहिए। हिन्दू धर्म के इस धारणा की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि यह है तो सर्वोच्च दार्शनिक धारणा, परन्तु हिन्दू समाज के निम्न से निम्न वर्ग के लोगों के जीवन में भी यह व्याप्त है। इस विश्वास का सम्बन्ध एक दूसरे विचार से भी है, वह है आत्मा का अनश्वर होना। इन नाशवान विश्व के पीछे एक सत् सत्ता आत्मा है। अतः इस नाशवान विश्व में लिप्त रहने के स्थान पर आत्मोपलब्धि ही हिन्दू धर्म का परम लक्ष्य है।

कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दू धर्म की विश्व की नश्वरता की धारणा बौद्ध धर्म से ली गयी है। ऐसे विचार को यदि पूर्णतया अस्वीकार कर दिया जाय तो बहुत विवाद का विषय नहीं होगा। इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि हिन्दू धर्म में विश्व की अनित्यता पर प्रारम्भ से ही बल दिया गया है। उपनिषदों में इसके

अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।[1] दूसरे धर्म में इस विश्व में सर्वजनीनता है। संसार की क्षणिकता का केवल तात्विक आधार ही नहीं है, वरन् इसका नैतिक और आध्यात्मिक महत्व भी है।

विश्व की नश्वरता का प्रभाव हिन्दू धर्म में दो रूपों में देखा जाता है। आचरण के रूप में संन्यासवाद और धर्म में रहस्यवाद का महत्व इसी धारणा का फल है। यदि यह विश्व क्षण भंगुर, अस्थायी एवं नाशवान है तो फिर इसके पीछे क्यों दौड़ लगायी जाय, इससे विरक्ति होना स्वाभाविक है। अध्यात्म के क्षेत्र में यह धारणा परम तत्व—जो स्थायी और नित्य है की ओर अग्रसर करती है। हिन्दू धर्म में नित्य आत्म तत्व (ईश्वर) को पाना और उससे एकत्व प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म इहलौकिक की अपेक्षा पारलौकिक जगत् को महत्व देता है।

पुनर्जन्म एवं आवागमन-चक्र—हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म की धारणा आत्मा की अमरता पर निर्भर है। इसी धारणा में कर्म का नियम भी पृष्ठभूमि का काम करता है। ऐसा विश्वास है कि मृत्यु के समय शरीर तो नष्ट हो जाता है परन्तु जीवात्मा का नाश नहीं होता। जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार पुनः जन्म धारण करता है। गीता में कहा गया है कि जैसे मनुष्य अपने पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को ग्रहण करता है। (2/22)। पुनः कहा गया है कि जैसे जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है (2/14)।

पुनर्जन्म एक बार ही नहीं वरन् अनेक बार होता है। जीवात्मा कर्मों के अनुसार बार-बार मृत्यु और जन्म के चक्कर में पड़ा रहता है। यही आवागमन का चक्र है। जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। जब तक इस लक्ष्य को जीवात्मा नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उसे अनेक बार अनेक योनियों में से गुजरना पड़ता है। कर्मों का भोग प्राप्त करने के लिए जीव को जन्म लेना ही पड़ता है। उपनिषदों में परलोकवाद और पुनर्जन्म की धारणा का नैतिक आधार प्रस्तुत किया गया है। कर्मों के अनुरूप ही मनुष्य को जीवन मिलता है, यह नैतिक आधार ही पुनर्जन्म की पृष्ठभूमि है। छान्दोग्योपनिषद् में बतलाया गया है कि जिनका आचरण रमणीय रहा है उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य की रमणीय योनि मिलती है, जिनका आचरण दूषित रहा है उन्हें श्वान, शूकर अथवा चाण्डाल की निकृष्ट योनि मिलती है।

'कौषतिकी उपनिषद्' कर्मानुरूप कीट, पतंग, मछली, पक्षी, बाघ, साँप, मनुष्य आदि इनमें से किसी योनि में जन्म लेने का उल्लेख किया गया है।[2] पुनर्जन्म की यह धारणा बौद्ध, जैन एवं सिक्ख धर्मों में भी मिलती है।

---

1. कठोपनिषद् 1. 2. 1-2 1. 2. 3. मैमी उपनिषद् 1, 2-7।
2. छान्दो॰ 5, 10, 7 कौषतिकी 1, 2, प्रो॰ आर॰ डी॰ रानाडे, 'उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण' पृ. 116।

कई आलोचक इस धारणा की आलोचना करते हैं। उनकी दृष्टि में यह केवल कल्पना मात्र है। यदि पुनर्जन्म होता ही है तो व्यक्ति को पुनर्जन्म की घटनाएँ भी याद होनी चाहिए और उन पर पिछले वंश-परम्परा का प्रभाव भी पड़ना चाहिए। सबसे बड़ी आलोचना तो यह की जाती है कि इस धारणा से व्यक्ति में पलायनवादिता, अकर्मण्यता और निराशा की भावना प्रधान हो जाती है। पाश्चात्य विचारकों के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय मनीषी श्री अरविन्द का विचार है कि आरोहण-अवरोहण की प्रक्रिया में विकासवादी दृष्टिकोण से मनुष्य का विकास उच्च है। उच्च विकास अर्थात् मनुष्य योनि प्राप्त करने पर फिर निम्न योनि में आने का कोई विकासवादी आधार ही पुष्ट नहीं होता। अर्थात् व्यक्ति जहाँ हैं वहीं से उसका विकास आगे की ओर होता है। पीछे लौटने का कोई प्रश्न ही नहीं होता। उनके शब्दों में 'आत्मा चैत्य पुरुष एक बार मानवीय चेतना तक पहुँचने पर न तो निम्न कोटि की पशु चेतना में वापिस जा सकती है और न पेड़ या किसी क्षण जीवी कीड़े में'[1]। स्पष्ट है कि श्री अरविन्द को निम्न योनियों में जन्म ग्रहण करने की धारणा स्वीकार नहीं है। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पुनर्जन्म सम्भव नहीं है। पुनर्जन्म में पाश्चात्य वैज्ञानिकों और विचारकों की भी आस्था है। अनेक खोजों से इसकी पुष्टि की गई है। स्टीवेन्सन की 'ट्वेन्टी केसेस आफ रि इनकारनेशन' इसका प्रमाण है। पुनर्जन्म एक तथ्य है। इसके कारण व्यक्ति पलायनवादी न होकर धर्मनिष्ठ और नीतिपरायण होता है। प्रो० रानाडे का कथन ही इस विषय में अधिक समीचीन लगता है कि 'मृत्यु के बाद आत्मा की क्या गति होती है, यह मानवी प्रज्ञा के अधिकार की बात नहीं है। यदि उपनिषद्कार को कोई श्रेय दिया जा सकता है तो वह प्रश्न को हल कर देने का नहीं वरन् उत्तर के प्रयास मात्र का। दार्शनिक दृष्टि से आत्मा के आरोहण और अवरोहण के स्तरों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, वरन् हमारा सम्बन्ध उर्ध्वमार्ग और अधोमार्ग की कल्पना मात्र से है।.........'कर्मों के अनुरूप ही मनुष्य को जीवन मिलता है,' यह नैतिक आधार ही उपनिषदीय परलोक-शास्त्र को दार्शनिक महत्व प्रदान करता है।'[2]

कर्मवाद—सभी धर्मों के समान ही हिन्दू धर्म में भी कर्मवाद में विश्वास किया जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों का उत्तरदायी है। व्यक्ति को अपने कर्मों के अच्छे और बुरे फल को प्राप्त करना ही होगा। इससे छुटकारा नहीं मिल सकता है। 'जैसा तुम बोओगे वैसा तुम काटोगे।'

जिस प्रकार कार्य-कारण का नियम भौतिक जगत में पाया जाता है उसी प्रकार नैतिक क्षेत्र में कार्य का नियम कार्य करता है। कर्म-कारण का नियम सार्व-

---

1. श्री अरविन्द के पत्र, भाग 2, पृ० 141
2. रानाडे—उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० 116

भौमिक रूप से भौतिक जगत में व्याप्त है। कर्म का नियम भी सार्वभौमिक है। यह नियम स्वतः सिद्ध है। इसको स्वीकार करना ही पड़ता है। जीव के सभी कर्म या जीवन की सभी घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुयी हैं। मृत्यु के वाद इन कर्मों की समाप्ति नहीं हो जाती। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। पुनर्जन्म में पुनः विगत कर्मों की क्रिया-प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। अतः कर्म सिद्धान्त की दो प्रमुख बातें हैं—कृत प्रणाश अकृताम्युयगम'। अर्थात् किये गये कर्मों के फल का नाश नहीं होता और बिना किये गये कर्मों का फल नहीं मिलता। कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं—संचित, प्रारब्ध और संचीयमान। संचित कर्म, पहले के किये गये कर्म हैं जिसके फल का अभ्युदय अभी नहीं हुआ है। प्रारब्ध कर्म, वह कर्म है जो पहले किये जा चुके हैं और उनका फल वर्तमान जीवन में मिलने लगता है। संचीयमान कर्म, वर्तमान जीवन में होने वाले कर्म हैं जो अगले जीवन के लिए संचित होंगे, इनका फल भविष्य में मिलेगा। इसे क्रियमाण कर्म भी कहा जाता है। इस प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्य एक ही श्रृंखला की कड़ी है। संसार में जो भी विषमता है उसका कारण कर्म ही है। हीन, उत्तम, स्वस्थ, अस्वस्थ, धनी, निर्धन, कुरूप, सुन्दर, बुद्धिहीन, बुद्धिमान, आदि विषमताएँ अपने-अपने कर्मों के परिणामस्वरूप हैं। यदि अगला जीवन सुखमय बनाना है तो इसके लिए प्रयत्नशील होना होगा।

हिन्दू धर्म में इस सार्वभौमिक नियम की एक सीमा भी बाँध दी गयी है। कर्मों का फल तो प्राप्त करना ही पड़ता है, परन्तु सभी प्रकार के कर्मों का नहीं। जो कर्म निष्कामभाव से किये जाते हैं उनसे बन्धन नहीं होता। जैसे भुना हुआ बीज यदि बोया जाय तो उसमें अंकुरण नहीं होता, उसी प्रकार निष्काम भाव से किया गया कर्म फलदायी नहीं होता। अतः इस कर्म पर कर्म सिद्धान्त लागू नहीं होता। कर्म सिद्धान्त को वेदों में 'ऋृत्' कहा गया है। इसका अर्थ होता है 'जगत् का व्यवस्था'। इस व्यवस्था में नैतिक व्यवस्था समाहित है। उपनिषद् दर्शन में यही 'कर्मवाद' के रूप में आता है। न्याय-वैशेषिक इसे 'अदृष्ट' और मीमांसा 'अपूर्व' कहता है। जहाँ तक कर्म सिद्धान्त का सम्बन्ध है हिन्दू धर्म और जैन धर्म में समानता है। बुद्ध ने 'भव-चक्र' के सिद्धान्त से और जैन धर्म में 'कर्म परमाणु' के सिद्धान्त के रूप में इसे रखा है। किसी न किसी रूप में विश्व के धर्मों में लगभग यह सिद्धान्त सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है। बाइबिल में कहा गया है—'हे समझ वालो ! मेरी सुनो यह सम्भव नहीं कि ईश्वर दुष्टता का काम करे, और सर्वशक्तिमान बुराई करे। वह मनुष्य की करनी का फल देता है और प्रत्येक को अपनी-अपनी चाल का फल भुगताता है।'[1] पाप का फल दुःख ही होता है और पुण्य का फल सुख ही होता है। इस विषय में कहा गया है—"क्या तुम्हें मालूम है कि

1. अयूब-34/11, 4/7-8

कोई निर्दोष भी कभी नाश हुआ है या कहीं सज्जन भी काट डाले गये ? मेरे देखने में तो जो पाप को जोतते और दु:ख बोते हैं वही उसको काटते हैं।"

कुरान में भी कहा गया है कि 'जो भी विपत्ति किसी के ऊपर आती है वह उसके किए का नतीजा है।'

इस प्रकार कर्म के सिद्धान्त से दो उपसिद्धान्त निकलते हैं। प्रथम है, न्याय का सिद्धांत जो कि नैतिक जगत् में व्याप्त है। ईश्वर-न्यायी है इसलिए शुभ कर्मों का परिणाम शुभ एवं अशुभ कर्मों का परिणाम अशुभ या दण्ड के रूप में दिया जाता है। नैतिक जगत् में एक निर्णय करने वाला है जो पूर्णतया न्यायी और पवित्र है। इसलिए कर्म का नियम इतनी कठोरता और निश्चितता से क्रियाशील है।

दूसरा उपसिद्धान्त पुनर्जन्म का है। न्याय और पवित्रता का फल आवश्यक नहीं है कि इस अपूर्ण जीवन में ही प्राप्त हो सके। देखा जाता है कि साधु और पवित्र व्यक्ति वर्तमान जीवन में कष्ट पाते हैं और दुष्ट तथा अन्यायी सुखी तथा सम्पन्न जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार की असमायोजना को देखकर लगता है कि कोई भावी जीवन अवश्य है जिसमें अच्छे और बुरे कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। कान्ट ने इसी मान्यता पर अपने नैतिक सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने आतमा की अमरता को इसीलिए नीतिशास्त्र में स्वयं सिद्ध के रूप में स्वीकार किया है। कहा गया है—'सद्‌गुण स्वयं में पुरस्कार है।' यह कथन दार्शनिक की दृष्टि से भले ही सन्तोषप्रद हो, परन्तु कर्म का सिद्धान्त धार्मिक दृष्टि से लाखों लोगों को हजारों वर्षों से शान्ति और सन्तोष प्रदान कर रहा है। यदि अत्याचारी सुखी रहता है तो कर्म के नियम के आधार पर यह अवश्य विश्वास किया जाता है कि अगले जन्म में उसे अवश्य अपने अशुभ कर्मों का फल प्राप्त होगा। स्वर्ग और नरक की धारणा नैतिकता से सम्बद्ध है। यह केवल हिन्दू धर्म में ही नहीं वरन् यहूदी की 'शियोल' की धारणा, मुसलमानों के 'दोजक' की धारणा और जरस्थुतियों की 'न्याय का दिन' भी सर्वविदित है।

पुरुषार्थ—हिन्दू धर्म केवल चिन्तन-प्रधान ही नहीं व्यवहार-प्रधान भी है। यह एक जीवन-मार्ग है। हिन्दू धर्म में जहाँ विचारों की स्वतन्त्रता है वहाँ नियमों का पालन भी कठोरता से किया जाता है। सम्पूर्ण जीवन धर्म एवं दर्शन की कड़ियों में आबद्ध है। लौकिक और पारलौकिक जीवन, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। इस तथ्य का हिन्दू धर्म में निहित जीवन के लक्ष्य को देखकर पता लगाया जा सकता है। पुरुषार्थ को हिन्दू धर्म में जीवन का लक्ष्य माना गया है। यह चार प्रकार का है—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। काम वह लक्ष्य है जहाँ मनुष्य के संवेगात्मक जीवन की पूर्ति होती है। 'काम' जीवन का कलात्मक एवं सर्जनात्मक पक्ष है, जीवन में इसकी पूर्ति आवश्यक है। यदि मनुष्य को इससे वंचित रखा जाय तो उसका जीवन पूर्ण

नहीं कहा जा सकता। इसके अभाव में अनेक मानसिक और शारीरिक उपद्रव हो सकते हैं। जीवन में इसकी प्रधानता तो अवश्य है परन्तु यह परम लक्ष्य नहीं है। यदि जीवन नियन्त्रित नहीं हुआ या अन्य मूल्यों से सम्बद्ध नहीं रहा तो जीवन-विकास में यह बाधक ही सिद्ध होगा। 'अर्थ' व काम की सन्तुष्टि के लिए अर्थ या भौतिक सम्पन्नता अनिवार्य है। जीवन जीने योग्य तभी हो सकता है जब अर्थ की समुचित व्यवस्था हो। आर्थिक दृष्टि से अंकिचन व्यक्ति या समाज कभी जीवन की पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता। हिन्दू धर्म में अर्थ ही परम लक्ष्य तो नहीं माना गया है परन्तु परम लक्ष्य की प्राप्ति में यह कुछ सीमा तक सहायक अवश्य है। आर्थिक संकट से मुक्त व्यक्ति या समाज ही आध्यात्मिक जीवन को विकसित कर सकता है। इस प्रकार ये दोनों पुरुषार्थ भौतिक जीवन तक ही महत्वपूर्ण हैं। आध्यात्मिक जीवन के लिए 'धर्म' पुरुषार्थ ही आवश्यक है। धर्म ही वह पुरुषार्थ है जो काम और अर्थ को नियन्त्रित करता है। धर्म के विषय में डॉ० राधाकृष्णन् की यह उक्ति सही है कि 'यह जीवन का परिपूर्ण नियम है और ऐसे सम्पूर्ण मानव के सामंजस्य हैं जो अपनी जीवन-चर्या को किसी सही और उचित नियम के अनुसार चलाता है।' 'धर्म का जीवन में महत्वपूर्ण कार्य है। धर्म से जीवन के विभिन्न कार्यों में संगति आती है और इससे उनको दिशा प्राप्त होती है।'[1] धर्म सम्पूर्ण जीवन का नियमन करता है। व्यक्तिगत ही नहीं सामाजिक जीवन और व्यवस्था का मूल आधार यह धर्म ही है। मानव जीवन के चार पक्ष हैं— वासनात्मक या संवेगात्मक, आर्थिक, बौद्धिक या नैतिक और आध्यात्मिक। काम, अर्थ और धर्म जीवन के व्यावहारिक पक्ष को नियमित करते हैं अथवा व्यावहारिक जीवन के यही तीन लक्ष्य हैं। जीवन का आध्यात्मिक पक्ष मनुष्य को व्यग्र करता है। इस व्यग्रता में वह इसके लक्ष्य को भी प्राप्त करना चाहता है। इसका लक्ष्य 'मोक्ष' है। 'मोक्ष' अन्तिम परन्तु परम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति में ही मानव जीवन की सार्थकता है। हिन्दू धर्म को निःश्रेयस कहा गया है, शरीर से भिन्न मानव में एक आतम तत्व है। उस तत्व को जान लेना या उससे एकत्व स्थापित कर लेना ही मोक्ष है। इसे आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भी कह सकते हैं। हिन्दू धर्म में मोक्ष की यह धारणा भी है कि मनुष्य आवागमन, जीवन स्मरण के चक्कर से छूट जाय। कुछ हिन्दू सम्प्रदायों में मोक्ष का अर्थ जीव और ईश्वर के नित्य सम्बन्ध बोध को भी कहा गया है। जो भी हो डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में इतना तो कहा ही जा सकता है कि मोक्ष सर्वात्मभाव की प्राप्ति है और यही जीवन का परम लक्ष्य है। उनके शब्दों में—'अपने मन और बुद्धि, अपने हृदय और प्रेम तथा अपनी इच्छा और

---

1. डॉ० रामकृष्णन्— प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० 388।

शक्ति के द्वारा सर्वात्मभाव की प्राप्ति के लिए आकांक्षा करना ही मनुष्य के मनुष्यत्व की उच्च भावना है।"[1]

हिन्दू धर्म साधना मूलक है। जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है। इसे प्राप्त करने के लिए साधना की आवश्यकता है। सम्पूर्ण जीवन इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही साधनारत होना चाहिए। साधना के विभिन्न मार्ग हैं—कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा योग मार्ग। इनमें से किसी एक मार्ग से अभीष्ट की प्राप्ति की जा सकती है। गीता में इन सभी मार्गों का समाहार मिलता है। हिन्दू धर्म में इन विभिन्न मार्गों से लक्ष्य की प्राप्ति करने वाले साधकों और महापुरुषों के उदाहरण भी हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्म उदारवादी है।

वर्णाश्रम व्यवस्था—हिन्दू धर्म ने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के नियमन के लिए एक व्यवस्था का प्रतिपादन किया है, वह है वर्णाश्रम-व्यवस्था। इनमें वर्ण धर्म तो सामाजिक व्यवस्था और आश्रम धर्म व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था का नियमन करता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म में सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को समान रूप से महत्व प्रदान किया गया है। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार अपने गुण और कर्म के आधार पर मनुष्यों का समाज में अपना एक स्थान होता है और उस स्थान के अनुरूप उनको कुछ कर्त्तव्य भी करने होते हैं, इन्हीं को वर्ण-धर्म कहते हैं। ये धर्म का सामाजिक पक्ष उपस्थित करते हैं। व्यक्तिगत पक्ष 'आश्रम धर्म' कहलाता है जो जीवन के विभिन्न सोपानों—युवावस्था, प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था के अनुरूप कर्तव्यों से सम्बन्धित होता है।'[2] इस प्रकार हिन्दू धर्म के चार वर्ण माने गये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। सामाजिक व्यवस्था में इन सभी वर्गों का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मा के शरीर से इनकी उत्पत्ति हुई है—उनके सिर से ब्राह्मण की, भुजाओं से क्षत्रिय की, जाँघों से वैश्य की और पैरों से शूद्र की। इस रूपक से समाज में व्यक्ति के कार्यों का निरूपण किया गया है। वैयक्तिक गुण और प्रवृत्ति के अनुसार समाज में व्यक्ति का स्थान निर्धारित किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः बौद्धिक और आध्यात्मिक, शक्तिमूलक, आर्थिक एवं सेवामूलक कार्यों का सम्पादन करने के लिए नियोजित किया गया है। गुण और स्वभाव के अनुसार समाज में नियुक्त व्यक्ति फिर एक जाति या समूह में माने जाने लगे। समाज का यह वर्गीकरण जो कर्मणा था वही जन्मना भी हो गया। हिन्दू धर्म के सुधारकों ने इसके विषय में अनेक सुधार कार्य किये हैं। वैसे तो वर्ण-व्यवस्था समाज-कल्याण और श्रम-विभाजन की दृष्टि से की गयी थी, परन्तु बाद में इसके अन्तर्गत जाति-प्रथा की बुराइयाँ आ गयीं जो हिन्दू धर्म के लिए अभिशाप सिद्ध हुयीं।

---

1. वही पृ० 387।
2. वही, पृष्ठ 390

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम । वैयक्तिक विकास के लिए ये चार आश्रम बहुत ही महत्वपूर्ण हैं । ब्रह्मचर्य आश्रम भावी जीवन की पृष्ठभूमि है । इस काल में व्यक्ति आत्म संयम, नियम, सादगी, शुद्धता, कठोरता का पालन करता है । इन्द्रिय निग्रह रखते हुए अध्ययन करना, गुरु की सेवा करना और आध्यात्मिक विकास करना ब्रह्मचर्य आश्रम की सबसे बड़ी उपलब्धि है । इस आश्रम में बारह वर्ष से चौबीस वर्ष का समय व्यतीत होता है । पचीस वर्ष की अवस्था से व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है। इस समय पारिवारिक जीवन व्यतीत करना, सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना, पंच महायज्ञों (ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ और मनुष्य यज्ञ) को पूर्ण करना आवश्यक माना गया है । गृहस्थ आश्रम में पचास की अवस्था तक रहकर समाज का कार्य करते हुए फिर वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए । यह आध्यात्मिक चिन्तन का काल है । स्त्री-पुरुष दोनों को घर से अलग एकान्त में जप-तप, ईश्वर-चिन्तन, उपवास करते हुए सादा जीवन व्यतीत करते हुए प्राणिमात्र के कल्याण की कामना करना, स्वाध्याय करना और आध्यात्मिक विकास करना इस आश्रम के प्रमुख कर्तव्य हैं । सन्यास चौथी अवस्था है । वृद्धावस्था में स्त्री पुरुष अलग-अलग होकर सांसारिक जीवन से पूर्णतया विरत हो जाते हैं । इस आश्रम का एक ही उद्देश्य है–ईश्वर-प्राप्ति, आत्म साक्षात्कार । मधुकरी प्राप्त करके भोजन करना, प्राणिमात्र के प्रति दयालु तथा क्षमाशील होना और अहर्निश ईश्वर-चिन्तन में लीन रहना सन्यास आश्रम की विशेषता है । हिन्दू धर्म में सन्यासी मानव समाज का पूज्य माना जाता है ।

नैतिकता—हिन्दू धर्म व्यावहारिक है । धर्म की व्यावहारिकता बहुत कुछ नैतिकता पर आधारित है । नैतिक जीवन व्यतीत किये बिना धर्म की व्यावहारिकता समाप्त-प्राय रहती है । वैसे तो प्रत्येक धर्म में नैतिकता का अपरिहार्य स्थान है, परन्तु हिन्दू धर्म में धर्म और नैतिकता का ऐसा मिश्रण है कि दोनों को अलग करना सम्भव नहीं है । विश्व के अनेक धर्म नैतिक नियमावली बनकर रह गये हैं, परन्तु हिन्दू धर्म में पायी जाने वाली नैतिकता ही धर्म का स्थान ले लेती है । अन्य धर्मों की तरह हिन्दू धर्म की नैतिकता की पूर्णता पूर्ण मानवता ही नहीं, पूर्ण आध्यामिकता है । नैतिकता का लक्ष्य मानवता की सीमा लाँघ कर आध्यात्मिक व्यक्तित्व की प्राप्ति करना है । गीता का 'स्थितप्रज्ञ' पूर्ण मानव भी है साथ ही पूर्ण आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी है । गीता के स्थित प्रज्ञ की सभी विशेषताएँ नैतिकता को ही प्रकट करती है ।[1] आध्यात्मिक पुरुष के जितने भी गुण बताये गये हैं वे नैतिक गुण ही हैं । अहिंसा, करुणा, मैत्री, सन्तोष, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, क्षमा, दया, अभय आदि गुण नैतिक व्यक्ति में तो होते हैं आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए भी अपरिहार्य हैं । गीता में इन गुणों को बार-बार दुहराया गया है ।[2] योग दर्शन में

1. गीता—2/54-61 ।
2. गीता—10/4-5, 12/13-20, 18/52-54 ।

इन्हीं नैतिक गुणों की चर्चा हुई है जो योगी के लिए अनिवार्य है। गीता ने इन नैतिक गुणों को 'दैवी सम्पद' के रूप में वर्णित किया है। हिन्दू धर्म में इन नैतिक गुणों का पालन धर्म और अभ्यास के लिए अपरिहार्य है। हिन्दू धर्म में नैतिकता साधन भी है और साध्य भी, क्योंकि नैतिक गुणों से परिपूर्ण व्यक्ति ही 'स्थित प्रज्ञ' आध्यात्मिक पुरुष योगी और ज्ञानी तथा भक्त है। हिन्दू धर्म की अनिवार्यता है कि अनैतिक गुणों से युक्त व्यक्ति चाहे कितना भी ईश्वर-भक्ति का स्वाँग करे परन्तु वह धार्मिक नहीं कहा जा सकता। दैवी सम्पद के विपरीत आसुरी सम्पद का उल्लेख करके गीता से यह सिद्ध किया है। हिन्दू धर्म में वर्णित नैतिकता या दैवी सम्पद का उल्लेख इस प्रकार है—

अहिंसा सत्यम क्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारता॥ गीता—16/2-3

अधार्मिकता या अनैतिकता के विषय में अथवा गीता के आसुरी सम्पदा वाले व्यक्ति के विषय में कहा गया है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पथि संपदमासुरीम्॥

गीता आगे भी अनैतिक गुणों का उल्लेख करती है जो अकरणीय है।[1]

हिन्दू धर्म की शाखाएँ-प्रशाखाएँ—वैष्णव, शैव एवं शाक्त धर्म—हिन्दू धर्म को सामान्य रूप से इन तीन पहलुओं से देखा जा सकता है—वैदिक, दार्शनिक और पौराणिक। इसी को हमने चार कालों में बाँटा है—वैदिक युग, आचार्य युग, भक्ति युग और आधुनिक युग। आचार्य युग में विभिन्न आचार्यों ने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों की टीकाएँ करके अपने-अपने दर्शन का प्रतिपादन किया है। वैदिक साहित्य और उसकी दार्शनिकता को उतनी लोकप्रियता न मिली जितनी मिलनी चाहिए थी। सम्भवतः दर्शन की सूक्ष्म और तत्व निरूपण सम्बन्धी बातें पुराणों के माध्यम से कही जाने लगीं। यह पुराणों का ही फल है कि हिन्दू धर्म में भक्ति की रसधारा प्रवाहित हुयी जिसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म की अनेक शाखायें देखी जाती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं हुआ कि हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धान्त परिवर्तित कर दिये गये या कोई नवीन धर्म हो गया। ज्ञान की शुष्क और कठोर चिन्तन की अपेक्षा भक्ति में सहजता, सरलता, स्वाभाविकता और उत्साह दिखाई दिया। सूक्ष्म, गुह्य, परम तत्व जो अद्वैत और निर्गुण है वही पुराणों के माध्यम से अनेक देवी-देवताओं के रूप में प्रकट किया जाने लगा। इनमें से प्रमुख हैं कृष्ण, राम, शिव, गणेश एवं काली। अवतार-वाद को स्वीकार किया गया। अनेक अवतारों की कल्पना की गई। पुराणों में

---

1. गीता—16/4-18।

साहित्य, इतिहास, काव्य, दर्शन, ईश्वरीय शास्त्र सब का मिश्रण देखा जाता है। महाभारत, रामायण और भागवत धर्म ग्रंथ इतिहास और साहित्य एक साथ ही हैं। अठारह पुराणों का धर्म की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्व है क्योंकि इन्हीं के आधार पर हिन्दू धर्म की अनेक शाखाएँ बनीं। मूल रूप से वैष्णव धर्म, शैव धर्म एवं शाक्त धर्म हिन्दू धर्म में विशेष स्थान रखते हैं। वैष्णव धर्म में कृष्ण शाखा और राम शाखा का प्राधान्य है। कृष्ण या राम परम ब्रह्म हैं, उनसे एकत्व प्राप्त करने का एकमात्र साधन भक्ति है। दक्षिण भारत में 11वीं शताब्दी में आलवार भक्तों ने भक्तिधारा प्रवाहित की। पुनः पन्द्रहवीं सदी के अन्त में महाप्रभु चैतन्य ने बंगाल में नवद्वीप से कृष्ण-प्रेम को कीर्तन-भजन के माध्यम से देश के कोने-कोने में फैला दिया। इसी कृष्ण भक्ति-धारा का फल यह हुआ कि अनेक भक्त-सन्त एवं कवि उत्पन्न हुए—जयदेव, विद्यापति चण्डीदास, तुकाराम, सूरदास, मीरा आदि। चार वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना हुयी। श्री सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, सनकादि सम्प्रदाय और रुद्र सम्प्रदाय। कृष्ण शाखा की तरह राम शाखा का भी प्रादुर्भाव हुआ है। क्योंकि विष्णु के अवतार के रूप में ही इनको माना जाता है। राम त्रेता युग के अवतार हैं और कृष्ण द्वापर युग के। राम की कथा का वर्णन सर्वप्रथम बाल्मीकि रामायण में मिलता है। बाल्मीकि आदि कवि माने जाते हैं। राम मर्यादा के रूप में माने जाते हैं। 11वीं शताब्दी में रामानुज ने राम और कृष्ण दोनों को विष्णु के अवतार के रूप में माना है। 14वीं शताब्दी में रामानन्द ने राम के देवत्व को स्वीकार किया। और उनसे उनके शिष्य कबीर ने शिक्षा ग्रहण की। सिक्खों के धर्म ग्रंथ 'गुरुग्रंथ साहेब' में राम की चर्चा की गई है। महाप्रभु चैतन्य ने 'राम' और 'हरि' को अपने कीर्तन में एक साथ ग्रहण किया है। बंगाल में कीर्तिवास ने 14वीं शताब्दी में राम की उपासना को प्रसिद्धी दी। उनका रामायण बंगला भाषा में आज भी अधिकांश लोगों द्वारा पढ़ा जाता है। हिन्दी में तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' लिख कर सम्पूर्ण देश में राम की उपासना को सबसे अधिक महत्व दिया है। आज रामचरित मानस का घर घर में पाठ होता है। अरनोल्ड ने जैसा कहा है कि धर्म का संस्पर्श संवेग से होना चाहिए, उनका यह कथन हिन्दू धर्म में पौराणिकता से चरितार्थ हुआ है। वेदों का यज्ञ-याग, बलि, कर्मकाण्ड और मूढ़ तत्व दर्शन अब जनता के हृदय से सम्बन्धित हो गया।

विष्णु पूजा के समान ही हिन्दू धर्म में एक अन्य देव की पूजा भी प्रचलित हुयी जो अनेक रूपों में और चरित्रों में प्रसिद्ध है। वह देव हैं शिव ! शिव का महत्व विष्णु से कम नहीं है। हिन्दू विष्णु और शिव की पूजा समान रूप से करते हैं। यह माना जाता है कि विष्णु और शिव एक ही परमसत्ता के दो रूप हैं। एक रक्षक और दूसरा विनाशक। जिस प्रकार सृष्टि आवश्यक है उसी प्रकार विनाश भी। दयालु ईश्वर के विनाश की क्रिया को शिव या शुभ के नाम से अभिहित किया गया है। शिव सृष्टि-कर्त्ता और विनाश-कर्त्ता दोनों हैं। वह

काल (समय) तथा मृत्यु के स्वामी हैं, इसीलिए महाकाल कहा जाता है। उन्हें महेश्वर भी कहा जाता है। शिव त्याग और संन्यास के प्रतीक हैं। आशुतोष हैं।[1] शीघ्र ही प्रसन्न होकर भक्तों को वरदान देने वाले हैं। शिव को लिंग के प्रतीक के रूप में रखा गया है। सम्पूर्ण देश में शिव मन्दिर से अधिक किसी देव का मन्दिर नहीं प्राप्त होता। प्रत्येक गाँव और शहर में शिव मन्दिर मिलेंगे तथा उनमें शिव लिंग की स्थापना होगी। हिन्दू धर्म में शिव अत्यधिक लोकप्रिय हैं। कहा जाता है कि शिव पूजा की बहुत बड़ी प्रेरणा शंकराचार्य से प्राप्त हुई। शंकराचार्य हिन्दू धर्म के सबसे बड़े व्याख्याता और प्रचारक थे। जैन तथा बौद्ध धर्म को समूल नष्ट कर देने तथा हिन्दू धर्म को संरक्षित करने के लिए अद्वैतवादी होते हुए भी भारत की चारों सीमाओं पर चार मठों की स्थापना की। हिन्दुओं में यह भी प्रचलित है कि शंकराचार्य शंकर के अवतार थे। शंकराचार्य दक्षिण भारत के नम्बूदरी ब्राह्मण थे। 9वीं शताब्दी में मनिक्का बाकागार ने जो एक तामिल भक्त कवि थे, वैष्णव भक्तों और कवियों की तरह शिव की स्तुति-गान की। उन्होंने शिव भक्ति को अनुपम ढंग से प्रस्तुत किया है। कश्मीर में शैवधर्म 9वीं शताब्दी तथा 10वीं शताब्दी में फैला। वहाँ इसकी दो शाखाएँ हैं—स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञशास्त्र। स्पन्दशास्त्र सम्प्रदाय के संस्थापक वसुगुप्त तथा कल्लर हैं तथा प्रत्यभिज्ञ के संस्थापक सोमनन्द हैं। इन शैव भक्तों ने वैष्णवों की तरह शिव भक्ति को इतना अधिक महत्व प्रदान किया कि शिव महादेवों की श्रेणी में माने जाने लगे और सम्पूर्ण देश में शिव भक्ति की लहर फैल गई। इसी का परिणाम है कि शिव के साथ शक्ति की पूजा भी अनिवार्य हो गयी। यह माना जाने लगा कि शिव, शक्ति के बिना शव हो जाते हैं।

शिव की पत्नी की पूजा अनेक नामों और रूपों में की जाने लगी। इस प्रकार शिव की शक्ति की पूजा करने वाले शाक्त कहे जाने लगे और फिर हिन्दू धर्म में शाक्त धर्म का भी उद्भव हुआ। शाक्त धर्म भी प्राचीन और सर्वव्यापक है। शाक्त की आराधना केवल भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी पायी जाती है। प्राचीन बाइबिल में 'अशटोरेथ' को एक प्रजनन की देवी के रूप में माना जाता है। वह सृष्टि और विनाश की शक्ति है ठीक इसी शक्ति की समानता, काली या दुर्गा जो शिव की पत्नी हैं से मिलती है। दुर्गा जगन्माता हैं। महाकाली भी हैं।

---

1. लिंग का अर्थ 'अमरकोष' के अनुसार है—लिंग और चिन्ह (लिंग चिन्ह सेप्ययो:) मेदिनी कोष के अनुसार—शिव का एक रूप, न्याय शास्त्र के अनुसार 'कारण'। नि:संदेह शिव विश्व के कारण हैं। महाभारत में (अश्वमेघ पर्व) लिंग को आध्यात्मिक वस्तु माना गया है—'प्रजनो सर्वभूतानाम् उपास्थोऽध्यात्य-मुच्यते'।

सभी धर्मों में ईश्वर को विभिन्न मानवी सम्बन्धों में से माना गया है। यहूदी पिता के रूप में वैष्णव और सूफी प्रेमिका के रूप में[1] मानते हैं। उपनिषदों में आत्मा को पुत्र, धन तथा संसार की अन्य वस्तुओं से भी अधिक प्रिय माना गया है। परन्तु हिन्दू धर्म में ईश्वर को माता के रूप में भी माना गया है। इस मातृभाव में सुरक्षा, प्रेम तथा शक्ति की भावना निहित है। शाक्त धर्म में देवी की आराधना के कई तरीके अपनाये जाते हैं। नर बलि से लेकर पंच प्रकार[2] तक का उपयोग किया जाता है। तन्त्रशास्त्र में बाममार्गी एवं दक्षिण मार्गी साधकों का उल्लेख मिलता है—जिनमें बाम मार्गी मॉस, मदिरा, मैथुन आदि साधनों का उपयोग करते हैं। बंगाल और असम के तन्त्रवादियों ने जिन्होंने शक्ति की उपासना को महत्व दिया, इन साधनों का उपभोग किया है। परन्तु दूसरी ओर एक ऐसा भी वर्ग मिलता है जो शक्ति की उपासना केवल मातृभाव से करता है। वीर भाव की साधना अत्यन्त कठिन है। इसमें साधक पतित भी हो सकता है। शक्ति साधना में धीरे-धीरे बौद्धिकता एवं आध्यातिमकता का भी प्रवेश हुआ, जिसके फलस्वरूप बलि और कर्मकाण्डों की आवश्यकाता प्रतीत नहीं हुई। इसके उदाहरण सन्त रामप्रसाद के भागवती गीत से मिलते हैं। कमलाकान्त और रामप्रसाद के गीतों में शुद्धाभक्ति ही दृष्टिगत होती है। सबसे अद्‌भुत उदाहरण तो दक्षिणेश्वर के अवतारी पुरुष श्री रामकृष्ण के जीवन और साधनाओं से मिलता है, जिन्होंने जगन्माता से शुद्धाभक्ति की। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि भागवती माता के चरणों में शुद्धाभक्ति से ही उनकी कृपा प्राप्त हो जाती है। उनको प्रसन्न करने के लिए बलि तथा कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है।

अन्य धर्मों की भाँति हिन्दू धर्म में भी देव स्थानों का दर्शन आवश्यक है। निश्चित तिथियों पर तीर्थ स्थानों का दर्शन, स्नान पूजन, व्रत, उपवास, कीर्तन-भजन आदि क्रियाएँ हिन्दू धर्म के आवश्यक अंग हैं। संभवतया धर्म की क्रियायें ही उसकी गतिशीलता के तत्व हैं। हिन्दू धर्म सनातन धर्म है। उसकी सनतता, गतिशीलता इन्हीं तत्वों के कारण ही बनी हुई है। ऐसा नहीं है कि इस धर्म में गतिरोध न आया हो, इसमें बुराइयाँ न उत्पन्न हुई हों या उनका विकृत रूप उभड़कर न आया हो। इसमें कुछ दोष समय के साथ आते रहते हैं। इसके लिए धर्म सुधारकों ने बीच-बीच में प्रयास भी किये हैं, प्रतिक्रियाएँ भी हुई हैं, बाह्य आक्रमण भी हुए हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग में युग की मनोवृत्ति के अनुरूप हिन्दू धर्म को गढ़ने के

1. ईश्वर प्रेम की प्राप्ति पंच भाव से की जाती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव। साधक इनमें से किसी एक या सभी भावों से साध्य ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है।
2. मांस, मदिरा, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा।

लिए बड़े-बड़े सुधारक उत्पन्न हुए। ब्राह्मण समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं का उद्भव हुआ। इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दू धर्म में विकृतियाँ आ चुकी थीं। धर्म में निहित अर्थ को हिन्दू जनता भूल चुकी थी। धर्म के क्षेत्र में रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास का पूर्णतया प्रवेश हो चुका था। धर्म रसोईघर तक ही सीमित हो गया था। खान-पान या कुछ निश्चित नियमों के पालन तक ही धर्म का लक्ष्य हो गया था। वेद-उपनिषद और वेदान्त की साधना के स्थान पर धनिक वर्ग को मन्त्र-दान करके धनोपार्जन करना, उनकी प्रशंसा करना धर्म वन चुका था। देश में विदेशी शासन के कारण ईसाई धर्म का प्रवेश हो गया और ईसाई धर्म प्रचारकों ने हिन्दू धर्म की निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया। इधर ईसाई धर्म का प्रचार और उधर हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाओं में ही आपस में द्वन्द्व कि साकार-निराकार की उपासना में कौन श्रेष्ठ है? इसके निर्णय में हिन्दू धर्म सिर धुन रहा था। विदेशी साहित्य धर्म और दर्शन से प्रभावित, अंग्रेजी भाषा और सभ्यता के रंग में रंगे वर्तमान सरकार को प्रसन्न करने वाले देश के धनी-मानी व्यक्ति अपने ही धर्म और समाज को घृणा की दृष्टि से देखने लग गये। नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अपने ही देश के पढ़े-लिखे नवयुवक विदेशी बन गए। पाश्चात्य विचारधारा के प्रवेश से भौतिकवादी जीवनादर्श प्रवल हो रहा था। फलस्वरूप देश की आध्यात्मिक चेतना सदेहवाद और अज्ञेयवाद के चंगुल में छटपटा रही थी। मूर्तिपूजा घृणा और अनादर का विषय होकर तिरस्कृत की जाती थी, ऐसे समय में पुनर्जागरण की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक समाज और धर्म सुधारक-प्रचारक आये। ब्रह्म समाज की स्थापना हुई। राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्र-नाथ टैगोर, केशव चन्द्र सेन आदि के प्रचार-कार्य कुछ शिक्षित लोगों तक ही सीमित रह गए। स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्य समाज के साथ आए और हिन्दू जनता को वेदों की ओर लौट जाने की प्रेरणा दी परन्तु वह कार्य-सिद्धि में सफल न हो सके। आर्य-समाज कर्म-काण्ड तथा आचार तक ही सीमित रह गया। इसी प्रकार अन्य आन्दोलन भी सामाजिक सुधारों एवं विधि-निषेधों तक रह गए। कहना न होगा कि इन संस्थाओं से कुछ सामाजिक सुधार हुए और धार्मिक क्रिया-कलापों को बल मिला परन्तु हिन्दू जनता को जिस धर्म की आवश्यकता थी, जिससे वह विलग हो गयी थी, जिसकी क्षुधा और पिपासा से वह त्रस्त थी वह नहीं मिल रहा था। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में ऐसे समय में तो "एक ऐसे व्यक्ति के उत्पन्न होने का समय आ गया था जो शंकराचार्य के महा बुद्धि एवं चैतन्य देव की तरह अद्भुत विशाल हृदय रखता हो। जो समस्त जीवों में उसी एक ईश्वरीय आत्मा को क्रिया-शील देखता हो, जो समस्त लोगों में वही ईश्वर देखता हो, जिसका हृदय दीन-दुखियों के लिए व्याकुल हो जाय, भारत या भारत से बाहर जो नीच, दुर्बल एवं

पददलित लोग हैं, उनके प्रति कष्ट का अनुभव करने लगे ; साथ ही जिनकी महान बुद्धि भारत एवं भारत से अन्यत्र देशों में विभिन्न संघर्ष-युक्त सम्प्रदायों में समन्वय के उच्च विचारों को धारण करती हो तथा सार्वभौम धर्म के अद्भुत समन्वय को मानसिक एवं हार्दिक रूप से वास्तविकता में परिणत करें।"[1] ऐसा व्यक्ति दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर का निरक्षर ब्राह्मण पुजारी श्री रामकृष्ण था। इसी श्रीरामकृष्ण ने ही जीसस क्राइस्ट की तरह हिन्दू धर्म में नवीनता उत्पन्न की। जैसे यहूदी धर्म की नवीन व्याख्या करके क्राइस्ट ने ईसाई धर्म की स्थापना की उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण ने हिन्दू धर्म पर किए गये पराक्षेप का अनावरण करके एक विश्व धर्म की स्थापना की। श्री रामकृष्ण ने ही हिन्दू धर्म की स्थापना की। श्रीरामकृष्ण ने ही हिन्दू धर्म की आत्मा को पहचाना पण्डित नहीं ऋषि की तरह आत्मानुभूति करके हिन्दू धर्म का साक्षात मूर्तिमान रूप ग्रहण किया। इनके पहले के जननायक, सुधारक और संस्था के संस्थापक भले ही थे परन्तु धर्म में उनका अन्तः प्रवेश नहीं हो सका था। उनका कार्य समाज-सुधार था। वह कुछ अंशों में किया परन्तु धर्म को बिना आत्मसात किए जनता को समझाना सम्भव नहीं था। ब्राह्मसमाज और आर्य समाज के महान पण्डितों से श्रीरामकृष्ण का भेद प्रकट करते हुए श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' में बड़े ही स्पष्ट और स्वतन्त्र भाषा में कहा है कि "ब्रह्म समाज की भक्ति ज्ञान की नोक से उठायी हुयी चीज थी। उद्देश्य ब्रह्म समाजियों का सामाजिक सुधार था; किन्तु अखाड़ा उन्होंने धर्म का चुना था। असल में ईसाइयों के मुख से अपने धर्म की निन्दा सुनते-सुनते वे लजा गये थे, किन्तु किसी प्रकार हिन्दुत्व की इज्जत ढकने के लिए उन्होंने धर्म का एक साधन खड़ा कर लिया था और अपने धर्म पर अचल विश्वास न रहने के कारण वे अधिकाधिक ईसाइयत की ओर ढुलके जा रहे थे। वस्तुतः उनका विश्वास हिन्दू ईसाई का विश्वास था। ऐसे लोगों में भक्ति की आकुलता उत्पन्न कहाँ से होती ?

राममोहन राय, दयानन्द तथा केशव चन्द्र को यह दिखाई पड़ा कि हिन्दुत्व का समय रूप रक्षित होने के योग्य नहीं है। निदान ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना जिसका अख्यान वेदों में मिलता है अर्थात् जिसमें मूर्ति पूजा नहीं है जिसमें तीर्थ व्रत, अनुष्ठान और श्राद्ध-पद्धति का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग-नरक, देवी-देवता कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार राममोहन राय ने उपनिषदों का पल्ला थामा और वे अद्वैत को लेकर बैठ गये। किन्तु हिन्दुत्व इतना ही नहीं है। उसके अन्दर उन समस्त विश्वासों का भी स्थान है जो अपार हिन्दू जनता के हृदय में घर किए हुए हैं। सच पूछिए तो दयानन्द और राममोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की, वह हिन्दुत्व का एक खण्ड मात्र था। यही कारण था

1. स्वामी विवेकानन्द—कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द।

कि दयानन्द तथा राममोहन राय की ओर जनता का विशाल भाग उत्साह से नहीं दौड़ा। थियोसॉफी और आर्य समाज ने भी कार्य किया परन्तु जनता का मुक्त सहयोग किसको कहते हैं वह इन तीनों आन्दोलनों में किसी को नहीं मिला। हिन्दू और थियोसॉफी पंडित ईसाई और मुस्लिम पंडितों से विद्या का विवाद कर रहे थे; किन्तु जनता इस विवाद से रस लेने को तैयार नहीं थी।

भारतवर्ष की परम्परा है कि यहाँ की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। पंडितों का वह सत्कार करती है उनकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं हैं। हाँ कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नहीं खुलता, न मोटी-मोटी पोथियाँ रच देने से धर्म किसी के समझ में आता है। दयानन्द, राममोहन राय तथा एनी-बीसेंट के प्रचारों से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू धर्म निन्दनीय नहीं वरेण्य है, किन्तु जनता तो यह देखना चाहती थी कि धर्म का जीता जागता रूप कैसा होता है। धर्म का जीता जागता रूप उसे तब दिखायी पड़ा जब परमहंस श्री रामकृष्ण का आविर्भाव हुआ।"[1]

श्री दिनकर जी के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि हिन्दू धर्म की प्राचीनता में नवीनता उत्पन्न करने वाले संत और आत्मज्ञ महापुरुष श्री रामकृष्ण ही हुए, जिन्होंने प्राचीन हिन्दू धर्म को ही चिर नवीन बनाकर विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। दिनकर जी ने तत्कालीन धर्म-सुधारकों और प्रचारकों तथा श्री राम-कृष्ण के बीच पंडित और सन्त का भेद माना है। इसी आधार पर उन्होंने श्री राम कृष्ण की कुछ मूलभूत विशेषताओं पर इस प्रकार प्रकाश डाला है--दयानन्द भारतीय परम्परा के उद्‌भट पंडित और विद्वान थे, किन्तु रामकृष्ण बहुत कुछ अनपढ़ मनुष्य थे। दयानन्द, राम मोहन राय और केशव चन्द्र मैदान में इसलिये आये थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी। किन्तु श्री रामकृष्ण को किसी भी धर्म वालों के प्रति कोई आक्रोश नहीं था। दयानन्द, राममोहन राय और केशवचन्द्र संस्कृति के आन्दोलनकारी नेता थे, किन्तु श्री रामकृष्ण को आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं था। वे अपनी बातें सुनाने के लिये आश्रम से बाहर नहीं गये, न हिन्दुओं से उन्होंने कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है। उन लोगों को विद्या की प्राप्ति हुयी थी; परन्तु श्री रामकृष्ण को अनुभूति की प्राप्ति हुई थी। यह उनके जीवन से ही प्रकट होता है।[2] इससे यह सिद्ध होता है कि श्री रामकृष्ण धर्म सुधारक, प्रचारक, दार्शनिक या विद्वान् नहीं थे। वे धर्म को तोड़ने, नष्ट करने

---

1. पृ० 575।
2. वही, पृ० 575, 76।

नहीं आये थे, वरन् जीसस क्राइस्ट की तरह धर्म को गढ़ने और पूरा करने आये थे। ब्राह्म समाजी और आर्य समाजी हिन्दू धर्म का जहाँ एक ओर सुधार कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर उसको तोड़ रहे थे। स्वामी दयानन्द ने वेदों के अर्थों को तोड़ने-मरोड़ने का कार्य किया और किसी प्रकार एक नये सम्प्रदाय की स्थापना का प्रयास किया। इन धर्म सुधारकों ने ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू धर्म की गई निन्दा के कारण मूर्ति पूजा जो हिन्दू धर्म का जीवन आधार है को ही तिलांजलि देना प्रारम्भ कर दिया। तीर्थ, व्रत, श्राद्ध-पद्धति, स्वर्ग-नरक, अवतारवाद, देवी-देवता, आदि को हिन्दुत्व से निकाल कर धर्म को नष्ट कर रहे थे। कुछ लोग हिन्दू धर्म को केवल अद्वैत ही मानते थे। शेष भाग नष्ट करके ही हिन्दू धर्म को संरक्षित समझते थे। धर्मों में विभेद करना भी उनका लक्ष्य था। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्म को अलग-अलग रखकर विवाद उत्पन्न करना उनका लक्ष्य हो गया था। सब कुछ मिलाकर यही देखने में आता है कि हिन्दू धर्म जो टूट रहा था या उसमें जो युगानुकूल कमियाँ थी उनकी पूर्ति श्रीरामकृष्ण ने की। उन्होंने ही धर्म को गढ़ा। श्री रामकृष्ण ने ही वेद, उपनिषद, गीता, पुराण, स्मृति, साकार-निराकार ज्ञान, भक्ति, कर्म वैष्णव, शाक्त, सेवा-त्याग, तर्क अनुभूति गार्हस्थ्य सन्यास, सनातन, नवीनता सिद्धान्त व्यवहार, अद्वैता द्वैत, ईश्वर-जगत देवी पूजा नारी पूजा सभी उनकी साधना की प्रयोगशाला में इस प्रकार हो गये कि उनको हिन्दू धर्म का अवतार कहना उसी प्रकार सत्य सिद्ध हो गया जिस प्रकार की क्राइस्ट के प्रति यहूदियों के इतने अत्याचार और विरोधों के बाद भी विश्व को उन्हें ईश-पुत्र, ईश-दूत या अवतार मानना पड़ा।

---

3 | जैन धर्म

जैन धर्म और उसके संस्थापक—

जैन धर्म का अर्थ है, 'जिन' के अनुयायियों का धर्म । 'जिन' का अर्थ है, आध्यात्मिक विजय प्राप्त करने वाला । अर्थात् जिसने अपनी इन्द्रियों, वासनाओं तथा समस्त विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है, उसे 'जिन' कहते हैं । अतः 'जिनों' द्वारा दिए गए उपदेशों, शिक्षाओं और सिद्धान्तों को जैन धर्म कहा जाता है । इस धर्म का आविर्भाव उत्तर वैदिक काल से माना जाता है । जहाँ तक इसके संस्थापक का प्रश्न है, इस सम्वन्ध में चौबीस तीर्थंकर (गुरु या मार्गदर्शक अथवा 'जिन') का उल्लेख मिलता है । 'तीर्थंकर' मुक्त पुरुष होते हैं । बन्धन से परे और मोक्ष को प्राप्त होते हैं । इनके उपदेशों और शिक्षाओं पर चलने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । ऐसे तीर्थंकरों में सर्वप्रशम तीर्थंकर ऋषभदेव माने जाते हैं । तीर्थंकर की संख्या चौबीस बतायी जाती है । तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे और चौबीसवें भगवान महाबीर थे । जैन धर्म का विकास और प्रचार इन्हीं के द्वारा किया गया । इन्हीं के उपदेशों और शिक्षाओं से जैन धर्म का रूप स्पष्ट होता है । इन्हें जैन धर्म का उद्धार कर्त्ता भी कहा जा सकता है । महाबीर स्वामी इस धर्म के प्रवर्तक नहीं पुनरुज्जीवित करने वाले माने जाते हैं ।

भगवान महावीर स्वामी का जन्म राज्य-परिवार में 510 ई० पू० के लगभग उत्तरी बिहारी के कुण्डग्राम नामक स्थान में हुआ था । इनके पिता का नाम सिद्धार्थ तथा माता का नाम त्रिशला था । इनका बचपन का नाम वर्धमान था । आजकल इनका जन्म स्थान बिहार में वैशाली के नाम से प्रसिद्ध है । वर्धमान ने 30 वर्ष तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया । इसके पश्चात् गृहस्थी त्याग कर सन्यासी का कठोर जीवन व्यतीत किया । 12 वर्ष तक कठोर तपस्या करने के पश्चात् इन्हें 'केवल' ज्ञान प्राप्त हुआ । ज्ञान प्राप्त होने पर उन्होंने 30 वर्ष तक अपने अनुभव, ज्ञान तथा उपदेश का प्रचार किया । 72 वर्ष की अवस्था में पावा नगरी में 408 ई० पू० में निर्वाण की प्राप्ति की । वर्धमान को 'महावीर' इसलिए कहा जाता है कि उन्होंने ज्ञान प्राप्त करके अपनी वासनाओं, राग-द्वेष आदि विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त की । ऐसे विजयी या ज्ञानी को महावीर भी कहा जाता है और भगवान भी, क्योंकि इनमें ईश्वर जैसे गुण आ जाते हैं । जैन धर्म में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की तो मान्यता नहीं है, परन्तु मानवीय गुणों को ही ईश्वर कोटि तक पहुँच जाने पर मनुष्यों के बीच

का ही ज्ञान प्राप्त महापुरुष ईश्वर जैसा हो जाता है। तीर्थंकर ईश्वर नहीं मनुष्यों में से ही होते हैं, जो ईश्वर तुल्य कहे जाते हैं। जैनी इनकी पूजा-अर्चना करते हैं।

जैन धर्म चूँकि महावीर स्वामी के समय से ही पुनरुज्जीवित और प्रचलित हुआ, इसलिए इन्हें ही इसका प्रवर्तक माना जाने लगा। वैसे ऋषभदेव आदि प्रवर्तक हैं और महावीर स्वामी उद्धारकर्त्ता के रूप में अन्तिम प्रवर्तक माने जाते हैं। चूँकि यह धर्म बौद्ध धर्म की तरह मिशनरी नहीं था, इसलिए इसका प्रचार बाहर नहीं हुआ। भारत तक ही यह धर्म सीमित रहा। इस धर्म की यह विशेषता है कि इसकी पहचान अब भी अपनी परम्परा, संस्था तथा सिद्धान्तों के बने रहने के कारण सुरक्षित है।

जैन धर्म के मुख्य दो सम्प्रदाय हैं—एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोग सफेद वस्त्र धारण करते हैं। दूसरे सम्प्रदाय के लोग बिना वस्त्र धारण किए हुए नग्न रूप में विचरण करते हैं। इनके सिद्धान्त में संग्रह चाहे किसी वस्तु का ही क्यों न हो स्वीकार नहीं है। इसीलिए ये लोग लँगोटी तक भी नहीं धारण करते। इन दोनों सम्प्रदायों में अहिंसा की दृष्टि से कोई मतभेद नहीं है। चाहे श्वेताम्बर साधु हो या दिगम्बर, अहिंसा का पालन पूर्ण रूप से करते हैं।

जैन साहित्य के विषय में यह कहा जाता है कि जो भी साहित्य आज वर्तमान है, वह भगवान महावीर के उपदेश हैं। उनके उपदेश गणधरों ने ग्रन्थ के रूप में रचा है। जैनों का प्रारम्भिक दार्शनिक साहित्य प्राकृत भाषा में मिलता है परन्तु बाद की रचना संस्कृत भाषा में है। 'तत्वर्थाभिगम सूत्र' संस्कृत में महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो दोनों सम्प्रदायों को मान्य है। वैसे जैन धर्म का साहित्य विशाल है।

जैन धर्म की मूलभूत विशेषताएँ

1—जैन धर्म अवैदिक धर्म का प्राचीन रूप है। स्वतन्त्र चिन्तन का फल है। पशु-यज्ञों की निन्दा करने वाला, रूढ़िवादी विचारों का विरोध करने वाला तथा किसी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में विश्वास न करने वाला धर्म है। यह नास्तिक धर्म कहा जाता है, क्योंकि वेदों में आस्था नहीं रखता। इसके अनुसार यह संसार किसी ईश्वर द्वारा सृष्ट नहीं है। सृष्टि का अस्तित्व और कार्य स्वतः अपने आन्तरिक नियमों द्वारा होता है।

2—जैन धर्म शुद्ध रूप से नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करने वाला धर्म है, जो मनुष्य की उन्नति का इस सीमा तक लक्ष्य रखता है कि वह पूर्ण और ईश्वर जैसा बन जाय। यह ईश्वर में विश्वास न करते हुए मनुष्य को ही ईश्वर बनाना चाहता है। मनुष्य ईश्वरत्व को नैतिक और आध्यात्मिक विकास करके प्राप्त कर सकता है।

3—जन धर्म की नैतिक और आध्यात्मिक विकास की सीमा उसके अहिंसा के सिद्धान्त में देखी जाती है। अहिंसा इस धर्म की प्रमुख पहचान है। अहिंसा नैतिक जीवन का परम मूल्य है। यह एक सद्गुण है। अहिंसा हिन्दू धर्म में भी है परन्तु जैन धर्म ने इसे परमकोटि तक पहुँचा दिया है। मनुष्य जान-बूझ कर छोटे-से जीव तक की हत्या नहीं कर सकता। आत्म-संयम और कठोर नियन्त्रण जैन धर्म में मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

4—जैन धर्म जगत की वास्तविकता में विश्वास करता है। यह बौद्ध धर्म के विपरीत द्रव्य के स्थायित्व में विश्वास करता है। यह मानता है कि छः द्रव्यों से संसार की रचना हुई है, जिसमें पाँच भौतिक हैं और एक आध्यात्मिक या चेतन तत्व है। जैसे धर्म (गति) अधर्म (स्थिरता का सिद्धान्त), आकाश, काल और पुद्गल, ये पाँच हैं और छठा चेतन द्रव्य है, जीव।

5—द्रव्य के आवश्यक गुण होते हैं। जीव का आवश्यक गुण 'चेतना' है। सभी जीवित वस्तुओं में आत्मा होती है, परन्तु मनुष्य में आत्मा का अधिक विकास होता है। मनुष्य की आत्मा का विकास इस सीमा तक हो सकता है कि वह अनन्त शक्ति, ज्ञान तथा अनन्त आनन्द की स्थिति प्राप्त कर सकता है। जो पूर्ण चेतना की प्राप्ति कर लेते हैं। उन्हें कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है।

6—जैन धर्म पुनर्जन्म में विश्वास करता है। यह मृत्यु के परे के जीवन में भी विश्वास करता है। परे का जीवन या तो पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करने पर होता है या मोक्ष की अवस्था होती है। मोक्ष जीवन और मरण के चक्र से छुटकारा पाना है।

7—जैन धर्म अशुभ की समस्या का कारण मनुष्य के कर्मों को मानता है। मनुष्य के दुःखों का कारण उसके कर्म हैं। जैन धर्म यह मानता है कि मनुष्य का यह जन्म उसके पिछले जन्म के कर्मों का परिणाम है, जिसके कारण वह बन्धन में पड़ा हुआ है या शरीर में उसकी आत्मा आबद्ध है, जो कर्म वासना से किए जाते हैं, वे ही मनुष्य के बन्धन के कारण बनते हैं। उसी से मनुष्य पुनः जन्म धारण करता है। जैन धर्म का यह कर्म बन्धन, पुनर्जन्म और मोक्ष का सिद्धान्त हिन्दू धर्म का सिद्धान्त है, जिसे उसने ज्यों का त्यों ले लिया।

8—जैन धर्म मोक्ष के लिए किसी कर्मकाण्ड के स्थान पर नैतिक जीवन, तपस्यापूर्ण जीवन, संयम तथा व्रत को महत्व देता है। जैन धर्म का त्रिरत्न का सिद्धान्त केवली ज्ञान के लिए आवश्यक और सहायक माना जाता है। इसीलिये जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र (त्रिरत्न) पर बल दिया गया है।

9—जैन धर्म त्रिरत्न की सहायता से जीव के आस्रव (कर्म का प्रवेश आत्मा में) और 'बन्ध' (बन्धन आवागमन का चक्र) की अवस्था से मुक्त करने का आग्रह करता है। इसी से संवर (नवीन कर्मों का निरोध) और 'निर्जरा' (पूर्व जन्म से संचित कर्मों का क्षय) की अवस्था प्राप्त होती है। जीव के बन्धनभूत कर्मों के पूर्णतया नाश हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही अवस्था पूर्णतया की अवस्था है। यही मनुष्य की परमागति है। मोक्ष प्राप्त करना जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य है। इसीलिए इस धर्म. में नैतिक और आध्यात्मिक कर्मों का समावेश किया गया है। जिसमें तपस्या और कठोर अनुशासन की आवश्यकता होती है।

10—जैन धर्म एक अलौकिक पूर्णतत्व के आदर्श को सामने रखता है। हिन्दू धर्म की तरह इसमें ब्रह्म, अथवा ईश्वर को तो स्वीकार नहीं किया गया है। परन्तु पूर्णता का आदर्श स्वयं में एक सर्वोच्च पद है। इसकी प्राप्ति ही इसका लक्ष्य है। इसमें 'सप्त तत्वों' को—आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष, जीव, अजीव, महत्वपूर्ण स्थान मिला है।

11—जैन धर्म का सबसे प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद जैन धर्म का सहिष्णुता, समन्वय, सहअस्तित्व का सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस मत का आधार यह है कि "प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मों का अखंड पिण्ड है। वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उस पर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म की वस्तु में विद्यमान है। चित्त के पक्षपात की दुरभिसंधि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वहीं लहरा रहा है।"[1]

जैनागम में हाथी को अन्धों द्वारा पहचानने की कथा अनेकान्तवाद में निहित इसी तथ्य को प्रकट करती है। जैन दर्शन का यह बौद्धिक अहिंसा का सिद्धांत है। धर्म की दृष्टि से जीवन, नैतिकता और मानव-अस्तित्व का यह अनुपम सिद्धान्त है।

12—जैन धर्म में अनेकान्तवाद का विकसित रूप स्याद्वाद में मिलता है। स्याद्वाद अनेकान्त चिन्तन की अभिव्यक्ति की एक शैली है। स्याद्वाद के अनुसार, 'सच्चा अहिंसक यह नहीं कहेगा कि यह बात सत्य है", उसके मुख से यही निकलेगा कि 'स्यात् यह ठीक है।'[2] इस प्रकार अनेकान्तवाद और स्याद्वाद जैन धर्म के विचारों और सिद्धान्तों का आधार है। बौद्धिक अहिंसा धर्म का प्रतिपादक है। धर्म की आधार भूमि के रूप में इसकी महानता स्वीकार करने योग्य है।

1—दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय—पृ० 136-37।
2—वही 137।

जैन धर्म का अनीश्वरवाद

जैन धर्म किसी सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। यह अनीश्वरवादी धर्म है। सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर की संकलपना धर्मों में आवश्यक मानी गयी है, परन्तु जैन धर्म इसके विरोध में कई तर्क प्रस्तुत करता है—

1—कहा जाता है कि ईश्वर इस जगत का कारण है और यह जगत उसी की रचना है। जैनियों का तर्क है कि यदि जगत को कारण के रूप में किसी कर्त्ता (ईश्वर) की आवश्यकता होती है तो यही प्रश्न ईश्वर के विषय में भी किया जा सकता है कि उसे किसी कारण की आवश्यकता क्यों नहीं है? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर जगत का पर्याप्त कारण है, उसे किसी की आवश्यकता नहीं है तो जगत के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि वह अपने आन्तरिक नियमों और तत्वों से स्वतः अस्तित्व में है। उसे किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

2—जैन धर्म न्याय के इस तर्क का भी खंडन करता है कि ईश्वर मनुष्य के कर्मों के अनुसार शुभ या अशुभ (दण्ड) फल देता है। इसके अनुसार नैतिक जगत स्वतः कर्म के नियम के अनुसार शासित होता है। इसके लिए किसी बाहरी सत्ता (ईश्वर) की आवश्यकता नहीं है।

3—जैन धर्म वाह्य सत्ता के रूप में ईश्वर का खंडन इस आधार पर भी करता है कि ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य स्वयं एक पूर्ण सत्ता है। मनुष्य जगत का स्रष्टा तो अवश्य नहीं है परन्तु तत्वतः वह अपने में पूर्ण है। वह अनन्त शक्ति, ज्ञान, विश्वास और आनन्द प्राप्त करने की क्षमता रखता है। वह अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति कर सकता है। वह ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है। यदि ईश्वर है तो मनुष्य के रूप में ही है। जैन धर्म मनुष्य के रूप में ईश्वर की बात करता है और कहता है कि जो तीर्थंकर, केवली तथासिद्ध हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर ली है, जो पूर्णतः को प्राप्त कर चुके हैं, वे ही ईश्वर हैं। इनमें कोई अभाव या इच्छा नहीं है। उन्होंने अपने अज्ञान तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लिया है। कैवल्य या निर्वाण की स्थिति उन्हें प्राप्त है। यह पूर्णतः की स्थिति है और यही पूर्ण मनुष्य ही ईश्वर है।

इन तर्कों के आधार पर जैन धर्म ईश्वर को अस्वीकार करता है और अनीश्वरवाद की श्रेणी में आता है। अब प्रश्न है कि क्या अनीश्वरवादी धर्म को धर्म की संज्ञा दी जा सकती है। धर्मों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि ऐसे अनेक धर्म हैं, जिनमें ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है, परन्तु उन्हें धर्म की संज्ञा दी जाती है। गैलवे ने अपनी धर्म दर्शन की पुस्तक में यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अनीश्वरवादी धर्मों को भी किसी-न-किसी रूप में ईश्वर जैसी

सत्ता को स्वीकार किया जाता है उसी की धार्मिक भावना, भक्ति, उपासना, पूजा, प्रार्थना आदि को प्रदर्शित किया जाता है। जिससे धार्मिकता की पूर्ति होती है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों अनीश्वरवादी हैं, परन्तु इनमें धर्म के संस्थापक या महापुरुष ही धार्मिकता के आधार बन जाते हैं। जैन धर्म तीर्थंकर को ही पूर्ण, मुक्त, या जिन मानते हैं और जैन मन्दिरों में इन्हीं की आराधना और पूजा होती है। अतः जैन धर्म अनीश्वरवादी होते हुए भी धर्म कहा जाता है।

धर्म से अभिहित किए जाने वाले अनीश्वरवादी मतों को नैतिकता तथा मानव मूल्यों को संरक्षण देने के कारण भी मान्यता मिली हुई है। यदि जैन धर्म को देखें तो उसमें पंच महाव्रत जैसे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को स्वीकार किया गया है। इनसे ही चरित्र और पूर्णजीवन का मार्ग प्रशस्त होता है। जैन धर्म की आचार मीमांसा मानवीय मूल्यों का सर्वोत्कृष्ट रूप है। यदि धर्म में मूल्यों का स्थान है तो जैन धर्म मूल्य के संरक्षण के कारण अनीश्वरवादी होते हुए भी धर्म कहा जाता है।

यदि यही कहा जाय कि बिना ईश्वर की मान्यता के धर्म में प्रगति नहीं हो सकती और धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता, तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जैन धर्म में महावीर स्वामी तीर्थंकर से रूप में हैं और तीर्थंकर ईश्वर तुल्य ही माना जाता है। महावीर स्वामी की पूजा ईश्वर के रूप में होने के कारण इस अभाव की पूर्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में जैन धर्म अनीश्वरवादी होते हुए भी धर्म की श्रेणी में आता है। जैन धर्म मनुष्य के स्वावलम्बन पर बल देता है। यह आशावादी है। उसकी यह मान्यता कि मनुष्य में तात्विक शक्ति विद्यमान है और वह अपनी शक्ति का विकास इस सीमा तक कर सकता है कि वह ईश्वर जैसा बन जाय। वह तीर्थंकर के उपदेश और मार्ग-दर्शन से पूर्णता की प्राप्ति कर सकता है।

जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्य—(मोक्ष के मार्ग)—

जैन धर्म सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक भी है। यदि धर्म क्रिया की वस्तु है तो जैन धर्म मनुष्य को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मार्ग का निर्धारण करता है। यह केवल उपदेश मात्र नहीं है। तीर्थंकर 'त्रिरत्न' का उपदेश करते हैं। त्रिरत्न है—1–सम्यक् दर्शन, 2–सम्यक् ज्ञान और 3–सम्यक् चरित्र। मनुष्य अपने गन्तव्य मोक्ष की प्राप्ति केवल एक से नहीं, इन तीनों के सहयोग से कर सकता है। सम्यक् ज्ञान बिना सम्यक् दर्शन या विश्वास के संभव नहीं और सम्यक् चरित्र बिना सम्यक् ज्ञान के नहीं हो सकता।

सम्यक् दर्शन (विश्वास)—सम्यक् दर्शन का तात्पर्य है, जैन सिद्धान्तों, तीर्थंकर के उपदेशों और शिक्षाओं में आन्तरिक विश्वास। जब तक मनुष्य को विश्वास नहीं होगा, उसे मोक्ष का मार्ग नहीं मिल सकता। मनुष्य को यह विश्वास

होना चाहिए कि हम बन्धन में हैं और बन्धन से छुटकारा मिल सकता है। मोक्ष के लिए व्यक्तिगत प्रयास आवश्यक है, और जैन सिद्धान्तों तथा तीर्थंकरों के बताए मार्ग ही सत्य हैं उनके बताए मार्ग पर चलकर ही मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है। धर्म में अविश्वास को स्थान नहीं है। यदि जैन सिद्धान्तों और बताए हुए मार्ग में किसी को विश्वास नहीं है तो वह मोक्ष की प्राप्ति नहीं करता। अतः सच्चे ज्ञान तथा चरित्र के लिए जैन मत में विश्वास करना आवश्यक है। यह विश्वास अन्ध-विश्वास नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैन दर्शन ने इतनी स्वतन्त्रता दी है कि व्यक्ति सिद्धान्तों और बताए गए मार्ग पर विचार कर सकता है। व्यक्तिगत अनुभव कर सकता है। विश्वास और ज्ञान एक साथ रह सकते हैं। विश्वास होने पर ही ज्ञान हो सकता है। जैन साधकों ने अन्ध-विश्वास के प्रति लोगों को जागरूक भी किया है। व्यक्ति अपने अनुभवों को व्यावहारिक रूप में देख सकता है, मार्ग पर चलकर अपने अनुभवों की सिद्धि कर सकता है। सम्यक् दर्शन के लिए आवश्यक है कि जैन ग्रन्थों में 'विशंकित' हो। सांसारिक सुखों के लिए 'निःकांक्षिकता' हो। आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिए 'निर्विचिकित्सा' हो अर्थात् आध्यात्मिक मार्ग की उपलब्धि में शंका न हो, आदर्श के प्रति स्पष्ट और निर्द्वन्द्वात्मक दृष्टि हो। इसी को 'समुद्धा-दृष्टि' कहते हैं। आध्यात्मिक गुणों में वृद्धि हो। इसे 'उपबृंहण' कहते हैं। सत्य का 'स्थिरीकरण' हो। सत्य के मार्ग के अनुयायियों के प्रति स्नेह (वात्सल्य) हो, और सत्य के महत्व की 'प्रभावना' हो। अर्थात् सत्य के महत्व का उपदेश किया जाय। सम्यक् दर्शन के लिए आवश्यक है कि मिथ्या दृष्टि से साधक बचे। मिथ्यादृष्टि पाँच प्रकार की हैं—शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव।

सम्यक् ज्ञान—जैन धर्म में सम्यक् ज्ञान का अर्थ है, जीव तथा अजीव के मूल तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना। सम्यक् ज्ञान से ही जीव तथा अजीव का भेद संभव होता है। सम्यक् ज्ञान मिथ्यादृष्टि के निवारण को भी कहा जाता है। विश्वास के साथ ज्ञान आवश्यक माना गया है। ज्ञान का विरोधी अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण बन्धन होता है। ज्ञान का सही रूप है, जीव और अजीव के अन्तर को जानना। इसके अभाव में पुद्गल काजों का आस्रव होता है। इस आस्रव को रोकने के लिए ही ज्ञान की आवश्यकता है। अज्ञान से जीव बन्धन में आता है। वासना से युक्त कर्म ही बन्धन का कारण है और यह कर्म अज्ञान का परिणाम है। अतः वस्तुओं में वास्तविक स्वरूप का सम्यक् ज्ञान तथा आतमा और अजीव द्रव्य के अन्तर का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान को तपस् भी कहा गया है। यही कर्मों का नाश करता है। जैन धर्म में ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान या शास्त्रीय ज्ञान ही नहीं कहा गया है। ज्ञान आन्तरिक अनुभूति है। शास्त्रीय ज्ञान या मौखिक ज्ञान मनुष्य को कुछ समय के लिए तो संसार से विरक्त कर सकता है, परन्तु आन्तरिक ज्ञान

मनुष्य को सदैव के लिए बन्धन से मुक्ति दिला सकता है। सम्यक् ज्ञान इसी आन्त-रिक ज्ञान को ही कहा जाता है। यही व्यक्ति को शुद्ध कर सकता है और उसे नियन्त्रण में रख सकता है। ऐसा ज्ञान अमृत है। यह किसी दूसरे पर निर्भर नहीं है। यह मनुष्य की अपनी उपलब्धि है।

सम्यक् चरित्र—सम्यक दर्शन और सम्यक् ज्ञान ही मोक्ष सुलभ नहीं कराता। इसके लिए सम्यक् चरित्र भी आवश्यक है। विश्वास और ज्ञान तो सैद्धा-न्तिक दृष्टि से ठीक है, व्यवहारिक रूप में उन्हें अपने चरित्र और आचरण में उतारना भी आवश्यक है। इसीलिए जैन धर्म व्यावहारिकता को महत्व देता है और मनुष्य के चरित्र पर बल देता है। सामान्यतया सम्यक् चरित्र वह व्यवहार है जो अनासक्त पर आधारित है। जैन धर्म ऐसे कर्मों की सूची देता है जो गृहस्थ और संन्यासी दोनों के लिए अलग-अलग हैं। परन्तु पाँच ऐसे कर्मों और व्रतों को बताया गया है जो सभी के लिए आवश्यक हैं। इन्हें जैन धर्म में 'पंचमहाव्रत' की संज्ञा दी गयी है। चारित्रिक उन्नति के लिए इन व्रतों का पालन आवश्यक है। व्रत का अर्थ प्रतिज्ञा करना है। यह चरित्र की उन्नति का व्रत है। इन व्रतों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य कहा गया है। इन व्रतों का मनसा- वाचा कर्मणा पालन करना चाहिए। इनकी व्याख्या अपेक्षित है।

1. **अहिंसा**—जैन धर्म की पहचान 'अहिंसा' व्रत से होती है, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्त नहीं होगी। जैन धर्म ने इसे सम्यक् चरित्र के लिए सबसे बड़ा व्रत या नियम माना है। किसी प्रकार की हिंसा को जैन धर्म में स्वीकार नहीं किया गया है। जैन धर्म के पहले भी अहिंसा को वेदों और उपनिषदों में एक नैतिक सद्गुण के रूप में मान्यता थी, परन्तु जैन धर्म की तरह अहिंसा को स्वीकार नहीं किया गया है था, क्योंकि यज्ञों में हिंसा की स्वीकृति दी गयी थी। परन्तु जैन धर्म में अहिंसा का पालन इतनी कड़ाई से किया गया कि कीड़े-मकोड़े भी जैन साधुओं के पैर के नीचे कहीं दब कर न मर जाएँ, इसका ध्यान रखा। मुख पर पट्टी बाँधना, मार्ग को इसलिए साफ करते चलना कि पैर के नीचे किसी जीव की दब कर हत्या न हो जाय, इसका ध्यान रखना जैन धर्म के पालन करने वालों के लिए अनिवार्य हो गया। यह अहिंसा धर्म के पालन की चरम सीमा कही जा सकती है।

जैन धर्म में अहिंसा का पालन केवल क्रिया में ही नहीं वाणी से भी करना अनिवार्य बताया गया। किसी व्यक्ति को शारीरिक कष्ट न पहुँचाना तो अनिवार्य है, मन के विचारों और वाणी द्वारा भी किसी के मन को दुःख नहीं देना चाहिए। प्रमाद, राग द्वेष आदि से उत्पन्न प्रभाव से भी दूसरों को कष्ट मिलता है, इसलिए यह भी हिंसा है। इस प्रकार जैन धर्म का पालन करना तपस्या है और यह कठिन कार्य है। इस तपस्या से जीवन की उन्नति होती है। चारित्रिक विकास होता है।

स्वीकारात्मक रूप में कहा जा सकता है कि अहिंसा सर्वप्रेम है। प्रेम से जीवन स्वाभाविक रूप से चलता है। कुछ लोगों के अनुसार अहिंसा को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। उनकी दृष्टि में हिंसा ही स्वाभाविक है। सभी एक-दूसरे की हत्या करते हैं। शिकार करते हैं। अपने अस्तित्व के लिए हिंसा आवश्यक है, परन्तु यह तर्क उचित नहीं है क्योंकि जितना स्वाभाविक प्रेम लगता है, उतना द्वेष और हत्या नहीं। पशु जीवन में भी प्रेम प्रधान तत्व है। सभी पशुओं में अपने बच्चों के प्रति प्रेम है। प्रेम या अहिंसा का सद्गुण मनुष्य में धीरे-धीरे विकसित होता है। अभ्यास आवश्यक है। जैन धर्म में कहा गया है कि साधारण मनुष्य कम-से-कम दो इन्द्रियों वाले जीवों तक की हत्या न करे। धीरे-धीरे अहिंसा के गुण का विकास हो जाएगा। जैन धर्म जीवों में समानता मानता है इसलिए सब के लिए अहिंसा आवश्यक और स्वाभाविक है। हम जीव को कष्ट इसलिए न दें कि उनमें असमानता है। सभी जीव मोक्ष के भागी हैं।

2. **सत्य**—जैन धर्म में अहिंसा के बाद सत्य के पालन को भी एक व्रत माना गया है। गलत विवरण देना या झूठ बोलना जीवन को अवनति के मार्ग पर ले जाता है। मनुष्य को असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। असत्य भाषण, मोह, द्वेष, राग आदि के कारण होता है। इनके रहने से हम असत्य भी बोलते हैं और बन्धन में भी पड़ते हैं। सत्य और प्रिय भाषण मनुष्य को अहिंसा के मार्ग पर ले जाता है। प्रिय बोलना आवश्यक है परन्तु असत्य प्रिय नहीं बोलना चाहिए। इस प्रकार मन में द्वेष के कारण किसी के प्रति बुरा सोचना, मानसिक हिंसा होगी। मन से न बुरा सोचना और वाणी से असत्य न बोलना ही अहिंसा होगी। जैन धर्म में सत्य के अतिचार की ओर भी संकेत किया गया है। जैसे किसी की निन्दा, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, किसी के विश्वास को डिगाना और मिथ्या उपदेश देना आदि वर्जित हैं।

3. **अस्तेय**—अस्तेय का अर्थ होता है चोरी न करना। दूसरों के धन का हड़पना या जो अपना नहीं है या जो नहीं दिया गया है, उसे ले लेना अनुचित माना गया है। धन-सम्पत्ति मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक है। किसी का धन उसका वाह्य जीवन है। अतः उसके धन को चोरी से ले लेना उसके जीवन का अपहरण करना है। यह एक हिंसा है। इससे मनुष्य का चरित्र गिरता है। अस्तेय व्रत का पालन करना चाहिए। इसके निम्नलिखित अंग हैं, जिनसे मनुष्य को बचना चाहिए—

1—चोरी करना, चोरी करने को प्रेरित करना, 2—चोरी का माल खरीदना, 3—नाप-तौल कम-अधिक करना, 4—वस्तु का क्रय-विक्रय कम-अधिक में करना, 5—मूल्य में वृद्धि करके लूटना आदि।

4. **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्मचर्य का अर्थ है, काम-वासना से बचना और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना। ब्रह्मचर्य व्रत पर हिन्दू और बौद्ध धर्म में भी बहुत जोर दिया गया

है, परन्तु जैन धर्म में इस पर अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक बल दिया गया है। इसका कारण है जैन धर्म का साधु-जीवन को नियमों में बाँधना। इस व्रत के कई अंग बताए गए हैं—जैसे अपनी पत्नी छोड़कर किसी परायी स्त्री का त्याग, दुराचारिणी स्त्री से बचना, अश्लीलता का त्याग, शक्ति से अधिक भोग न करता, अप्राकृतिक मैथुन न करना। ब्रह्मचर्य व्रत का लक्ष्य कैवल्य प्राप्त करना ही है। यदि मनुष्य भोग से बचकर अपनी शक्ति का ह्रास नहीं करता तो उसकी सारी शक्ति मोक्ष को प्राप्त करने में लगती है। इन्द्रियाँ आसक्ति उत्पन्न करती हैं। यदि इन्द्रियों को वश में किया जाय तो मनुष्य आसक्ति और मोह में नहीं पड़ेगा और मोक्ष प्राप्त करने में सफल होगा। अतः इन्द्रियों को वश में करना ही ब्रह्मचर्य है।

5. **अपरिग्रह**—विषय के त्याग का नाम ही अपरिग्रह है। यह व्रत लालच न करने और सन्तोष रखने पर आग्रह करता है। अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से अधिक भौतिक वस्तु का संग्रहन करने से भी है। विषयासक्त होने से ही वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती है। इसलिए अपरिग्रह में अनासक्ति का भाव प्रकट होता है। अनेकानेक वस्तुओं में क्षमता के कारण आसक्ति बढ़ती है। इसका त्याग ही अपरिग्रह है। 'मैं' और 'मेरा' का भाव परिग्रह की ओर प्रेरित करता है। अतः इसका त्याग अपरिग्रह है। भौतिक वस्तुओं को अपनी आवश्यकता की पूर्ति में बाधा पड़ती है। दूसरों के अभाव में रखना भी हिंसा है। अतः जैन धर्म अपरिग्रह पर जोर देता है और आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के ग्रहण पर रोक लगाता है। चरित्र की उन्नति के लिए अपरिग्रह व्रत आवश्यक है।

जैन धर्म में सम्यक् चरित्र के लिए पाँच व्रतों के अतिरिक्त कुछ अन्य नियमों और कार्यों का भी उल्लेख किया गया है—

1—**समिति**—जीवन में कुछ नियमों का पालन आवश्यक है। जैन धर्म में इन्हें समितियाँ कहा गया है। समितियाँ पाँच हैं—(अ) इर्या-समिति—चलने-फिरने का ढंग सीखना इर्या समिति है। (ब) भाषा समिति—इसमें बोलने की सावधानी पर ध्यान दिलाया गया है। (स) एषणा समिति—भिक्षा प्राप्त करने की सावधानियाँ। (द) आदान निक्षेपणा समिति—भिक्षा का कुछ भाग धर्म के कार्य के लिए बचाना। (य) प्रतिस्थापना समिति—अनुचित ढंग से मिले दान को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

2—**गुप्ति**—गुप्ति का अर्थ मन, वाणी तथा शारीरिक कर्मों पर नियन्त्रण रखना है। गुप्ति तीन हैं—(अ) मनोगुप्ति, (ब) वाक् गुप्ति (स) काय गुप्ति। अर्थात् मन, वाणी और शरीर पर नियन्त्रण रखना।

दस धर्म—जैन धर्म इन दस धर्मों के पालन पर जोर देता है—जैसे क्षमा, शौच, संयम, तप, त्याग, सरलता, विरक्ति, मृदुता और ब्रह्मचर्य।

4—**अनुप्रेक्षा**—जीव-अजीव की वास्तविकता पर विचार के लिए बारह भाव बताए गए हैं। इसी को अनुप्रेक्षा कहा गया है ।

5—**परिषह**—इसे एक प्रकार का तप कहा गया है। इसमें भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी आदि दुःखों पर कठोर श्रम करके विजय पाया जाता है।

6—**धर्मानुक्षा**—धर्मानुक्षा का अर्थ है, धर्म के मार्ग पर चल कर शान्ति और स्थिरता को प्राप्ति करना।

जैन धर्म में चारित्रिक विकास के लिए इन नियमों-उपनियमों के पालन के अतिरिक्त कुछ अन्य व्रतों के पालन पर भी बल दिया है। इन्हें शिखा व्रत की संज्ञा दी गयी है।

शिखा व्रत--

(1) **सामायिका व्रत**—इसमें चित्त की स्थिरता और शान्ति पाने का अभ्यास किया जाता है। इसे दिन में दो या तीन बार निश्चित स्थान और विशेष आसन के अनुसार किया जाना चाहिए। एक गृहस्थ को चाहिए कि इसके अनुसार अपने भीतर साधुता की वृत्ति उत्पन्न करे।

(2) **प्रोस्धपवासव्रत**--यह उपवास करने का व्रत है। अन्य धर्मों की भाँति इसमें भी विभिन्न तिथियों में उपवास रखने के लिए कहा गया है। जैन धर्म में अष्टमी, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा के दिन उपवास रखना आवश्यक बताया गया है। उपवास में न केवल भोजन न करने के लिए कहा गया है वरन अन्य शारीरिक सौख्य और वासना से वंचित रहने के लिए बताया गया है। जैसे साज-शृंगार, स्त्री-संग, सुगन्ध आदि से दूर रहना आवश्यकता बताया गया है।

(3) **भोगोपभोग व्रत**—इस व्रत के पीछे अपरिग्रह का विचार महत्वपूर्ण है। इसमें बताया गया है कि मनुष्य को इसका अभ्यास इस योग्य बनाता है कि वह धीरे-धीरे आवश्यक वस्तु से अनासक्त हो जाय। दैनिक जीवन में आवश्यक वस्तुओं तक ही सीमित रखा जाय। इससे सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति की कमी आ जाती है। अपरिग्रह का भाव बढ़ता है।

(4) **अतिथि समविभाग व्रत**—जैन धर्म दान को भी महत्व देता है। निरीह और दान देने वाले योग्य व्यक्ति को दान देने के लिए कहा गया है। दान देने वाले और दान लेने वाले की कुछ विशेष योग्यता भी निर्धारित की गयी है। दान का महत्व हिन्दू और मुस्लिम धर्मों में भी स्वीकार किया गया है।

मोक्ष—इस प्रकार जैन धर्म 'त्रिरत्न' तथा इन व्रतों के आधार पर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। ज्ञान और चरित्र (आचरण) दोनों मोक्ष के लिए आवश्यक हैं और जैन धर्म इन दोनों को समान रूप से महत्व देता है। इस अनुशासन-परक जीवन से ही जीव में पुद्गल का आस्रव रुक जाता है। अर्थात् पुराने संस्कारों

की शक्ति समाप्त होती जाती है और नये संस्कार का बनना रुक जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य पुनः शरीर में आबद्ध नहीं होगा। आवागमन के चक्र से छूट जाएगा। उसे पुनः दुःख नहीं होगा। मोक्ष की यही अवस्था होगी।

मनुष्य की परमागति—मोक्ष—

जैन धर्म में भी मनुष्य की परमागति को मोक्ष या 'कैवल्य' माना गया है। बन्धन का अर्थ है, आत्मा का पुद्गल (Matter) के साथ सम्बन्ध होना। अतः मोक्ष या कैवल्य का अर्थ है आतमा और पुद्गल का पूर्णतया अलग हो जाना। यह अलगाव तभी सम्भव है जब आत्मा का पुद्गल से सम्बन्ध नष्ट हो जाय और आगे आतमा के साथ पुद्गल का जुड़ना रोक दिया जाय। इस प्रकार जैन धर्म में 'जीवनमुक्ति' की धारणा नहीं है। जैन धर्म में तो मोक्ष तभी सम्भव है जब भौतिक शरीर नष्ट हो जाय और पुनः आतमा का शरीर में प्रवेश होने की सम्भावना न हो।

मोक्ष का स्वरूप—जैन धर्म में मोक्ष के भावात्मक और अभावात्मक दोनों रूपों का वर्णन मिलता है। मोक्ष की अवस्था में दुःख नहीं रहता। पूर्णता की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में सारी बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं इसका उल्लेख 'अनन्त चतुष्टय' के रूप में किया गया है। अर्थात् मोक्षावस्था में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य (शक्ति) तथा अनन्त आनन्द और शान्ति मिलती है। यही जैन दर्शन का कैवल्य या मोक्ष है। कैवल्य को प्राप्त करने वाला 'केवली' कहलाता है। वह सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञाता हो जाता है। बन्धन में रहने पर मनुष्य को सापेक्ष ज्ञान होता है, परन्तु 'केवली' होने पर उसे निरपेक्ष ज्ञान होता है। केवली अपने वास्तविक रूप में अर्थात् पूर्णज्ञान की अवस्था में होता है। वह अज्ञान से मुक्त हो जाता है, जिसके कारण सभी अशुभ और दोष उत्पन्न होते हैं। मोक्ष की इस अवस्था की प्राप्ति के मार्ग बताए गये हैं, उनमें त्रिरत्न का अत्यधिक महत्व है। अर्थात् सम्यक् दर्शन (विश्वास) सम्यक् ज्ञान, तथा सम्यक् चरित्र ही मोक्ष प्राप्ति के मार्ग हैं।

जैनधर्म की मनोवैज्ञानिकता

दर्शन जीवन की व्याख्या है और जीवन मनोवैज्ञानिक तत्व का निरूपण। भारतीय तत्वचिन्तकों ने दर्शन और मनोवैज्ञानिक को अभिन्न माना है। साथ ही मनोविज्ञान का केवल तात्विक विवेचन ही नहीं किया है वरन् उसको व्यावहारिक उपयोगिता भी प्रदान की है। जैसे योगदर्शन में हम न मनोविज्ञान की व्यावहारिक मान्यता प्रदान करते हैं वैसे ही जैन दर्शन में भी मनोविज्ञान को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया है। वैसे तो सम्पूर्ण जैन दर्शन धर्म बनकर महालक्ष्य की प्राप्ति में साधन स्वरूप है ही। इसको कौन अस्वीकार कर सकता है। लेकिन

मनोवैज्ञानिक रूप में इसकी उपयोगिता और व्यवहारिकता क्या है ? हमें यह देखना है । इस दृष्टि से अध्ययन के लिये हमारे सामने तीन विषय मुख्य रूप से हैं— मन, लेश्या और कषाय ।

मन—जैन दर्शन के अनुसार 'मन' आत्मा के अनुभव या संवेदन के लिए एक साधन स्वरूप है । इसका कार्य इन्द्रियों की भाँति है । लेकिन इसको इन्द्रिय नहीं कहते । यह 'नोइन्द्रिय' कहलाता है । इन्द्रियाँ एकनिष्ठ होती हैं लेकिन मन स्वार्थग्राहक होता है । इसका क्षेत्र असीम है । एक क्षण में चाहे जहाँ भ्रमण कर आता है । भगवान महावीर ने गौतम को इसका स्वरूप और भी स्पष्ट करते हुये इसको जड़ और चेतन दोनों बतलाया है । मन के पौद्गलिक और चैतन्यमय दो स्वरूप हैं । इनको क्रमशः द्रव्यमन और भवमान भी कहते हैं । द्रव्यमन पौद्गलिक तत्वों से बना है और भावमन आत्मा की चिन्तन और मनन की शक्ति के रूप में है । द्रव्यमन की कुछ समानता योग-दर्शन के चित्त से मिलती है । जहाँ तक इन दोनों के कार्यों का सम्बन्ध है, कोई भी मानसिक कार्य इनके योग से ही होता है । यदि एक का अभाव होगा तो कार्य सम्पन्न नहीं होगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन के सभी कार्य–व्यापार, चिन्तन, मनन, इच्छा, स्नेह, घृणा, तर्क इत्यादि इसी के ऊपर निर्भर हैं । यही नहीं मन आत्मा के विकास और पतन का महान कारण है । इसके अन्दर वह जादू की शक्ति है कि वह चाहे जिस व्यक्ति से कोई भी कार्य करा सकता है । कुत्सित जीवों से लेकर महान योगियों तक को इसने नाच नचाया है । यह जीवन में तूफान पैदा करता है, सक्रियता लाता है और निष्क्रियता भी। यह एकान्त में भी राग रङ्ग के महल खड़ा करता है और राज-महलों के बीच भी पायल की झंकारों, राजगरिमा के पद, वैभव विलास की सिहरन तथा विद्वता से महान आकर्षण के प्रति घृणा पैदा करता है । इस पर विजय पाने के लिए साधक जितना ही प्रयास करता है, उतना ही राग द्वेष के कीचड़ में फँसता जाता है । मन बड़ा ही चंचल और अजेय है । स्वामी गौतम ने इसकी तुलना दुष्ट घोड़ों से की है । गीता में भी मन के निग्रह और चंचलता को स्पष्ट रूप से भगवान श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया है—

"असंशयं महाबाहो मनोर्दुनिग्रहं चलम्"

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मन पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती । महामुनि और साधकों ने इसके क्रिया-व्यापार पर नियंत्रण रखने के लिए और आत्मोद्धार करने के लिए व्यवहारिक शिक्षायें प्रदान की हैं, तथा मनोवैज्ञानिक उपायों को परिलक्षित किया है । गौतम स्वामी कहते हैं—

"मन दुर्जय होने पर भी अजेय नहीं। वह धर्म शिक्षाओं के प्रयोग द्वारा जीता जा सकता है। जैन दर्शन मन को वश में करने की महान उपयोगी शिक्षायें देता है। देखा जाय तो मानसिक स्वास्थ्य (Mental Health) के लिए इससे बढ़कर कोई उपाप नहीं है। चंचल मन को जब तक एकाग्र करके उसका संयमित रूप से जीवन व्यापार नहीं हो पाता तब तक मानसिक शांति नहीं आती और मानसिक अशान्ति ही व्याधि तथा दुःख है। मन शरीर का तो राजा है और आत्मा के लिए मन्त्री के रूप में काम करता है। इसलिए मन आत्मा को फँसाता है, बन्धन में डालता है। इससे मुक्ति पाने के लिए उपाय आवश्यक है। 'उत्तराध्ययन' में बताया गया है कि 'मन को वशीभूत करने के लिए धर्म-शिक्षा की आवश्यकता होती है।' गीता द्वारा प्रतिपादित अभ्यास और वैराग्य इससे भिन्न नहीं है।

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"

गौतम स्वामी के इस प्रश्न के पूछने पर कि 'मन पर नियन्त्रण करने से क्या लाभ है'? भगवान महावीर ने इस प्रकार समझाया—"मन के निग्रह से पाँचों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, विषय वासना का नाश हो जाता है तथा चंचलता भी दूर हो जाती है। इस प्रकार मनोविजेता एकाग्रता और परम शान्ति का अनुभव करता है। यह है जैन-दर्शन का व्यवहारिक मनोविज्ञान। जीवन में उचित समायोजन (Adjustment) प्राप्त करने का इससे बढ़ कर और क्या मनोवैज्ञानिक उपाय हो सकता है? गीता का 'स्थिति प्रज्ञ' इसी कोटि में आता है।

लेश्या—इसका दूसरा मनोवैज्ञानिक पक्ष लेश्या है। लेश्या का साधारण रूप से अर्थ विचार, मनोवृत्ति या तरङ्ग होता है। किन्तु जैन तत्व-चिन्तकों ने इसमें यह देखा है कि मानसिक वृत्तियों का कैसा वर्ण होता है? या मन के विचारों को कितने रूपों (वर्गों) में विभक्त किया जा सकता है? या इन विचारों की उत्पत्ति कैसे होती है? वास्तव में यह गवेषणा मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान अपने क्षेत्र में बहुत आगे है किन्तु इस विषय में उसे कितनी सफलता मिली है, यह संदिग्ध है। भारतीय तत्वचिन्तकों ने मनोविचारों, वृत्तियों, परिणामों आदि का जो अध्ययन किया है वह सर्वाङ्गीणता है। मुख्य रूप से जैन दार्शनिकों की देन इस विषय में अद्वितीय है। मनन करने योग्य बात तो यह है कि जिस विषय पर आधुनिक मनोवैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं 'उस पर हजारों वर्ष पहले ही कार्य हो चुका है।[1] साँख्य, गीता तथा जैन दर्शन आदि इसके उदाहरण हैं।

---

1. सत्, रज, तम, (श्वेत, लाल, काला) प्रकृति के गुण सर्वत्र वर्तमान हैं, सृष्टि और विचारों में भी।

जहाँ आधुनिक व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक विचारों को भी स्थूलता प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ जैन चिन्तकों ने बताया है कि मन के विचारों में वर्ण पाये जाते हैं। दूसरी बात महत्व की यह है कि विचारों के समूह का द्रव्य रूप पुद्गलमय होता है। विचारों की लहरियाँ पुद्गलों से मिली हुई होती हैं। हमारे मन में जो विचार उठते रहते हैं, वे विभिन्न वर्ण के होते हैं जैसे श्वेत, श्याम और कभी मिले हुए वर्ण आत्मा को प्रभावित करते रहते हैं। जैसे स्फटिक मणि के समक्ष जो भी रंग रहेगा मणि उसी के समान दीखने लगेगी। आत्मा स्फटिक मणि के समान है। मन के विचार जो वर्ण सहित होते हैं, इसे प्रभावित करते हैं। मन में उठने वाले विचारों के वर्ण का अर्थ है, शुभाशुभ परिणाम। इस प्रकार लेश्याओं का वर्गीकरण छह प्रकारों में किया गया है, जो कि वर्ण के आधार पर ही है—(1) कृष्ण लेश्या, (2) नील लेश्या, (3) कापोत लेश्या, (4) पीत लेश्या, (5) पद्म लेश्या, (6) शुक्ल लेश्या।

इन लेश्याओं को समझाने के लिए एक बड़ा ही मनोरंजक जैनागम उदाहरण है छह व्यक्ति, जामुन खाने के लिए प्रस्थान करते हैं। एक जामुन का वृक्ष मिलता है। उसको देखकर एक व्यक्ति ने कहा 'यह जामुन का वृक्ष मिल गया। इसको काटकर भूमि पर गिरा दो और चाहे जितना फल खाया जाय।' दूसरे व्यक्ति ने कहा 'पेड़ काटने से क्या लाभ? मोटी मोटी डालें काट लें।' तीसरे ने कहा 'डाल न काटकर टहनियों को काटा जाय।' चौथे व्यक्ति ने फलों के गुच्छे ही तोड़ने को कहा। पाँचवें ने केवल पके जामुन ही लेने को कहा तथा छठे व्यक्ति ने कहा ''यह सब करने की क्या आवश्यकता? पके फल तो नीचे गिरे हुए हैं उन्हीं को उठाकर खा लिया जाय।'

इन विचारों के आधार पर ही उपर्युक्त छह प्रकार के लेश्याओं का वर्णन किया गया है। कितना मनोग्राही उदाहरण है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में इस प्रकार के शुभाशुभ विचार उठते हैं। उन्हीं विचारों के अनुसार व्यक्ति कार्य भी करता है। इन लेश्याओं के अनुसार व्यक्ति में कौन-कौन से गुण पाये जाते हैं, इसके सम्बन्ध में स्वामी गौतम के प्रश्न करने पर भगवान महावीर उत्तर देते हैं :—

(1) **कृष्ण लेश्या :**—हे गौतम! कृष्ण लेश्या वाले व्यक्ति के विचार क्षुद्र, कठोर और हिंसक होते हैं। वह पापी होता है, स्वार्थी होता है और अविवेक तथा भोग विलास में लिप्त रहता है। परलोक का महत्व नहीं समझता। उदाहरण का प्रथम व्यक्ति इसी श्रेणी में आता है। सांख्य दर्शन और गीता के अनुसार तामस वृत्ति का व्यक्ति इसी प्रकार का होता है।

(2) **नील लेश्या :**—इस लेश्या वाले व्यक्ति कृष्ण लेश्या वाले व्यक्ति से कुछ अच्छे होते हैं। इसके अन्दर अपने स्वार्थ के अतिरिक्त दूसरों के बचाव का भी विचार

रहता है। अन्य गुण उसी की तरह इसमें भी होते हैं। इसके अन्तर्गत दूसरे व्यक्ति का उदाहरण आता है। यह भी तामस प्रधान होता है।

(3) **कापोत लेश्या** :—इस लेश्या के व्यक्ति मनसा, वाचा, कर्मणा वक्र होते हैं। ऐसे लोग कठोर वाणी बोलते हैं, स्वार्थी होते हैं किन्तु उनमें रक्षा की भावना होती है। इसके लिए तीसरा व्यक्ति उदाहरण में आता है। इसमें रजस और तमस दोनों की प्रधानता होती है।

(4) **पीत लेश्या** :—इस लेश्या वाला व्यक्ति पवित्र, दयालु, अचंचल और आत्मनिग्रही होता है। परोपकार की भावना होती है। यह वृत्ति चौथे उदाहरण वाले व्यक्ति में पायी जाती है। इसमें सतोगुण की प्रधानता होती है।

(5) **पद्म लेश्या** :—ऐसे व्यक्ति जितेन्द्रिय, मिष्टभाषी और कमल के समान अपनी सुगन्ध से दूसरों को आनन्दित करते हैं। उदाहरण का पाँचवाँ व्यक्ति इस प्रकार के लेश्या में आता है। इसमें सतोगुण विद्यमान रहता है।

(6) **शुक्ल लेश्या** :—ऐसे व्यक्ति समदर्शी, शान्त अन्तःकरण वाला, बीतरागी और प्रेम की मूर्ति होता है। इसमें सतोगुण की पराकाष्ठा होती है। इसका उदाहरण छठा व्यक्ति है।

ऐसा शुद्ध अन्तःकरण वाला व्यक्ति गीता के 'स्थित प्रज्ञ' के अन्तर्गत आता है :—

"दुखेष्वनु द्विग्नमना : सुखेशु विगतस्पृह :।
वीतराग भय क्रोध : स्थितधीर्मु निरुच्यते ॥"[1]

जैन दर्शन में इस प्रकार के लेश्याओं के गुणावगुण बतलाकर प्रारम्भ के तीन लेश्याओं को त्याग कर अन्तिम तीन लेश्याओं को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।[2] इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक विवेचन और तदनुसार उनका त्याग और ग्रहण हमारे दैनिक जीवन में कितना उपयोगी सिद्ध होगा, इसका उत्तर अभ्यास के फल से ही मिल सकता है। क्षुद्र विचारों को छोड़कर श्रेष्ठ विचारों की ओर अग्रसर होना क्या विश्व-कल्याण और विश्वशान्ति के लिए साधारण बात होगी?

विचारों के गुणों और वर्णों का जैन-दर्शन में जो सूक्ष्म विवेचन मिलता है क्या उससे हम व्यक्ति-परख या व्यक्तित्व-परीक्षण (Personality test) नहीं कर सकते? रंगों के आधार पर व्यक्तित्व परीक्षण ही नहीं, अपितु रुचि-परीक्षण भी कर सकते हैं। यही रंग विशेष वाले व्यक्ति के विचार रसास्वादन में भी अन्तर रखते हैं।

---

1. गीता, 265।
2. उत्तराध्ययन अ 34, गाथा 56, 57।

इतना जान लेने के बाद हम लोगों में से कौन ऐसा होगा जो कृष्ण, नील और कपोत लेश्या का त्याग नहीं करेगा तथा पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या को ग्रहण करके आत्मोत्थान नहीं करेगा ? एक दिन तो मानसिक वृत्तियों को बदलना ही है। हो सकता है कि नाना भोगों को भोग लेने के बाद ही संभव हो, किन्तु संभव अवश्य है।

कषाय :—तीसरा मनोवैज्ञानिक अध्ययन कषाय के विषय में है। इसका अर्थ है—'कामों का बन्धन या जिसके कारण जीव को बार-बार जन्म तथा मरण के चक्कर में आना पड़ता है। इसका मनोवैज्ञानिक अभिप्राय यह है कि जिन मनोविचारों से आत्मा कलुषित हो जाता है, मन में विकार पैदा हो जाते हैं, मनोविज्ञान की भाषा में उसे कषाय कहते हैं।' भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से ऐसे चार कषायों के विषय में कहा है, वे हैं क्रोध, मान, माया (कपट पूर्ण व्यवहार) और लोभ (Emotion of ownership) (कामुक-वासनाएँ)।

इन कषायों में संवेग और मूल प्रवृत्तियों का अच्छा समावेश है। क्रोध एक उत्तेजक सांवेगिक अवस्था है। इसी से युयुत्सा (combat) की मूल प्रवृत्ति तीव्र होती है। शरीर की क्रियाओं में परिवर्तन हो जाता है। इससे विवेक और तर्क शक्ति का नाश हो जाता है।

भगवान महावीर क्रोध की उत्पत्ति का मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित करते हैं—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला, प्रज्वलन स्वरूप आत्मा का परिणाम क्रोध कहलाता है। गीता भी क्रोध की उत्पत्ति के लिए इसी से मिलती-जुलती विचारधारा का प्रतिपादन करती है—

"ध्यायतो विषयान्पुसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥"

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है तथा कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। इस क्रोध के कारण ही बुद्धि और स्मृति नष्ट हो जाती है—

"क्रोधाभवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्मणश्यति ॥"

जैन दर्शन में क्रोध के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों पर भी प्रकाश डाला गया है, जिसका इतना सूक्ष्म अध्ययन मनोवैज्ञानिक रूप में अन्यत्र नहीं मिलता। क्रोध, कोप, रोष, दोष, अक्षमा, संज्वलन, कलह, चाण्डिक्य, भंडन और विवाद इसके विभिन्न रूप हैं।

मान :—स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति मनुष्य में पायी जाती है। इसी की एक वृत्ति मान के रूप में प्रकट होती है। इसके भी विभिन्न रूप दिखलाए गए हैं—मान मद, दर्प, गर्व, पर-परिवाद, उत्कर्ष और अपकर्ष आदि। व्यक्तित्व–विनाश के ये ही कारण होते हैं। हृदय की विशालता का इससे लोप होता है। व्यक्ति अपना वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर पाता। अन्धकार में पड़ा रहता है।

माया—कपटपूर्ण व्यवहार माया कषाय है। ऐसे व्यवहार से व्यक्तित्व का ह्रास होता है। आतममलिनता की वृद्धि होती है। मायापूर्ण व्यवहार के कई अन्य रूप बताये गये हैं। जैसे उपाधि—किसी को ठगने के अभिप्राय से उसके पास जाना, और छलने के अभिप्राय से किसी का सम्मान करना। इच्छा न होते हुए भी दिखाने का कार्य करना आदि मायापूर्ण व्यवहार की अन्य अवस्थाएँ हैं।

लोभ—किसी मोहक कर्म के करने पर जो चित्त में लालसा या तृष्णा पैदा होती है वही लोभ है। यह बड़ा ही व्यापक रूप में होता है। इसी में काम-वासना (Sex) भी सम्मिलित है। फ्रायड ने जिस प्रकार काम-वासना (libido) को ही सांसारिक कार्यों का आधार माना है, इसी प्रकार लोभ में भी सभी इच्छित कार्य पाये जाते हैं। गीता के अनुसार रजस गुण के कारण लोभ की उत्पत्ति होती है––

"सत्वासंजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।"

जैन दर्शन के अनुसार इसकी कई अवस्थाएँ होती हैं—संग्रह वृत्ति, कांक्षा, अर्थ की याचना, चाटुकारिता, कामुकता, भोगाशा और गृद्धि अर्थात् वस्तु में आसक्ति होना आदि। जैन दर्शन में 'कषाय' के रंग-रूप का भी वर्णन है। गीता में इसको आसुरी और दैवी-प्रकृति के रूप में दिया गया है—

"दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्थ पार्थ संपदमासुरीम् ॥"

अर्थात् पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी तथा अज्ञान आदि आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं। दैवी सम्पदा के इस प्रकार के लक्षण हैं।

"अहिंसा सत्यम क्रोधन्त्यागः शान्तिर पैशुनम्।
दया भुतेष्व लोलुप्तवं मादवं ही चापलम् ॥"

जगत में कषाय के ही दुष्परिणाम दिखाई दे रहे हैं। देवी सम्पदा को नष्ट करने वाले यही कषाय हैं। मनोवैज्ञानिक रूप में यही कषाय मानसिक वृत्तियों को विकृत करते हैं। इनसे बचने के लिए या यों कहिए कि जीवन में समायोजन लाने के लिए आवश्यक है कि इन कषायों पर विजय प्राप्त करें। काम, क्रोध तथा लोभ

तीनों नरक के द्वार हैं—"त्रिविधं नरकस्येद द्वारं।" भगवान महावीर कहते हैं, 'क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विजय का, माया मित्रता का और लोभ सभी सद्‌गुणों का नाश करता है।" इन मनोविकृतियों को दूर करने का वे उपाय बतलाते हैं—

शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।[1]

जैन मनोविज्ञान की व्यावहारिकता यहीं नहीं समाप्त हो जाती बल्कि जीवन की सम्पूर्ण शान्ति इसका लक्ष्य है। कषायों की अतिशयता ही मनोविकृति या असामान्यता (Abnormality) का कारण है इसलिए इनका विनाश करना, इन पर विजय प्राप्त करना श्रेयस्कर है। इनके अन्त से ही भव-भ्रमण का अन्त होगा।

"कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव।"

जीवन की परम शान्ति ही जैन दर्शन का व्यावहारिक मनोविज्ञान है।

———

1. दश वैकालिक सूत्र अ० 8 ग० 37, 394।

4 | बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के संस्थापक—मानव जीवन के दु:खों से कातर जीवन की क्षण-भंगुरता से विकल, चिन्तित और भावुक मन से जीवन मार्ग की खोज में निकल कर परम शान्ति की अवस्था 'निर्वाण' का सन्देश देने वाले सिद्धार्थ, जिन्हें घोर तपस्या और साधना के पश्चात् 'ज्ञान' प्राप्त होने पर 'बुद्ध' कहा गया, वही बौद्ध धर्म के संस्थापक कहे जाते हैं। ईसाई तथा इस्लाम धर्म के निश्चित संस्थापकों की भाँति बौद्ध धर्म के भी निश्चित संस्थापक भगवान् बुद्ध कहे जाते हैं। इनका जन्म हिमालय की तराई में कपिलवस्तु नामक स्थान में (लुम्बिनीबाग) वैशाखी पूर्णिमा के दिन (पिता राजा शुद्धोदन तथा माता माया देवी) 563 ई०पू० में हुआ था। राजा शुद्धोदन शाक्यवंशी क्षत्रियों के राजा था। इनका राज्य नैपाल का दक्षिणी भाग था और उसकी राजधानी कपिलवस्तु नामक नगर था। बुद्ध के जन्म-काल का नाम सिद्धार्थ था परन्तु बाद में पारिवारिक नाम 'गौतम' हुआ। गौतम को अत्यन्त गुण-सम्पन्न राजपुत्र के रूप में बताया गया है। सोलह वर्ष की आयु में उनका विवाह यशोधरा से हुआ। उन्हें राहुल नामक पुत्र भी प्राप्त हुआ परन्तु उनकी बचपन की साधु वृत्ति राजमहल के वैभव से आकर्षित नहीं हुयी। गौतम के जीवन में यही समय ऐसा था जबकि उन्होंने जीवन की नश्वरता, निस्सारता, क्षणिकता, व्याधि, जरा और मृत्यु पर गहनता से विचार किया। ऐसा वर्णन मिलता है कि एक दिन उन्होंने एक वृद्ध, एक रोगी, एक शव तथा एक सन्यासी को देखा। इन दृश्यों को देखने से उन्हें एक प्रेरणा मिली और यह निश्चय कर लेने का अवसर भी मिला कि संसार के बन्धनों से तथा अनन्त दु:खों से बचने का मार्ग ढूँढ़ लिया जाय। इसी निश्चय के साथ उन्होंने उसी रात अपने राजमहल, पत्नी यशोधरा तथा प्रिय पुत्र राहुल को सोता छोड़कर सुदूर वन में चले गये। यही गौतम का 'महाभिनिष्क्रमण' कहा जाता है।

गौतम ने अलार कलाम, उद्धक आदि गुरुओं के पास रहकर समय व्यतीत किया। स्वयं ही सत्य का पता लगाने के लिए कठोर तपस्या की। उरुवेला की वन-स्थली में छः वर्षों तक वृच्छ साधना की। वोधिराजकुमार सुत्त में उन्होंने अपनी तपस्या का उल्लेख इस प्रकार किया है—'तब मुझे यों हुआ—क्यों न मैं श्वाँस रहित ध्यान धरूँ। सो मैंने राजकुमार! मुख और नासिका से श्वाँस का आना-जाना रोक दिया। तब राजकुमार! मेरे मुख और नासिका से आश्वास-प्रश्वास के रुक जाने पर कान के छिद्रों से निकलते हवाओं का बहुत अधिक शब्द होने लगा—तब मेरे

मुख नासा और कर्ण से आश्वास-प्रश्वास के रुक जाने से मूर्धा से बहुत अधिक वात टकराने लगे……। सिर में बहुत अधिक वेदना होने लगी। बहुत अधिक वात पेट को छेड़ने लगे। काया में बहुत अधिक दाह होता था।………यदि मैं पेट की खाल को मसलता तो पीठ के काठों को पकड़ लेता था; पीठ के काठों को मसलता तो पेट की खाल को पकड़ लेता था। जब मैं काया को सहलाते हुए हाथ से शरीर को मसलता था तो हाथ से शरीर को मसलते वक्त काया से सड़ी जड़ वाले रोम झड़ पड़ते थे। इस तपस्या के समय उनके साथ पाँच शिष्य थे, परन्तु घोर तपस्या से कोई सफलता न मिलने के कारण शिष्य उन्हें छोड़कर चले गए। गौतम लक्ष्य की प्राप्ति में पुन: नये तरीके से आत्म संयम करने लगे। इसकी साधना पहली की अपेक्षा कम कठोर थी। दृढ़ सङ्कल्प करके उन्होंने बोधिवृक्ष के नीचे ध्यान करना प्रारम्भ किया। बारह वर्षों तक ध्यान में लीन होने के पश्चात् गौतम को एकाएक 'बोध' प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् गौतम 'बुद्ध' हो गए। गौतम को 'तथागत' भी कहा गया अर्थात् जो वस्तु के वास्तविक रूप को जानता है उन्हें 'अहर्त' की संज्ञा दी गयी अर्थात् जो योग्य हैं सत्य को प्राप्त करने में।

बुद्ध ने अपने व्यक्तिगत ज्ञान को दूसरों को भी देने का निश्चय किया। सर्वप्रथय उन्होंने अपने बिछुड़े हुये पाँच शिष्यों को ही उपदेश दिया। वे पाँचों शिष्य उस समय सारनाथ या 'मृगदान' नामक स्थान पर थे। अत: सारनाथ बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान बन गया। सर्वप्रथम बुद्ध ने जो उपदेश दिया उसमें चार 'आर्य सत्यों' की विवेचना है। इस उपदेश के पश्चात उन्होंने अपने परिवार सहित अनेक को अपना अनुयायी बनाया। बौद्धधर्म और जैनधर्म में इस बात को लेकर अन्तर है कि जैनधर्म का विस्तार जहाँ अपने देश के भीतर ही हो पाया, वहाँ बौद्धधर्म विश्वधर्म की श्रेणी में गिना जाने लगा। राजाओं ने धर्म का प्रचार देश-विदेश में किया। बुद्ध अपने सिद्धान्तों और धार्मिक उपदेशों का प्रचार करते हुये 80 वर्ष की आयु में (483 ई० पू०) कुशी नगर में पावापुरी नगर में शरीर त्याग किया। बुद्ध के विषय में कहा जाता है कि उनके जन्म, बोधि-प्राप्ति तथा शरीर तोड़ने की तिथि एक ही है।

मूल बौद्ध-ग्रन्थ—मूल बौद्ध धर्म के विषय में या बुद्ध-जीवनी और उसकी धार्मिक अनुभूतियों का ज्ञान उन महाग्रन्थ समूहों में निहित है, जिनको सामूहिक रूप में त्रिपिटक की संज्ञा प्रदान की गयी है और जिनकी रचना पालि भाषा में हुयी है। त्रिपिटक का अर्थ है, तीन पिटारियाँ। यह तीन महाग्रंथों का समूह है और इसी में बुद्ध-वचन संचित है। ये तीन पिटक हैं—सूत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। सुत्तपिटक में धर्म की बातें बतायी गयी हैं 'धम्मपद' सुत्तपिटक का ही अंग है। बुद्ध के दार्शनिक विचारों का संग्रह अभिधम्म पिटक में किया गया है। इसे ही बौद्ध मनोविज्ञान कहा जा सकता है। विनय पिटक में नीति की बातें बतायी गयी

हैं। इसमें 'विहार' के नियमों का भी उल्लेख किया गया है। बौद्ध प्राचीन ग्रन्थों में त्रिपिटक के अतिरिक्त 'मिलिन्द पन्हों' अथवा 'मिलिन्द-प्रश्न' को भी महत्व दिया जाता है। इसमें नागसेन तथा यूनानी राजा मिलिन्द के सम्वादों का वर्णन है। महायान बौद्ध ग्रंथों का विपुल साहित्य संस्कृत में मिलता है। मूल बौद्ध धर्म के विषय में त्रिपिटकों से ही ज्ञान प्राप्त होता है, इनके अतिरिक्त बुद्ध के विषय में कहानियों के द्वारा बहुत कुछ कहा गया है जिनका संग्रह 'जातक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना पालि में हुयी है।

बौद्ध धर्म की मूलभूत विशेषताएँ

(1) बौद्ध धर्म, जैन धर्म की तरह ही ईश्वर विहीन धर्म है। जैन धर्म की तरह यह भी भौतिक शिक्षाओं पर ही अधिक बल देता है। यह मानवतावादी धर्म है। यह मनुष्य के दुःखों तथा बन्धन से छुटकारा दिलाने वाला धर्म है। यह मानव-मुक्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग का उपदेश देता है।

(2) बौद्ध धर्म का मूल स्वरूप बुद्ध के चार आर्य सत्यों (चत्वारि आर्य सत्यानि) तथा अष्टांगिक मार्ग के उपदेशों में निहित है। बुद्ध का चार आर्य सत्य है—(1) संसार में दुःख है, (2) दुःखों का कारण है, (3) दुःखों का अन्त है (निर्वाण) तथा (4) दुःख अन्त का उपाय (अष्टांगिक मार्ग)।

(3) बौद्ध धर्म, जैन धर्म की तरह हिन्दू धर्म के कर्मकाण्ड के विरोध में उत्पन्न धर्म है। यह कर्मकाण्ड के स्थान पर नैतिक धर्म पर बल देता है। बाद में बौद्ध धर्म के विकास के साथ उसमें कर्म काण्ड का प्रवेश भी देखा जाता है।

(4) बौद्ध धर्म के दो सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, जिन पर इसके अन्य सिद्धान्त आधारित कहे जा सकते हैं। वे हैं—क्षणिकवाद तथा अनात्मवाद। बौद्ध धर्म के अनुसार इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। कुछ भी एक क्षण के अतिरिक्त स्थिर नहीं रहता। यह क्षणिकवाद प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कारण उसकी पूर्ववर्ती दशा होती है, जो दूसरे को जन्म देकर नष्ट हो जाती है। इस प्रकार यह संसार क्षणिक घटनाओं का क्रम है। इसी क्षणिकवाद और प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त पर बौद्ध धर्म का अनात्मवाद भी टिका हुआ है। आत्मा भी कोई स्थायी द्रव्य नहीं है। आत्मा कुछ नहीं चेतना की धारा है। यदि इस संसार में सभी कुछ क्षणिक है तो संसार की वस्तुओं से लगाव या आसक्ति रखने की क्या आवश्यकता है। संसार में दुःखों का कारण संसार की क्षणिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति ही है। ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म 'निर्वाण' की आध्यात्मिक स्थिति को लक्ष्य बनाता है। यही स्थिति शाश्वत और शान्ति की स्थिति है।

(5) मनुष्य की परमागति निर्वाण की प्राप्ति है। यही पूर्ण स्वतन्त्रता तथा पूर्णता की स्थिति है। निर्वाण को वर्तमान जीवन में भी प्राप्त किया जा सकता है। अतः निर्वाण के लिए वर्तमान जीवन का विनाश होना आवश्यक नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि बौद्ध धर्म का लक्ष्य अन्य धर्मों की तरह स्वर्ग को प्राप्त करना नहीं है। बौद्ध धर्म में स्वर्ग और नरक की कल्पना नहीं की गयी है। यदि मनुष्य सभी प्रकार की वासनाओं से मुक्त हो जाता है और अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करता है तो उसे इसी वर्तमान शरीर से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

(6) बौद्ध धर्म सार्वभौमिक मोक्ष में विश्वास करता है। व्यक्ति स्वतः निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करके दूसरों के लिए भी निर्वाण प्राप्त करा सकता है। बौद्ध धर्म का 'बोधिसत्व' का आदर्श यही सिद्ध करता है। स्वयं बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करके मानव-जाति की मुक्ति का प्रयास किया है।

(7) बौद्ध धर्म कर्म तथा पुर्नजन्म के सिद्धान्त में विश्वास करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्त को बौद्ध धर्म ने ग्रहण किया है। बौद्ध धर्म में भी अन्य धर्मों की तरह यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य जैसा करता है वैसा भरता है। अर्थात् उसे अपने कर्मों का परिणाम भोगना पड़ता है। मनुष्य के कर्मों का परिणाम इस जीवन में या अगले जीवन में मिलता है। यदि वर्तमान जीवन में उसे परिणाम नहीं मिला तो उसे पुनः-जन्म लेकर उस कर्म का परिणाम भोगना ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि एक जन्म उसके पहले वाले जन्म के कर्म पर आधारित होता है। अतः निर्वाण के लिए कर्मों के क्षय को आवश्यक बताया गया है।

(8) बौद्ध धर्म निष्काम कर्म की धारणा में भी विश्वास करता है। इसके अनुसार यदि निष्काम कर्म किया जाय तो वह बन्धन का कारण नहीं होता। अतः आसक्ति पूर्ण कर्म ही बन्धन के कारण हैं। बौद्ध धर्म निष्कर्मता का उपदेश नहीं देता। मनुष्य को कर्म करना है। यद्यपि कर्म बन्धन के कारण अवश्य हैं परन्तु यदि निष्काम भाव से अर्थात् अनासक्त भाव से कर्म किया जाय तो कर्म बन्धन का कारण नहीं बन सकता।

(9) बौद्ध धर्म मध्यम मार्ग अथवा मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन करता है। यह मध्यम मार्ग तत्व शास्त्र तथा आचार शास्त्र दोनों में स्वीकार किया गया है। बुद्ध का उपदेश है कि यथार्थ मार्ग का पालन करने वालों को दोनों अन्तों का त्याग करना चाहिए। न भोग की इच्छा से कर्म में तल्लीन हों और न ही शरीर को अत्यधिक कष्ट दें।

(10) बौद्ध धर्म नैतिक सद्गुणों पर बल देता है। करुणा, दया, अहिंसा,

सत्य शुद्धता, आत्म संयम आदि सद्गुणों पर इतना अधिक बल दिया गया है कि यह धर्म मात्र नैतिक शुद्धता तथा सदाचरण और मानवता का धर्म समझा जाने लगा है। विश्व धर्म के लिए इन तत्त्वों को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होती। बुद्ध करुणा के अवतार कहे जाते हैं। अहिंसा की धारणा मानव अस्तित्व के लिए बुद्ध की करुणा के रूप में अनिवार्य सिद्ध हुयी है। यह सिद्धान्त किसी धर्म में सर्वोपरि स्वीकार किया जा सकता है।

(11) बौद्ध धर्म, धर्म के रूप में मुख्य रूप से बौद्ध भिक्षुओं के लिए बना। मत के रूप में बौद्ध धर्म में प्रवेश पाने के लिए कुछ शर्तें निर्धारित की गयीं। मत में प्रवेश पाने वाले के लिए आवश्यक होता है कि वह सिर के बाल तथा दाढ़ी के बाल कटा दे। काशाय वस्त्र धारण करे। दोनों हाथों को जोड़ते हुए ऊपर उठाये और तीन बार उच्चारण करें—

'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।'

(12) विश्व के अन्य धर्मों की तरह बौद्ध धर्म का भी दो सम्प्रदायों में विभाजन हुआ है। मूल विभाजन दो हैं—हीनयान तथा महायान। हीनयान, वह सम्प्रदाय है जो बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धान्तों का पालन करता है और महायान बौद्ध धर्म का विकसित रूप है।

चार आर्य-सत्य

बुद्ध को बोधि-प्राप्ति में चार आर्य-सत्य का प्रकाश मिला। उनके सारे उपदेश इन चार आर्य सत्यों में निहित हैं—

(1) संसार दुःखों से भरा हुआ है। (दुःख)
(2) दुःखों का कारण है। (दुःख समुदाय)
(4) दुःखों का समाप्त होना सम्भव है। (दुःख निरोध)
(4) दुःखों के अन्त का मार्ग है। (दुःख निरोध-मार्ग)

(1) **प्रथम आर्य सत्यः दुःख**—बुद्ध को चार आर्य सत्यों में प्रथम सत्य का ज्ञान यह हुआ कि जीवन दुःखमय है—'सर्वं दुःखम्'। इस संसार में जन्म लेना भी दुःख है जरा (वृद्धावस्था) भी दुःख है, रोग-व्याधि भी दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, जो प्रिय न लगे उससे मिलना भी दुःख है, प्रिय लोगों से मिलकर बिछुड़ जाना भी दुःख है, इच्छा होने पर किसी वस्तु का प्राप्त न करना भी दुःख है। चिन्ता, भय, निराशा, शोक-संसार दुःखों से भरा हुआ है। यदि कहा जाय कि संसार में कुछ सुख भी तो हैं, इसके उत्तर में बुद्ध का कहना है कि उस सुख को प्राप्त करने में दुःख ही तो होता है। फिर सुखकर वस्तु के मिलने के बाद उसके खो जाने और नष्ट हो जाने का भय और चिन्ता होती है। फिर सांसारिक सुखों को दुःख इसलिए

भी कहा जाएगा कि वे क्षणिक और नाशवान हैं। ऐसे क्षणिक और नाशवान सुख को सुख मानना बुद्धिमत्ता नहीं है। फिर सुख में रहते हुए भी मनुष्य को मृत्यु की चिन्ता और भय से दुःख रहता है। मृत्यु सर्वव्यापक है। संसार में कोई ऐसी जगह नहीं होगी जहाँ मृत्यु की पहुँच न हो। मनुष्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए सतत संघर्ष करना पड़ता है, जो महान दुःखदायी होता है। भगवान बुद्ध का यह सर्वविदित कथन दुःख की व्यापकता को ही सिद्ध करता है कि 'संसार में दुखियों ने दुःख से इतने आँसू बहाये हैं कि सागर में जितना जल है उससे भी अधिक है।' ऐसे संसार में सुख की आशा करना मूर्खता है।

बुद्ध के अनुसार संसार में सब कुछ क्षणिक है। यहाँ स्थायी कुछ भी नहीं है। जिसे सुख समझते हैं वह भी क्षण मात्र के लिये है। इस क्षणिक संसार में सुख की आशा ही दुःख है। जो आज है पलभर में नहीं रहेगा। वस्तु की क्षणिकता दुःख का कारण है।

प्रथम आर्य सत्य में बुद्ध के उद्‌गार को देखकर कुछ लोग इस धर्म को निराशावादी कहते हैं। इसकी सम्पूर्ण शिक्षा निराशावाद पर आधारित है। परन्तु इसका उत्तर यह बताकर दिया जा सकता है कि "दुःख को जीवन में परम तथ्य के रूप में नहीं लेना चाहिये। इसके नैराश्यवाद का यह अर्थ है कि जीवन दुःख और आपत्तियों से पूर्ण है, किन्तु वह स्वयं दुःखमय नहीं है। वरन् केवल उस रूप में ही है जिस रूप में साधारणतया जीवन व्यतीत किया जाता है। ऐसा इसलिए है कि इस सिद्धान्त में हमें यह आशा दिखलाई जाती है कि दुःख का निर्वाण की अवस्था में पूर्णतया निवारण हो सकता है और वह निर्वाण यदि कोई चाहता है तो इस जीवन में ही प्राप्य है।" इसीलिए कहा जाता है कि बौद्ध धर्म में निराशावाद प्रारम्भिक है न कि अन्तिम।

2—दूसरा आर्य सत्य-दुःखों का कारण है—'दुःख समुदाय'—भगवान बुद्ध को दूसरे आर्य सत्य का ज्ञान हुआ कि दुःखों का कारण है। यह कारण अविद्या है अर्थात दुःख का मूल कारण अविद्या है। अविद्या का अर्थ है आत्मा के वास्तविक रूप को न जानना। दुःख को सुख, नाशवान को अविनाशी तथा अनात्म को आत्मा समझना, यही अज्ञान है। अज्ञान में ही मनुष्य एक स्थायी आत्म तत्व में विश्वास करता है। यही मनुष्य की भूल है। आत्मा पंचस्कन्धों का समुदाय माना है। अर्थात् रूप स्कन्ध (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, चार महाभूत तथा इनसे उत्पन्न सभी रूप), वेदना स्कन्ध (सुख, दुःख, न सुख दुःख), संज्ञा स्कन्ध (गुणों के आधार पर वस्तु का नामकरण), संस्कार स्कन्ध (चेतना राग द्वेष आदि प्रवृत्तियाँ) और विज्ञान स्कन्ध (बाह्य वस्तु का ज्ञान और आन्तरिक अहं 'मैं' का ज्ञान) का संघात ही आत्मा है और यह अनित्य है। इसमें परिवर्तन होता रहता है। जब

निर्वाण की अवस्था होती है तब इनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने से और उसमें आसक्ति रखने से ही दुःख होता है। मनुष्य को जो भी दुःख होते हैं वे किसी न किसी कारण से ही होते हैं। कारण से कार्य उत्पन्न होता है। बुद्ध कारण और कार्य की बारह कड़ियाँ बताते हैं और इन्हीं को दुःख का कारण बताते हैं। यह कार्य-कारण का सिद्धान्त है। इसी को 'प्रतीत्य समुत्पाद' का सिद्धान्त कहा जाता है। इन कड़ियों का एक चक्र होता है। इसे 'भाव चक्र' भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'द्वादश निदान' भी है। इस कड़ी में एक छोर पर दुःख है तो दूसरे छोर पर अविद्या है।

बुद्ध बताते हैं कि दुःखों का मूल कारण अविद्या है। 'अविद्या' के कारण बुरी प्रवृत्तियाँ जगती हैं जिन्हें 'संस्कार' कहते हैं। संस्कार के कारण 'चेतना' जगती है जिसे 'विज्ञान' कहा गया है विज्ञान के कारण गर्भ में शरीर बनता है; जिसे नाम रूप' कहते हैं। नाम रूप बनने के कारण अर्थात् शरीर बनने पर पाँच ज्ञानेन्द्रियों और एक मन मिल कर 'षडायतन' बनता है। इन्द्रियों से वस्तु का सम्पर्क होने पर 'स्पर्श' होता है। स्पर्श होने पर इन्द्रिय सुख मिलेगा, जिसे 'वेदना' कहते हैं। स्पर्श से भोग की प्यास जगेगी जिसे 'तृष्णा' कहते हैं। तृष्णा के कारण वस्तु से लगाव रखने की प्रवृत्ति होगी जिसे 'उपादान' कहते हैं। वस्तु से लगाव रखने की प्रवृत्ति से अर्थात् उपादान से जन्म लेने की प्रवृत्ति होगी, जिसे 'भव' कहते हैं। भव से पुनः जन्म होगा, जिसे 'जाति' कहते हैं। जाति अर्थात् जन्म लेना ही दुःख है। इस प्रकार कारण रूप अविद्या से दुःख रूप फल की प्राप्ति होती है।

यदि कार्य अर्थात् दुःख से चलें तो कारण अर्थात् अविद्या तक पहुँच जाएँगे। बुद्ध ने दुःख को 'जरा-मरण' कहा है। इस जरा-मरण का कारण है 'जाति (पुनः जन्म लेना) जाति का कारण है जन्म लेने की प्रवृति अर्थात् 'भव' इसका कारण है वस्तु से लगाव-अर्थात् 'उपादान'। उपादान का कारण है 'तृष्णा'। तृष्णा से होती है 'वेदना,' वेदना से 'स्पर्श फिर स्पर्श का कारण है इन्द्रियों का होना—षडायतन' षडायतन का कारण है नामरूप' अर्थात् शरीर। शरीर का कारण है प्रारम्भिक चेतना जिसे 'विज्ञान' कहते हैं। इस विज्ञान का कारण है 'संस्कार'। संस्कार का कारण है। (पूर्वजन्मों की प्रवृत्ति, पहले के किए गए कर्म) 'अविद्या'। अविद्या के कारण ही मनुष्य अवास्तविक को सत्य समझता है। बुरे कर्म करता है। अविद्या ही दुःखों का मूल कारण है। हिन्दू धर्म में भी अविद्या को ही दुःखों का मूल कारण माना गया है।

3—तीसरा आर्य सत्य है—दुःखों का समाप्त होना संभव है—दुःख निरोध—बुद्ध को इस सत्य का भी ज्ञान हुआ कि इस दुःख का निवारण किया जा सकता है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त के आधार पर जब किसी कार्य का

एक कारण होता है, तो निश्चित है कि यदि कारण न रहे तो कार्य नहीं होगा। दुःख एक कार्य (घटना, है अतः इसका निवारण हो सकता है। द्वादश निदान से स्पष्ट है कि जीवन का कार्य (दुःख) है यह कार्य-कारण की शृंखला से ही उत्पन्न होता है। इनमें से प्रथम कारण आत्मा के वास्तविक रूप के प्रति अज्ञान या अविद्या है। अर्थात् अविद्या के कारण ही मनुष्यों में वस्तुओं के प्रति समता, वासना या तृष्णा का उदय होता है और यही अतृप्त तृष्णाएँ मृत्यु के बाद पुनः जन्म का कारण बनती हैं। यही आवागमन, (मृत्यु-जन्म-मृत्यु-जन्म) का चक्र दुःख है और इसी का अन्त करना चाहिए। यही दुःख निरोध है। इसका फल निर्वाण है। इस प्रकार निर्वाण ही अविद्या का अन्त है। निर्वाण ही जन्म-मृत्यु का अन्त कहा जाता है। बौद्ध साहित्य में निर्वाण का अर्थ बुझे हुए दीपक माना गया है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार दीपक से तेल और बत्ती समाप्त हो जाती है तो दीपक का जलना बन्द हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य के भीतर तृष्णा के नाश से जीवन मृत्यु की क्रिया समाप्त हो जाती है। वेदनाएँ शान्त हो जाती हैं। निर्वाण शान्तावस्था है। पुराने कर्मों का क्षय हो जाता है। नए कर्म की उत्पत्ति नहीं होती। पुनर्जन्म की संभावना नष्ट हो जाती है। जब मनुष्य की इच्छा ही समाप्त हो जाती है तो काम वासना का लोप हो जाता है। मनुष्य बुझे हुए दीपक की भाँति निर्वाण को प्राप्त करता है। सारांश यह है कि निर्वाण, राग-द्रेष, वासना, इच्छा, तृष्णा का विरोध है। यही दुःख-निरोध है। बुद्ध ने बताया कि दुःखों का निरोध सम्भव है। इसका मार्ग भी है।

4—**चौथा आर्य सत्य—दुःखों के अन्त का मार्ग है**—'दुख निरोध मार्ग' बुद्ध का धर्म सैद्धान्तिक नहीं व्यावहारिक है। निराशावादी नहीं आशावादी है। उन्होंने मनुष्य को असीम दुःखों के सागर से बाहर निकल जाने का मार्ग भी बतलाया है। सम्यक् ज्ञान ही दुःख निरोध का उपाय बताया है। अज्ञान का नाश ज्ञान से ही हो सकता है। यदि आत्म तत्व का ज्ञान हो जाय तो इस ज्ञान से दुःख का भी नाश हो सकता है। अर्थात् दुःख से छुटकारा मिल सकता है। यह ज्ञान आत्म तत्व के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि मनुष्य संयम और साधना करे। इसके लिए बुद्ध ने सम्यक् चरित्र पर बल दिया है। चरित्र के लिए कठोर संयम और त्याग की आवश्यकता है। यहाँ बुद्ध भगवान अष्टांगिक मार्ग की शिक्षा देते हैं। इस मार्ग में मनुष्य का जीवन चरित्र निर्माण की ओर ही बढ़ता है। यह मार्ग न बहुत कठोर है और न सरल। इसे 'मध्यम मार्ग' कहा गया है। इसे 'मध्यम प्रतिपदा' भी कहा गया है। स्वयं बुद्ध ने घोर तपस्या करने के पश्चात् ही यह अनुभव किया था कि आत्मज्ञान न बहुत घोर तपस्या से ही हो सकता है और न ही स्वतन्त्र योग वृत्ति से। इसके लिए संयमित जीवन और सम्यक चरित्र का निर्माण आवश्यक है। इसीलिए बुद्ध ने 'मध्यम मार्ग' के अनुसरण से बोधि की प्राप्ति की थी। इस मार्ग में संयम के प्रमुख अंग हैं—सम्यक् शील, सम्यक् प्रज्ञा और सम्यक् समाधि। सम्यक् प्रज्ञा के अन्तर्गत

सम्यक् दृष्टि और संम्यक् संकल्प है। सम्यक् शील में—सम्यक् वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम है और सम्यक समाधि में—सम्यक् स्मृति और सम्यक समाधि है। इस प्रकार अष्टांगिक मार्ग को प्रज्ञा, शील तथा समाधि नामक त्रिरत्न में बाँटा गया है। यही अष्टांगिक मार्ग ही श्रेष्ठ कहा गया है और इसी के अनुसरण से निर्वाण की प्राप्ति की जा सकती है।

बौद्ध धर्म में आत्मा का सिद्धान्त—'अनात्मवाद'

बौद्ध धर्म में आत्मा का सिद्धान्त 'अनात्मवाद' कहा जाता है। बुद्ध के अनुसार आत्मा पाँच स्कन्धों का समुदाय माना है। दूसरे शब्दों में आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँचों स्कन्धों का समुदाय है। इन पंचस्कन्धों को शरीर, अनुभूति, प्रत्यक्ष, इच्छा और विचार कहा जा सकता है। यह पंचस्कन्ध क्षणिक और परिवर्तनशील है। चूँकि आत्मा इन पंचस्कन्धों का समुदाय है तो इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा भी क्षणिक और परिवर्तनशील है। इसीलिए बौद्ध धर्म के आत्मा के सिद्धान्त को 'अनात्मवाद' कहते हैं।

बुद्ध कोई नित्य, अविनाशी और चिरन्तन आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार स्थायी आत्मा में विश्वास करना भ्रम है। उन्होंने स्थायी आत्मा का निषेध कई रूपों में किया है। उनके अनुसार आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। व्यक्ति है, परन्तु वह पंच स्कन्धों का संघात मात्र है। जिस प्रकार एक रथ और कुछ नहीं पहिया, धुरी, रस्सी आदि का संघात रथ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति पाँच स्कन्धों का संघात है, उसमें कोई आत्म तत्व नहीं है।

इसी प्रकार क्षणिकता और अनित्यता के आधार पर भी बुद्ध आत्मा का निषेध करते हैं। जिसे लोग आत्मा कहते हैं वह अनित्य है। यह ऐसे शरीर और मन का संघात है जो अस्थायी है। बुद्ध ने आत्मा को विज्ञान (चेतना) का प्रवाह माना है। पाश्चात्य विचारकों में ह्यूम ने भी आत्मा को सुख-दुःख आदि मानसिक क्रियाओं का प्रवाह माना है। जेम्स ने भी इसे 'चेतना का प्रवाह' ही कहा है। बुद्ध ने भी आत्मा को चेतना के प्रवाह के रूप में ही माना है, जिसे भ्रमवश लोग एक स्थायी आत्मा के रूप में मान लेते हैं। जैसे एक नदी में असंख्य धाराएँ बहती हैं, उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, जिससे एकमयता बनी रहती है और उन असंख्य धाराओं को हम भ्रम वश एक नदी का नाम देते हैं। उसी प्रकार चेतना के प्रवाह को भी भ्रम वश एक आत्मा के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार दीपक की लौ के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। दीपक और कुछ नहीं असंख्य निकलती हुई लौ का समूह है। एक लौ जलती है, वह दूसरी को जन्म देती है, दूसरी तीसरे को जन्म देती है। पहले की लौ समाप्त होती है और दूसरे को जन्म देती

है। इस परिवर्तन और अस्थायित्व में भी हमें भ्रम वश एक ही दीपक दिखायी पड़ता है। ठीक यही बात स्थायी आत्मा को समझने में पायी जाती है। हम भ्रम वश पंचस्कन्धों रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के परिवर्तनशील रूप को ही आत्मा मान लेते हैं।

क्षणिकता के सिद्धात के आधार पर भी आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। बुद्ध के अनुसार सेआर की वस्तुएँ क्षणिक हैं। कोई वस्तु एकसी नहीं रहती। फिर आत्मा की नित्यता कैसे स्वीकार की जा सकती है? अतः स्थायी और शाश्वत आत्मा का अस्तित्व नहीं है। यदि आत्मा को स्थायी तत्व के रूप में माना जाता रहा है तो बुद्ध का आत्मा का सिद्धांत 'अनात्मवाद' माना जाता है, क्योंकि उनके अनुसार कोई स्थायी आत्मा नहीं है। स्थायी आत्मा की मान्यता केवल भ्रम है।

दूसरा मत—बुद्ध के अतिरिक्त अन्य धर्मों में तथा अधिकतर भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा को स्थायी तत्व के रूप में स्वीकार किया है। आत्मा अजर, अमर, स्थायी और शाश्वत, चिरन्तन सत्ता के रूप में है। इसका अस्तित्व मनुष्य की मृत्यु के बाद और पहले भी रहता है। गीता में आत्मा को अजर-अमर माना गया है। इसका कभी विनाश नहीं होता। यह भी माना जाता है कि शरीर के नाश हो जाने पर आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। आत्मा की अमरता के आधार पर ही पुनर्जन्म की भी पुष्टि की जाती है। परिवर्तन आत्मा का नहीं होता शरीर का होता है। शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। जैसे शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था। इन परिवर्तनों के बाद भी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि स्थायी आत्मा नहीं होती तो स्मृति का स्थान कहाँ रहेगा, क्योंकि शरीर के परिवर्तन के बाद भी स्मृति बनी रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा ही स्मृति का आधार है। आत्मा को नित्य मान लेने पर ही बन्धन और मोक्ष की व्याख्या की जाती है। यहाँ तक कहा जाता है कि नित्य आत्मा के कारण ही संसार की सभी वस्तुएँ प्रिय हैं। उपनिषदों में कहा गया है कि नित्य आत्मा ही सबसे प्रिय वस्तु है। यही अन्य वस्तुओं के प्रिय होने का कारण है। आत्मा को छोड़ केवल संसार की वस्तुओं में आसक्ति बन्धन है। आत्मा के इस शुद्ध स्वरूप को जान लेना अर्थात् आत्म ज्ञान ही मोक्ष है।

बौद्ध धर्म का आत्मा सम्बन्धी विचार हिन्दू धर्म के नित्य और अपरिवर्तनशील आत्मा के प्रतिकूल है। बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के कर्मवाद बन्धन, मोक्ष, स्मृति, संस्कार आदि को तो स्वीकार किया गया है परन्तु नित्य आत्मा को अस्वीकार किया गया है। अब प्रश्न यह है कि जब नित्य और स्थायी आत्मा को बौद्ध धर्म स्वीकार ही नहीं करता तो पुनर्जन्म किसका होता है? स्मृति की व्याख्या कैसे हो सकती है? कर्मफल किसको मिलता है? जन्म-मरण किसका होता है?

बौद्धधर्म इन आक्षेपों का उत्तर अपने विशिष्ट तर्कों द्वारा देता है। इसके अनुसार आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करना पुनर्जन्म नहीं है। पुनर्जन्म का अर्थ विज्ञान प्रवाह की क्रमिकता है। विज्ञान प्रवाह का जब अन्तिम प्रवाह समाप्त होता है अर्थात् उसकी मृत्यु होती है तो दूसरे शरीर में दूसरा नया विज्ञान शुरू होता है अर्थात् पुनर्जन्म होता है। जैसे दीपक का लौ एक समाप्त होता है तो वह दूसरे को जन्म देता है। जीवन की अन्तिम अवस्था से अगले जीवन की प्रथम अवस्था शुरू होती है। इसी प्रकार स्मृति और पहचान (प्रत्यभिज्ञा) की भी व्याख्या होती है। बौद्धधर्म के अनुसार स्मृति का प्रवाह निरन्तर चल रहा है। यह क्रम कभी टूटने वाला नहीं है। एक स्मृति दूसरी स्मृति को जन्म देती है। बाद में आने वाली स्मृति के क्षण का सम्बन्ध पहले वाली स्मृति के क्षण से रहता है। पहली वाली स्मृति से दूसरे को जन्म मिलता है। इसी आधार पर हमें बचपन की याद बनी रहती है। इसी तरह पहचान की क्रिया की भी व्याख्या की जाती है। विज्ञान प्रवाह से ही कर्म, संस्कार, जन्म, मृत्यु आदि की व्याख्या हो जाती है। यही बौद्ध धर्म का अनातमवाद है।

बौद्ध धर्म का अनात्मवाद मध्यममार्गी है—बौद्ध धर्म के इस अनात्मवाद का अपना विशिष्ट स्थान और अर्थ है। अनात्मवाद न यो चार्वाक की तरह आत्मा का पूर्णतया खन्डन है और न ही वेद तथा उपनिषद के आत्मतत्व की तरह नित्य आत्मा का समर्थन है। आत्मा है परन्तु वह॰ पंचस्कन्ध रूप है। क्षणिक और परिवर्तनशील है। न यह उच्छेदवाद (चार्वाक का मत) है और न यह शाश्वतवाद (वेद-उपनिषद) है। इसका समर्थन इससे भी होता है जब बुद्ध से आत्मा के विषय में पूछा जाता है, तब उनका उत्तर न स्वीकारात्मक होता है और न ही नकारात्मक। इससे यही सिद्ध होता है कि बुद्ध भगवान न तो उच्छेदवादी थे और शाश्वतवादी। वे मध्य-मार्गी थे। बुद्ध उच्छेदवाद तथा शाश्वतवाद के मध्य की स्थिति में थे। वे मध्यम मार्गी थे। अन्य सिद्धान्तों की तरह उनका अनातमवाद मध्यममार्ग है। उनका अनात्मवाद बड़े ही आकर्षक उदाहरण द्वारा समझाया गया है जो मध्यम मार्ग की ही पुष्टि करता है—जैसे व्याघ्री अपने बच्चे को अपने दाँतों से पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती है परन्तु बच्चे को वह न तो बड़ी कठोरता या निष्ठुरता से पकड़ती है और न ही शिथिलता से। उसी तरह बुद्ध भगवान आत्मा के अस्तित्व-अनास्तित्व के विषय में स्वीकारात्मक तथा नकारात्मक कोई उत्तर नहीं देते।

बौद्ध धर्म में बन्धन तथा मोक्ष (परमागति)

बन्धन—सभी धर्मों में मानव जीवन को अपने गन्तव्य पर पहुँचने के लिए मार्ग बताये गये हैं, उपाय सुझाये गये हैं। मानव का कल्याण कैसे होगा; इस पर विचार किया गया है। उसे दुःखों से बचने का उपाय बताया गया है। यह भी धारणा है कि संसार में अशुभ है; बुराइयाँ हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक

कष्ट हैं। इन्हीं कष्टों से घिरा जीवन दुःखप्रद बना रहता है। इस दुःख से, बुराइयों से कैसे छूटा जाय या बचा जाय, धर्मों ने इस पर विचार किया है। जन्म, मृत्यु तथा नाना प्रकार के कष्ट एक प्रकार से बन्धन हैं, जिनसे मनुष्य जीवन जकड़ा हुआ है। इससे छूटना चाहिये, ऐसा विचार मनुष्य के अन्दर आना स्वाभाविक है। परन्तु यह बन्धन क्यों है ? इसका कारण स्वयं मनुष्य है या मनुष्य की रचना करने वाला ईश्वर है। अधिकांश धर्मों में अशुभ, दुःख और बन्धन का कारण मनुष्य के अज्ञान को माना जाता है, या फिर मनुष्य की वासनाओं को माना जाता है प्रश्न होता है कि मनुष्य की सृष्टि करने वाले ईश्वर ने ऐसी बुराइयाँ या अज्ञान को क्यों उत्पन्न किया, जिसके कारण मनुष्य को कष्ट उठाना पड़ता है या बन्धन में रहना पड़ता है। अशुभ की इस समस्या का समाधान ईश्वरवादी धर्मों में सन्तोष-जनक नहीं मिलता। जहाँ तक बौद्ध धर्म की बात है, इसमें अशुभ और बन्धन की ऐसी समस्या उत्पन्न नहीं होती। बौद्धधर्म ईश्वरवादी नहीं है। यह पूर्णतया मानव-वादी धर्म है। अतः इस धर्म में बन्धन और अशुभ की समस्या के प्रति मानववादी दृष्टि से विचार किया गया है। मनुष्य बन्धन में क्यों है ? इसके लिए मानवीय दृष्टि से समाधान ढूँढ़ा गया है, जो स्वाभाविक प्रतीत होता है। कष्ट और अशुभ की अनन्त श्रृंखला में बँधी हुई मानव जाति को छुड़ाना या बचाना ही इस धर्म का उद्देश्य है। बौद्ध धर्म के उद्देश्य सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक हैं। यह सैद्धान्तिक प्रश्नों का समाधान नहीं ढूँढ़ता। यह तो मानव जीवन के बन्धन का कारण और उससे छूटने का उपाय मानवीय दृष्टि से ढूँढ़ता है। बौद्ध धर्म में इस समस्या का समाधान व्यावहारिक है।

बुद्ध ने जिन चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त किया उनमें प्रथम आर्य सत्य यही है कि संसार दुःखमय है। मानव जीवन पूर्णतया दुःखों से भरा हुआ है। इस दुःख और बन्धन का कारण, आवागमन (जन्म, मृत्यु का चक्र) का कारण 'अज्ञान' या अविद्या है। प्रतीत्यकसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य 'द्वाद्वश निदान' की श्रृंखला में बँधा हुआ जन्म और मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। मनुष्य के बन्धन का कारण अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ है अवास्तविक को वास्तविक, दुःखमय को सुखमय समझना, अनात्म को आत्मा समझना, यही अविद्या है। बुद्ध के अनुसार कार्य कारण से उत्पन्न होता है। यदि दुःख और बन्धन के कारण को दूर कर दिया जाय तो दुःख का विनाश हो सकता है। दुःख का मूल कारण अविद्या है। इसे दूर करना बन्धन से छुटकारा पाना है। इस बन्धन का कारण स्वयं मनुष्य है। मनुष्य का अज्ञान ही उसके बन्धन का कारण है। यह संसार भी बन्धन का कारण नहीं है। बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है, अतः ईश्वर भी बन्धन का कारण नहीं माना जा सकता। यदि मनुष्य में अज्ञान न हो, अज्ञान से वह अन्धा न बने और तृष्णा से ग्रस्त होकर, आसक्त होकर कर्म न करे तो बन्धन में नहीं आ सकते। जब आसक्ति से कर्म नहीं करेंगे तो कार्मिक संस्कार उत्पन्न नहीं होंगे और पुनः जन्म

लेने का अवसर नहीं मिलेगा। फलतः दुःख भी नहीं होगा। जब संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर क्षणिक और अस्थायी हैं तो उनसे आसक्ति रखना अज्ञान ही है। यदि वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाय तो बन्धन समाप्त हो सकता है। ऐसी स्थिति में अर्थात् अज्ञान समाप्त होने पर एक ऐसी स्थिति आ सकती है जिसमें कोई दुःख नहीं होता। वह स्थिति शान्तावस्था होती है। यही स्थिति निर्वाण की स्थिति होती है।

निर्वाण (मोक्ष) की धारणा—बौद्ध धर्म के अनुसार मानव की परमागति अथवा मानव जीवन का परम लक्ष्य 'निर्वाण' या मोक्ष है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण की भी व्याख्या मानवीय पौरुष के आधार पर की गयी है। यह कोई ईश्वरी देन या ईश्वर की कृपा नहीं है। चूँकि मानववादी धर्म होने के कारण इसमें किसी वाह्य सत्ता ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है, और मनुष्य स्वयं अपने दुःख या बन्धन का कारण है, इसलिए बन्धन से मुक्त होने का उपाय भी उसी के हाथ में है।

निर्वाण का स्वरूप—निर्वाण के स्वरूप के विषय में बुद्ध ने अपने तृतीय आर्य सत्य में बताया है। दुःख है, दुःख का कारण है तो दुःख निरोध भी है। यह दुःख निरोध ही निर्वाण है। निर्वाण कोई कल्पना या स्वप्न नहीं है। निर्वाण सभी दुःखों का बन्द हो जाना है। यह 'द्वादश निदान' की कड़ियों का, संसार चक्र का जन्म मृत्यु के चक्र का बन्द हो जाना है। निर्वाण की निषेधात्मक व्याख्या की जाती है कि निर्वाण दुःखों का न होना है। क्या यह केवल दुःखों का नकारना मात्र है? क्या यह भावात्मक नहीं है? बौद्ध धर्म में विषेष रूप से हीनयान सम्प्रदाय में निर्वाण की निषेधात्मक व्याख्या की गयी है; परन्तु सत्य तो यह है कि बुद्ध के मौलिक उपदेशों में ऐसा नहीं है। भगवान बुद्ध तो निर्वाण की स्थिति के विषय में कुछ बताने में मौन हैं। बुद्ध के मौन का अर्थ निर्वाण की निषेधात्मक स्थिति नहीं है। उनके मौन से यही पता चलता है कि निर्वाण के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

निर्वाण अवर्णनीय है—निर्वाण को 'शून्यता की' स्थिति भी कहते हैं परन्तु 'शून्यता' का अर्थ 'कुछ नहीं' नहीं माना जाना चाहिये। जब निर्वाण को 'शून्यता कहा जाता है तो इसका भी अर्थ यही है कि उसके विषय में 'कुछ नहीं' कहा जा सकता। इसका यह भी अर्थ होता है कि निर्वाण भावात्मक स्थिति को व्यक्त करता है, परन्तु उसके विषय में सामान्यतया कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि शून्यता का अर्थ 'कुछ नहीं' होता तो मिलिन्द द्वारा नागसेन से निर्वाण के स्वरूप के विषय में पूछे जाने पर नागसेन का यह उत्तर न मिलता कि निर्वाण सागर की तरह गहरा है, पर्वत के समान महान और ऊँचा है और शहद की तरह मधुर है।' नागसेन के इस विवरण से यद्यपि निर्वाण का कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं होता परन्तु यह भी नहीं सिद्ध होता कि वह 'कुछ भी नहीं' की स्थिति है। इस विवरण से भी यही स्पष्ट होता है कि निर्वाण अवर्णनीय है।

निर्वाणपूर्ण शान्ति एवं आनन्द की अवस्था है—निर्वाण के भावात्मक स्वरूप की व्याख्या करते हुये बौद्ध सन्तों ने इसे पूर्ण शान्ति, समता तथा आनन्द की अवस्था बतलाया है। निर्वाण की दशा में सभी दु:खों का केवल विनाश ही नहीं होता वरन् इस अवस्था में शान्ति एवं समता प्राप्त होती है, जिसके फलस्वरूप आनन्द की स्थिति हो जाती है। यह स्थिति चिरस्थायी होती है। निर्वाण की ऐसी अवस्था के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि निर्वाण एक निषेधात्मक स्थिति नहीं है। निर्वाण की इस भावात्मक दशा के विषय में इसके समर्थकों की विचारधारा का उल्लेख किया जा सकता है। निर्वाण को शीतलता की अवस्था माना गया है। विभिन्न प्रकार की वासनाएँ, मोह, क्रोध, दु:ख आदि को अग्नि के समान माना गया है। इस आग का शीतल हो जाना ही निर्वाण है। वासना दु:ख आदि के मिट जाने पर जो शीतलता आती है वह आनन्ददायक होती है। इसीलिए निर्वाण आनन्द है। पालि ग्रन्थों में निर्वाण को आनन्द की अवस्था कहा गया है। धम्मपद में निर्वाण पूर्ण शान्ति की अवस्था, परम सुख, वासनाओं से रहित आदि कहा गया है। इसको पवित्र भी माना गया है। 'अंगुत्तर निकाय' में इस अवस्था को पवित्र ही कहा गया है। अतः इससे सिद्ध होता है कि निर्वाण का केवल निषेधात्मक अर्थ नहीं भावात्मक अर्थ भी है।

निर्वाण एवं परिनिर्वाण-निर्वाण वर्तमान जीवन में भी प्राप्त हो सकता है—निर्वाण का अर्थ जलते हुए दीपक के बुझ जाने के अर्थ में भी लिया जाता है। काम वासनाएँ, तृष्णा, क्रोध, मोह, शरीर, नाम रूप आदि तेल और बत्ती के रूप में है। दीपक का बुझ जाना अर्थात् इनका शान्त हो जाना ही निर्वाण है। कुछ लोग इस बुझने का अर्थ शरीर के विनाश से लेते हैं, परन्तु निर्वाण का अर्थ शरीर का विनाश होना नहीं है। बुद्ध ने शरीर रहते निर्वाण की अवस्था प्राप्त की थी। निर्वाण में शरीर का विनाश होना आवश्यक नहीं है। शरीर रहते कामनाओं का नाश होना, शान्त होना, ही निर्वाण है। इस अवस्था को प्राप्त होते हुए जब शरीर का भी नाश हो जाता है तब वह अवस्था परिनिर्वाण की अवस्था होती है। इस प्रकार बौद्धधर्म में भी हिन्दू धर्म की तरह 'जीवन मुक्त' तथा 'मुक्त' की धारणा मिलती है। शरीर रहते जो निर्वाण को प्राप्त करता है उसे बौद्धधर्म में 'अर्हत' की संज्ञा दी जाती है। 'अर्हत' बौद्धधर्म में एक आदर्श पुरुष है। वह संसार में रहता है, कार्य करता है, परन्तु फिर भी संसार में आसक्त नहीं रहता। उसकी वासनाएँ, कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, बुझ जाती हैं। संसार के प्रति उसका लगाव, चिपकाव, आकर्षण नहीं रहता। सांसारिक भोगों में लिप्त नहीं रहता। इसीलिए निर्वाण की उपमा उस दीपक से दी गयी है, जो बुझ जाता है, शान्त हो जाता है। 'सुत्तनपात' में कहा गया है 'निब्बन्ति धीरा यथाऽम् पदीपो'। अतः निर्वाण परम सुख है—'निब्बानम् परमम् सुखम्'। यह सुख'सुखवाद' की धारणा से भिन्न है। यह सुख आनन्द के अर्थ में है और आनन्दइन्द्रिय सुख नहीं है। यह आनन्द अमृत के समान माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि निर्वाण का अर्थ अस्तित्व का विनाश नहीं है और न ही निर्वाण निष्क्रियता की अवस्था है। निर्वाण में मनुष्य जन्म और पुनर्जन्म के चक्र से स्वतन्त्र हो जाता है। वह समस्त दुःखों से छूट जाता है। निर्वाण शान्तावस्था, समता और आनन्द की अवस्था है। यही मुख्य जीवन की परमागति है। यह स्थिति चिन्तन और स्थायी स्थिति है। इसी का नाम निर्वाण है।

जैन धर्म का कैवल्य, हिन्दू धर्म का मोक्ष और बौद्ध धर्म का निर्वाण—जैन धर्म तथा हिन्दू धर्म की कैवल्य तथा मोक्ष की धारणा की तुलना बौद्ध धर्म के निर्वाण से की जा सकती है। जैन धर्म में यह बताया गया है कि जीव जब पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है, तो वह केवली ज्ञान का अधिकारी होता है अर्थात् कैवल्य की अवस्था को प्राप्त करता है और ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है। ईश्वरत्व को प्राप्त करके या पूर्ण कैवल्यावस्था को प्राप्त होकर वह पुनः जगत में लौटता ही नहीं, वही उसकी पूर्णता की अवस्था है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस अवस्था में मनुष्य किसी उच्च अवस्था में स्थित रहता है। बौद्ध धर्म के निर्वाण में कुछ ऐसा आभास होता है कि जीव का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। परन्तु यह मत स्वीकार नहीं किया जाता। भावात्मक स्थिति में निर्वाण शान्ति, समता तथा आनन्द की अवस्था है। यदि यह मत स्वीकार किया जाय तो बौद्ध निर्वाण जैन के कैवल्य से बहुत अलग नहीं है। इसी प्रकार हिन्दू धर्म में उपनिषदों के जीव और ब्रह्म के मिलन या एकता या जीव का ब्रह्म में विलीनीकरण की धारणा मिलती है, फिर जीव का अस्तित्व नहीं रहता। यह धारणा जैन धारणा की अपेक्षा बौद्ध निर्वाण के अधिक निकट है। हिन्दू धर्म की अन्य शाखाओं में मोक्ष की अवस्था में शान्ति, आनन्द और समता की स्थिति बतायी गयी है। यदि इसे भी स्वीकार किया जाय तब भी यह बौद्ध के निर्वाण और जैन के कैवल्य से समानता रखती है। इससे यही सिद्ध होता है कि जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के पहले उपनिषदों या हिन्दू धर्म की चिन्तन धारा मिलती है। निस्सन्देह रूप से जैन और बौद्ध धर्म दोनों हिन्दू धर्म से प्रभावित थे। दोनों ही उपनिषद की भाषा का ही प्रयोग करते हैं।

निर्वाण के विरुद्ध आक्षेप का उत्तर—कुछ पाश्चात्य विचारकों ने बौद्धधर्म के निर्वाण की यह कह कर आलोचना की है कि यह विनाश की स्थिति है। इस आक्षेप का उत्तर तो इससे ही दिया जा चुका है कि निर्वाण की भावात्मक अवस्था होती है, परन्तु यह कुछ भारतीय विचारकों का विचार प्रस्तुत करके पाश्चात्य विचारकों के आक्षेप का उत्तर अधिक स्पष्ट रूप से दिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में 'दिनकर' की मीमांसा प्रस्तुत की जा सकती है। उनके शब्दों में "कदाचित सच्ची बात यह है कि बुद्धदेव का निर्वाण विनाश की स्थिति नहीं होकर आत्मा के उसी विमल उल्लास की अवस्था है जिस पर वेदान्त की इतनी भक्ति है। हक्सल, फरकोहर

और पूसिन यह जरूर मानते हैं कि निर्वाण विनाश (Annihilation) की स्थिति है, किन्तु भारतीय विद्वानों का उनसे मतभेद है। डॉ० आनन्द कुमार स्वामी का मत है कि 'निर्वाण मृत्यु भी है और जीवन की पूर्णता भी। किन्तु, यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे हम स्थान विशेष या काल विशेष में देख सकें। बुद्धदेव ने निर्वाण के लिए जो साधन बताये हैं, वे निर्वाण तक जाने के सोपान नहीं हैं, बल्कि उनसे सिर्फ वे बाधाएँ दूर होती हैं, जिनके कारण हमें निर्वाण का अनुभव नहीं हो पाता। यह बात वैसे ही है, जैसे अंधेरे में चिराग के आ जाने से देखने की बाधा दूर हो जाती है।" डॉ० राधाकृष्णन का कहना है कि "निर्वाण विनाश का पर्याय है, इसका समर्थन हमें बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता। बौद्ध ग्रंथ हमें जिस निर्वाण की अवस्था का वर्णन सुनाते हैं, वह मृत्यु या विनाश की अवस्था नहीं है, बल्कि यह वह अवस्था है जो नैतिक आचरणों की पूर्णता से प्राप्त होती है, जो पवित्र धार्मिक जीवन की साधना का परिणाम है। निर्वाण वासनाओं से छुटकारे का नाम है। निर्वाण वह उज्जवल शान्ति है जिसका कभी भंग नहीं होता।"[1]

बौद्ध धर्म में आचार (नैतिकता) निर्वाण (मोक्ष) के मार्ग—अष्टांगिक मार्ग बुद्ध ने अपने चतुर्थ आर्य सत्य में दुःखों के निरोध का उपाय भी बताया है। दुःख निरोध के लिए उन्होंने एक मार्ग निर्दिष्ट किया है, जिसे दुःख निरोध मार्ग कहा जाता है। इसी मार्ग से निर्वाण की प्राप्ति होती है। दुःख निरोध मार्ग को अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है, क्योंकि इसके आठ अंग हैं—(1) सम्यक दृष्टि, (2) सम्यक सङ्कल्प, (3) सम्यक वाक्, (4) सम्यक कर्मान्त, (5) सम्यक अजीविका, (6) सम्यक व्मायाम, (7) सम्यक स्मृति, और (8) सम्यक समाधि। इन आठों अंगों पर ध्यान देने से पता चलता है कि बौद्ध धर्म व्यक्ति के नैतिक जीवन और आचार व्यवहार पर ही बल देता है। इसमें प्रार्थना तथा अन्य कर्मकाण्डों को जैसा कि अन्य धर्मों में देखा जाता है, नहीं अपनाया गया है। इतना अवश्य है कि बाद के बौद्ध धर्म के विकास के साथ ही साथ कुछ धार्मिक क्रिया-कलापों, कर्मकाण्डों तथा पूजा के विधि-विधान का विकास भी देखा जाता है। परन्तु मौलिक बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी होने के कारण मानववादी ही है और इसमें मानवीय आचरण तथा नैतिकता को विशेष महत्व दिया गया है। मनुष्य ही अपने आचरण और व्यवहार के कारण अपने दुःख का कारण होता है, अतः इन दुःखों से छूटने का उत्तरदायित्व भी उसी पर है। नैतिक जीवन की शुद्धता, मन, वाणी, कर्म की पवित्रता निर्वाण के लिये आवश्यक है। बुद्ध ने इसीलिए अष्टांगिक मार्ग पर चलने का निर्देश दिया है। उनका यह मार्ग 'मध्यम मार्ग' भी कहा जाता है, क्योंकि यह मार्ग न तो जीवन में मनमाना वासनापूर्ण जीवन जीने का आग्रह करता है और न ही

1. संस्कृत के चार अध्याय पृ० —157।

घोर तपस्या और कठोर कर्मकांडों तथा शारीरिक यातना सहन करने के लिए ही कहता है। अष्टांगिक मार्ग मध्य का मार्ग है। यह दोनों अतियों (अति कठोर तथा अति छूट, मनमाना कर्म) का खंडन करता है। यदि वासनापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं तो उससे आध्यात्मिक प्रगति नहीं होती और यदि कठोर तपस्या और यातनापूर्ण साधना करते हैं तो उससे बुद्धि की दुर्बलता बढ़ती है। इस तथ्य का पता स्वयं बुद्ध ने अपने जीवन में चार आर्य सत्यों को प्राप्त करते समय ही लगा लिया था। एक अति का ज्ञान उन्हें गृहस्थ जीवन व्यतीत करते समय हो गया था और दूसरे अति का ज्ञान घोर तपस्या के समय हुआ था। सच्चा ज्ञान उन्हें दोनों अतियों के छोड़ने पर ही हुआ। अतः उनको मध्यम मार्ग का ज्ञान अष्टांगिक मार्ग के रूप में हुआ। इस मार्ग पर कोई भी निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। सन्यासी और गृहस्थ कोई भी इस मार्ग का अनुसरण कर सकता है। इस रूप में बौद्ध धर्म मानवतावादी धर्म है। यह सार्वभौमिक धर्म है। अनीश्वरवादी होने के कारण यह किसी मत विशेष के घेरे से निकल कर मानवता की रक्षा का उपाय बताता है। इसीलिए कुछ लोगों ने बौद्ध धर्म को सार्वभौमिक धर्म मान लेने पर जोर दिया है।

बौद्ध धर्म के अष्टांगिक मार्ग की व्याख्या—

(1) **सम्यक् दृष्टि**—बुद्ध के अनुसार सम्यक दृष्टि का अर्थ है चार आर्य सत्यों का स्पष्ट ज्ञान। इसी में यह भी मिला हुआ है कि मनुष्य को प्रतीत्य समुत्पाद, क्षणिकवाद, अनात्मवाद आदि बुद्ध के उपदेशों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। संसार के विषय में जो मिथ्या दृष्टि है अर्थात् अवास्तविक को वास्तविक और वास्तविक को अवास्तविक, अनात्म को आत्मतत्व समझना ठीक नहीं है। सम्यक् दृष्टि होनी चाहिये, मिथ्या दृष्टि नहीं। बुद्ध की सम्यक दृष्टि की तुलना महावीर स्वामी के सम्यक दर्शन से की जा सकती है। यही बात वेदान्त में श्रद्धा के विषय में कही गयी है। अष्टांगिक मार्ग का यह प्रथम मार्ग अत्यन्त महत्पूर्ण है, क्योंकि जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण ही स्पष्ट नहीं रहेगा तो वह आगे नहीं बढ़ सकता।

(2) **सम्यक् संकल्प**—सम्यक् सङ्कल्प का अर्थ सुविचारित निश्चय है, अर्थात् सम्यक् दृष्टि के पश्चात हमारा मन शुद्ध वासनाओं से मुक्त होकर चार आर्य सत्यों का पतन करने का दृढ़ सङ्कल्प या निश्चय करे। साथ ही हमें यह भी सङ्कल्प करना चाहिए कि ऐसी कोई क्रिया न करे जिससे हिंसा हो, वासना जगे या कोई अशुभ कार्य हो। हमारे आगे का मार्ग अध्यात्म का मार्ग अवरुद्ध न हो, इसका संकल्प होना चाहिए। इसमें त्याग और परोपकार, अहिंसा आदि की भावना निहित है।

(3) **सम्यक् वाक्**—हमारा सङ्कल्प हमारी वाणी से अभिव्यक्त होता है। वाणी का संयम आवश्यक है। तभी हम अध्यात्म के पथ पर चल सकते हैं।

उदाहरणार्थ—झूठ न बोलना, चुगली न करना, कठोर शब्द न कहना, व्यर्थ की बातें न करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हमारी वाणी अहितकर न हो, स्वार्थ की बातें न करें, क्षुद्र और तुच्छ विचारों को न सोचे न वाणी से प्रकट करें। वाणी संयम में सत्य और प्रिय वचन का उपयोग आवश्यक है। वाणी संयम किसी तपस्या से कम नहीं है। यही सम्यक् वाक् का अर्थ है।

(4) **सम्यक् कर्मान्त**—सम्यक् कर्मान्त का अर्थ है अशुभ कार्यों को न करना। तीन ऐसे कर्म हैं जिनको न करने के लिये कहा गया है—हिंसा, चोरी तथा इन्द्रिय भोग। सम्यक् कर्मान्त इन तीनों कर्मों का भावात्मक रूप होगा। अर्थात् अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रिय संयम करना ही सम्यक् कर्मान्त कहा गया है। न किये जाने वाले इन तीनों कर्मों से विरति (बचना) के अलावा दो ऐसे कर्म हैं जैसे झूठ न बोलना और मदिरा-पान न करना, इनसे बचने के लिए कहा गया है। इन पाँचों कर्मों की विरति को 'पंचशील' कहा गया है। इनको निषेधात्मक तथा भावात्मक रूपों में न करने तथा करने के लिए कहा गया है। ये पाँच विरतियाँ इस प्रकार हैं—

1. प्राणातिपात विरति (हिंसा न करना),
2. अदत्तादान विरति (चोरी न करना),
3. काम मिथ्याचार विरति (इन्द्रिय भोग न करना),
4. मृषावाद विरति (झूठ न बोलना), तथा
5. सुरा-मैरेय-प्रमाद-स्थान विरति (शराब के नशे और प्रमाद से बचना)।

भावात्मक रूप में कहा जाता है कि मनुष्य को अहिंसा, करुणा, सन्तोष, इन्द्रिय संयम, विश्वसनीयता, ईमानदारी, एकाग्रता, नियन्त्रण, निग्रह, संयम आदि की आवश्यकता है।

(5) **सम्यक् आजीव**—सम्यक् आजीव का अर्थ उचित साधनों से आजीविका का अर्जन करना। जिस मार्ग का निषेध किया गया है उससे आजीविका का अर्जन नहीं करना चाहिए। उचित मार्ग है बिना किसी को कष्ट दिये, बिना हिंसा किये, जीविका का उपार्जन करना। निम्नलिखित साधनों से उपार्जन नहीं करना चाहिये क्योंकि इनको निषिद्ध माना गया है—

1. सत्थ वणिज्जा (शस्त्र का व्यापार),
2. सत्त वणिज्जा (प्राणी का व्यापार),
3. मंस वणिज्जा (मांस का व्यापार),
4. मज्ज वणिज्जा (मद्य का व्यापार), तथा
5. विसव वणिज्जा (विष का व्यापार)।

(6) **सम्यक् व्यायाम**—सम्यक् व्यायाम का अर्थ ऐसे प्रयत्न या उपाय से है, जिससे शुभ विचारों को ग्रहण किया जा सके और अशुभ तथा बुरे विचारों का आना रूक जाय। इसके अन्तर्गत चार प्रकार के प्रयत्न आते हैं—

1. पहले से वर्तमान अशुभ विचारों का पूर्णतया त्याग करना,
2. नये अशुभ विचारों को मन में न आने देना,
3. मन को सदैव अच्छे विचारों से भरना, और
4. इन शुभ विचारों को बने रहने के लिये लगातार प्रयत्न करते रहना।

प्रयत्न से ही बुरे विचारों का त्याग तथा नये शुभ विचारों को ग्रहण किया जा सकता है। अशुभ विचार के परित्याग करने के लिए बुद्ध ने निम्नलिखित पाँच उपायों को बतलाये हैं—

1. अपवित्र भावना का पवित्र भावना के ध्यान से अन्त करना।
2. अपवित्र भावना की बुराइयों का ध्यान करना, जिससे उनके प्रति अनाकर्षण हो और पुनः उनको न दुहराएँ।
3. यदि बुराइयों के ध्यान से अपवित्र वस्तु से ध्यान न हटे तो उस वस्तु से ही ध्यान हटा लिया जाय।
4. अपवित्र विचारों का निर्मूलन करने का प्रयास।
5. बलपूर्वक अशुभ विचारों को रोकना और मन को शुभ विचारों से भरना।

(7) **सम्यक् स्मृति**—सम्यक् स्मृति का अर्थ है आतम-अनातम के भेद को वास्तविक, अवास्तविक के भेद को और उसके स्वरूप के प्रति जागरूक रहना। मनुष्य को अपने शरीर, मन, संवेदना अर्थात् शरीर, भावना तथा मन तथा इनसे उत्पन्न विचारों के प्रति इसलिये सतर्क रहना चाहिए कि वे गलत मार्ग पर न जायें। सम्यक् स्मृति से मन राग और द्वेष से स्वतन्त्र हो जाता है तथा ध्यान की उच्च स्थिति पर पहुँचता है। मनुष्य को यह सदैव याद रखना चाहिए कि शरीर क्षणिक और विनाशशील है। वेदना को सुखात्मक, दुःखात्मक और दोनों समझना (उभयात्मक) चाहिए। चित्त सराग और विराग रूप है, ऐसा जानना चाहिए। धर्म को कामना, द्रोह आदि से रहित समझना चाहिए। इस प्रकार से समझने वालों को क्रमशः कायानुपश्यी, वेदना-नुपश्यी, चित्तानुपश्यी और धर्मानुपश्यी कहते हैं। इस दृष्टि से सतत् स्मरण करना ही सम्यक् स्मृति है।

(8) **सम्यक् समाधि**—सम्यक् स्मृति के अभ्यास के पश्चात् मनुष्य अष्टांगिक मार्ग की अन्तिम अवस्था तक पहुँच सकता है, वह अवस्था है सम्यक् समाधि। समाधि में निर्वाण चाहने वाला मनुष्य अपनी चित-वृत्तियों का पूर्ण निरोध कर लेता है। समाधि में चार अवस्थाएँ होती हैं। इसीलिए यह समाधि चार प्रकार की भी होती है। समाधि की पहली अवस्था में साधक तर्क-वितर्क में रहता है। उसे चार आर्य सत्यों का मनन करना पड़ता है। उसके मन में संशय भी होते हैं, वह उनका निराकरण भी करता रहता है। दूसरी अवस्था में साधक को आर्य सत्यों के प्रति श्रद्धा का भाव जग जाता है। तर्क-वितर्क समाप्त हो जाते हैं। आनन्द और शान्ति

की अनुभूति होने लगती है । समाधि की तीसरी अवस्था में उदासीनता का भाव आता है, अर्थात् आनन्द और शान्ति के प्रति न लगाव न अलगाव रहता है । इससे तटस्थ रहना इस अवस्था की विशेषता है । फिर भी शारीरिक आराम की चेतना रहती है। चौथी अवस्था में शारीरिक आराम की चेतना भी समाप्त हो जाती है । इस अवस्था के आने पर साधक 'अर्हत' हो जाता है । इस अवस्था की विशेषता होती है कि साधक की चित्त-वृत्तियों का पूर्णतया निरोध हो जाता है । सुख-दु:ख का निरोध होता है । सभी प्रकार के निरोधों के बाद दु:ख-सुख से परे की यह अवस्था 'निर्वाण' की अवस्था है ।

बौद्ध सम्यक् समाधि की तुलना योग के मत से की जा सकती है । योग दर्शन में भी चित्त-वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है । इसमें भी योग के आठ अंगों की चर्चा की गयी है । इसे योगांग कहते हैं । आठ योगांग हैं—यम, निगम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म पर यह योग दर्शन का प्रभाव ही है ।

बौद्ध धर्म के धार्मिक सम्प्रदाय

अन्य धर्मों की तरह बौद्ध धर्म का भी विभाजन हुआ है । मूलरूप से इसके दो सम्प्रदाय हैं—एक हीनयान और दूसरा महायान ।

हीनयान बौद्धधर्म के प्राचीन रूप से सम्बन्धित है और महायान बौद्धधर्म के विकसित रूप से सम्बन्धित है । सम्भवत: बौद्ध धर्म के विकास के साथ अपने को महान और श्रेष्ठ सिद्ध करने वाले वर्ग ने महायान कहना शुरू किया होगा और प्राचीन मत को अपनाने वालों को हीनयान कहना प्रारम्भ किया होगा। इसके कारण भी है । 'यान' का अर्थ होता है गाड़ी । महायानी अपने को श्रेष्ठ बताने के लिए यह तर्क देता है कि इसके सिद्धान्तों को मानने से सब को मुक्ति या निर्वाण प्राप्त हो सकता है। सभी इस मार्ग से मोक्ष तक पहुँच सकते हैं । इसके विपरीत हीनयान की मान्यता यह है कि व्यक्ति केवल अपने मोक्ष (निर्वाण) की प्राप्ति कर सकता है । इस अर्थ में हीनयान, महायान की अपेक्षा हीन या लघु है । नाम के आधार पर इन दोनों सम्प्रदायों की विशेषताओं पर दृष्टिपात किया जा सकता है ।

हीनयान—हीनयान की विशेषता यह है कि यह बुद्ध के मौलिक उपदेशों पर आधारित है । इसकी शिक्षाएँ पालि में हैं । बौद्ध धर्म का यह प्राचीन और मौलिक सम्प्रदाय माना जाता है । यह लोकप्रियता की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता । इसका प्रचार लंका, श्याम, वर्मा में हुआ । अपनी जन्म भूमि में अधिक लोकप्रिय न हो सका ।

हीनयान बौद्ध धर्म के प्राचीन रूप का संरक्षण करता है । बुद्ध के मौलिक उपदेशों में जो बातें कही गयीं, उनका ही कड़ाई से पालन और समर्थन करता है ।

यह अनात्मवाद, क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तों का समर्थन करता है। सबसे बड़ी बात यह कि हीनयान बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी सिद्ध करता है। हीनयान ईश्वर के स्थान पर 'कर्म' और 'धर्म' को महत्व देता है। इसके अतिरिक्त हीनयान में 'संघ' को भी कम महत्व नहीं दिया गया है। संघ में ही बौद्ध धर्म के अनुयायियों को आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है। साधक को बुद्ध में, धर्म में तथा संघ में शरण लेनी पड़ती है। यह एक प्रकार का व्रत है, जिसे प्रत्येक धर्मावलम्बी को लेना आवश्यक है। साधक इस धर्म में यह कहते हुए व्रत लेता है कि—'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि ।'

हीनयान के अनुसार मनुष्य की परमागति या मनुष्य का परम लक्ष्य 'अर्हत' का पद प्राप्त करना अथवा निर्वाण को प्राप्त करना है। यह व्यक्ति के स्वयं के प्रयास को महत्व देता है। व्यक्ति को निर्वाण पद की प्राप्ति उसकी साधना और प्रयास ही से सम्भव है। यह बुद्ध के इस उपदेश को चरितार्थ करने का प्रयास करता है—'आत्म दीपोभव ।' अर्थात् व्यक्ति को अपने प्रयास से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। यह स्वावलम्बन और आत्म-निर्भर होने की शिक्षा देता है ।

हीनयान व्यक्तिगत शुद्धि, वैराग्य, सन्यास तथा एकान्त जीवन जीने पर बल देता है। यह सामाजिक जीवन का बहिष्कार करता है। सन्यास पर अधिक जोर देने के कारण यह सामाजिकता को महत्व नहीं देता। समाज या परिवार में रहने से आसक्ति और मोह की वृद्धि होती है अतः वासना और आसक्ति से छुटकारा पाने के लिए भिक्षु तथा सन्यास जीवन को श्रेयस्कर समझा गया है।

हीनयान में सबसे महत्वपूर्ण बात यह पाई जाती है कि इसने बुद्ध को एक साधारण मनुष्य के रूप में मान्यता दी है। इतना अवश्य है कि बुद्ध अद्भुत प्रतिभा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने साधना के आधार पर अपने को महात्मा और उपदेशक के रूप में प्रतिष्ठित किया। सभी लोग बुद्ध तो नहीं बन सकते परन्तु बुद्ध के बताये मार्ग पर चलकर निर्वाण-प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये। हीनयान में बुद्ध को ईश्वर नहीं माना गया है और न ही उन्हें उपास्य ही सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

समीक्षा के रूप में हीनयान की यह आलोचना की जाती है कि इसका आदर्श संकुचित है। इसमें व्यक्तिगत कल्याण पर तो जोर दिया गया है परन्तु लोक कल्याण का निषेध किया गया है। व्यक्तिगत मुक्ति को आदर्श मानकर हीनयान ने स्वार्थपरता को प्रश्रय दिया है। महायान ने हीनयान को इसीलिए हीन या छोटा बताया है कि इसने लोक कल्याण को महत्व नहीं दिया है। इसके विपरीत महायान सब की मुक्ति पर बल देता है। इसमें लोक कल्याण की भावना निहित है। हीनयान एक ओर तो बुद्ध के प्राचीन सिद्धान्तों के पालन पर जोर देता है और दूसरी ओर उनसे उपदेशों तथा उनके जीवन के आदर्शों की अवहेलना करता है, क्योंकि बुद्ध संसार से दुःखों

के निवारण के लिए आजीवन प्रयत्नशील थे। उनको केवल अपनी मुक्ति की ही नहीं चिन्ता थी। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात उन्होंने भ्रमण किया, लोगों को दुःखों से बचने का उपदेश दिया। इससे स्वार्थपरता का खण्डन होता है। हीनयान ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और अपने को संकुचित तथा स्वार्थी आदर्शों तक सीमित रखा।

महायान—हीनयान एक ओर अनीश्वरवादी था तो दूसरी ओर अव्यावहारिक भी, क्योंकि जो धर्म संकीर्ण और कठोर नियमों वाला होता है, वह धार्मिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। व्यक्ति में धर्म की दृष्टि से पूजा, श्रद्धा प्रेम आदि को प्रकट करने का कोई आकर्षण होना चाहिये। हीनयान अनीश्वरवादी होने के कारण पूजा, कर्मकाण्ड तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं की अनुमति नहीं देता। अतः यह मनुष्य के हृदय को सन्तोष देने वाला सिद्ध नहीं हुआ। दूसरे कठिन नियमों के पालन के कारण भी यह व्यावहारिक नहीं सिद्ध हुआ। अतः बौद्ध धर्म के विकास के साथ कुछ समर्थकों ने हीनयान के विरूद्ध एक दूसरे सम्प्रदाय को जन्म दिया। इस सम्प्रदाय को धर्म की दृष्टि से अधिक लोकप्रियता मिली। यह सम्प्रदाय महायान के नाम से जाना गया। महायान का अर्थ हुआ बड़ी गाड़ी अथवा विशाल मार्ग। इस मार्ग से चलकर अधिक से अधिक लोगों को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। इसमें सहजता है न कि हीनयान की तरह कठोरता। इसीलिए इसे सहजयान भी कहा जाता है। महायान सम्प्रदाय जीवित सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसका प्रचार प्रसार हीनयान की अपेक्षा अधिक हुआ। इसका विस्तार चीन, जापान और कोरिया तक हुआ। इसका इतना प्रभाव बढ़ा कि कुछ लोग इसी के आधार पर बौद्ध धर्म को सार्वभौमिक धर्म मानने लगे। महायान की कुछ विशेषताओं पर निम्नलिखित रूपों में प्रकाश डाला जा सकता है—

(1) महायान में बुद्ध को करुणा, दया, और प्रेम के गुणों से सम्पन्न ईश्वर के रूप में माना गया है। महायान इसीलिए हीनयान की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुआ। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि धर्मों में ईश्वर का स्थान अत्यन्त आवश्यक है। बिना ईश्वर के धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती। महायान बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धान्तों से दूर है। बुद्ध के मौलिक उपदेशों को हीनयान ही महत्व देता है। महायान में ईश्वरवाद यहाँ तक कि बहुदेववाद तक को स्थान दिया गया है। इसमें कर्मकाण्ड, पूजा, अर्चना को भी स्थान दिया गया। महायान में केवल बुद्ध को ही भगवान मानकर पूजा नहीं की जाती वरन् अनेक बोधिसत्वों की पूजा होती है।

(2) हीनयान जहाँ अनात्मवाद की स्थापना करता है। महायान इसके विपरीत आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है। महायान मोक्ष के लिए आत्मा का अस्तित्व आवश्यक मानता है। व्यक्तिगत आत्मा के स्थान पर महायान सभी में महात्मा

का अस्तित्व है । इस आधार पर सभी में समानता है । बुद्धत्व की प्राप्ति सभी को हो सकती है ।

(3) महायान में 'बोधिसत्व' की कल्पना की गयी है । यही जीवन का उद्देश्य है । बोधिसत्व केवल अपने निर्वाण की नहीं मानव जाति के उद्धार का प्रयास करता है । हीनयान में 'अर्हतन' की कल्पना की गयी है । अर्हतन व्यक्तिगत मोक्ष को चाहता है । महायान का बोधिसत्व लोक कल्याण पर आधारित है ।

(4) महायान सन्यास तथा संसार से त्याग की शिक्षा नहीं देता । इसके अनुसार संसार पारमार्थिक सत्ता है । इसका त्याग न करके इसमें रहा जा सकता है और रहकर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है । इसके विपरीत हीनयान सन्यासी और भिक्षु जीवन जीने पर जोर देता है । यह एक तरह का संसार से पलायन कहा गया है ।

(5) महायान धर्म में हीनयान की अपेक्षा कर्मों की व्याख्या नवीन ढंग से की गयी है । कर्म का सिद्धान्त कहता है कि 'जो जैसा करेगा वह वैसा भरेगा ।' इस सिद्धान्त को कोई टाल नहीं सकता । परन्तु महायान कहता है कि बोधिसत्व लोक-कल्याणकारी होता है । लोक हित के लिए दूसरे के द्वारा किए गये पाप कर्मों का फल स्वयं भोग सकता है और अपने शुभ कर्मों के फल से दूसरों का कल्याण कर सकता है । यह महायान की बहुत बड़ी विशेषता कही जा सकती है ।

(6) मोक्ष के विषय में महायान भावात्मक विवरण देता है । कहा गया है कि निर्वाण की अवस्था में मनुष्य के दु:खों का अन्त हो जाता है और वह आनन्द की अवस्था में रहता है । इस दृष्टि से महायान का सिद्धान्त हिन्दू धर्म के अधिक निकट है ।

(7) दार्शनिक मत और सिद्धान्त के आधार पर, जो धर्म की आधारभूमि कही जा सकती है, महायान का हीनयान से अन्तर है । महायान उदार और प्रगतिशील है । महायान ने ऐसे दार्शनिक सिद्धान्तों को दिया है, जिससे बौद्ध धर्म की गम्भीरता पर प्रकाश पड़ता है । विज्ञानवाद और शून्यवाद इसके उदाहरण के रूप में बताये जा सकते हैं । हीनयान के दार्शनिक सिद्धान्त अनात्मवाद, क्षणिकवाद और अनीश्वरवाद हैं ।

(8) महायान समाजोन्मुखी है । महायान सामाजिक सेवा को महत्व देता है । यह मानता है कि दीन-दुखियों की सेवा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है । बोधिसत्व के इस कथन से यही पता चलता है कि महायान में लोक कल्याण और समाज सेवा की भावना है—"मैं यात्रियों के सार्थवाह बनूंगा, पार उतरने वालों के लिए नौका बनूंगा,.........मैं अनाथों का नाथ बनूंगा ।"

आचार्य असंग ने 'महायान-मिधर्मसंगीति शास्त्र' में महायान की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(1) महायान में सभी जीवों के मोक्ष के लिए कहा गया है। यह विशाल है।

(2) इसमें प्राणिमात्र की सुरक्षा का सन्देश दिया गया है।

(3) बोधिसत्व की प्राप्ति ही इसका आदर्श है।

(4) बुद्ध ने अनेक प्रकार से लोगों के कल्याणार्थ उपदेश किया है, परन्तु सभी उपदेश परमार्थ रूप से अभिन्न हैं।

(5) इसका अन्तिम उद्देश्य बोधि-प्राप्त करना है।

(6) बोधिसत्व के लिए दस-मूर्तियों का विधान किया गया है।

(7) बुद्ध सभी मनुष्यों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ है। इन विशेषताओं के आधार पर महायान का हीनयान से भेद स्पष्ट हो जाता है।

---

5 | यहूदी धर्म

वास्तव में यहूदी धर्म देवदूतों अथवा भविष्यवक्ताओं के दैवी भावनाओं से युक्त कथनों पर आधारित है। मूसा जो यहूदी धर्म के मुख्य संस्थापक कहे जाते हैं उनके ईश्वरी भावनाओं से परिपूर्ण जीवन और कथनों से यहूदी, पीढ़ियों तक प्रोत्साहन एवं निर्देशन प्राप्त करते रहे हैं। इस धर्म के पैगम्बर रहस्यवादी थे और उनके कथन बहुधा रहस्यवाद की भाषा से आवेष्टित होते थे। प्राचीन धर्म शास्त्र में महात्मा मूसा के प्रति यहूदी धर्म के समर्थकों की अतीव श्रद्धा देखने को मिलती है। मूसा ने ईश्वर यहोवा की प्रेरणा में यहूदियों को मिस्र की दासता से स्वतन्त्र करवाया और इजराइल की घाटी में उन्हें बसाया। इतना ही नहीं ईश्वर यहोवा ने महात्मा मूसा के द्वारा यहूदियों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के लिए आदेश भी निर्दिष्ट कराये। अतः मूसा द्वारा निर्दिष्ट धर्मशास्त्र विषयक आदेशों का बहुत ही सम्मान है। महात्मा मूसा के बाद भी विभिन्न पैगम्बरों ने कुछ हेर फेर के बाद यहोवा के इन्हीं आदेशों की पुनरावृत्ति की। सभी पैगम्बर अपने शब्दों को यहोवा के आदेश मानते थे। यद्यपि आरम्भ में यहोवा एक जातीय ईश्वर के रूप में माने गये परन्तु बाद में राष्ट्रीय ईश्वर की धारणा विकसित हुई। फिर भी इतना तो निर्विवाद सत्य है कि अन्य धर्मों की अपेक्षा यह पवित्रता, नैतिकता, कर्मकाण्ड, पूजा एवं विभिन्न आचरणों तथा पारिवारिक मूल्यों को अत्यधिक महत्व देता है। इस परिप्रेक्ष्य में यहूदी धर्म के मूल तत्वों को देखा जा सकता है। सर्वप्रथम यहूदी धर्म के मूल तत्व दस आदेशों में मिलते हैं—

(1) तेरा परमेश्वर यहोवा, जो तुझे दासत्व के घर अर्थात् मिस्र देश में से निकाल लाया है, वह मैं हूँ।

(2) मुझे छोड़ दूसरों को ईश्वर करके न मानना, तू अपने लिये कोई मूर्ति खोदकर न बनाना, न किसी की प्रतिमा बनाना जो आकाश में या पृथ्वी पर या पृथ्वी के जल में है। तुम उनको दण्डवत न करना और न उनकी उपासना करना क्योंकि मैं तेरा परमेश्वर यहोवा जलन रखने वाला हूँ, और जो मुझसे बैर रखते हैं उनके बेटों, पोतों और पर पोतों को पितरों का दण्ड दिया करता हूँ। जो मुझसे प्रेम रखते हैं, मेरी आज्ञाओं को मानते हैं, उन हजारों पर करुणा किया करता हूँ।

(3) तुम अपने परमेश्वर यहोवा का नाम व्यर्थ न लेना, क्योंकि जो यहोवा का नाम व्यर्थ लेगा वह उसको निर्दोष नहीं समझेगा।

(4) तुम विश्राम दिन को पवित्र मानने के लिए स्मरण रखना। छः दिन तो परिश्रम करके अपना सब काम-काज करना परन्तु सातवाँ दिन तुम्हारे परमेश्वर यहोवा के लिए विश्राम दिन है। उस दिन न तो तुम किसी तरह का काम-काज करना और न तेरा बेटा, न तेरी बेटी, न तेरा दास, न तेरी दासी, न तेरे पशु, न कोई परदेशी, जो तेरे फाटकों के भीतर हों। क्योंकि छः दिन में यहोवा ने आकाश, पृथ्वी, समुद्र और जो कुछ उनमें है, सबको बनाया और सातवें दिन विश्राम किया, इस कारण यहोवा ने विश्राम दिन को आशीष दी और उसको पवित्र बनाया।

(5) तुम अपने पिता और माता का आदर करना, जिससे जो देश तेरा परमेश्वर यहोवा देता है उसमें बहुत दिन तक रहने पाये।

(6) तुम हत्या न करना।

(7) तुम व्यभिचार न करना।

(8) तुम चोरी न करना।

(9) तुम किसी के विरुद्ध झूठी गवाही न देना।

(10) तुम किसी के घर, स्त्री, दास, दासी, बैल और गदहे के या किसी के किसी वस्तु के प्रति लालच न करना।[1]

उपर्युक्त दस आदेशों के अतिरिक्त यहूदी धर्म में नैतिक आचरण की पवित्रता, सामाजिक व्यवस्था तथा पारिवारिक मूल्यों से सम्बन्धित नियमों तथा सिद्धान्तों का भी बड़े ही विस्तृत रूप में प्रतिपादन किया गया है।

बुद्धि—यहूदी धर्म में बुद्धितत्व या विवेक पर जितना अधिक बल दिया गया है वैसा विश्व के अन्य धर्मों में दृष्टिगत नहीं होता। इस पक्ष में इस धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इससे जीवन को व्यावहारिक दर्शन में ढालने का प्रयास किया गया है। इस तत्व पर सबसे अधिक बल निर्गमन के बाद वाले सन्तों और पंडितों द्वारा ही दिया गया है। हिब्रू विचार में बुद्धि (Wisdom) के दो रूप मिलते हैं—एक व्यावहारिक पक्ष और दूसरा सैद्धान्तिक पक्ष। व्यावहारिक पक्ष यहूदियों का नैतिक या व्यावहारिक दर्शन है और सैद्धान्तिक पक्ष उनका तत्वशास्त्र या सत्ता का दर्शन है। यहाँ ध्यान देने की एक विशेष बात यह है कि अन्य धर्मों में जहाँ बुद्धि तत्व को आध्यात्म में तिरस्कृत किया गया है वहाँ इस तत्व को जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना गया है। यही कारण है कि यहूदी धर्म में जीवन का कोई पक्ष धर्म से विलग नहीं है। धर्म एवं जीवन की एकात्मकता को स्वीकार किया गया है। इसीलिए सम्पूर्ण जीवन-दर्शन बुद्धि तत्व से आवेष्टित

---

1. पुराना नियम—निर्गमन 20/1-17, व्यवस्था विवरण 5/7-21।

है। अत: प्राचीन नियमों में बुद्धि के विषय में वर्णित तथ्यों का उल्लेख आवश्यक है।

सर्वप्रथम हम बुद्धि के व्यावहारिक पक्ष को लें। जब हम इससे सम्बन्धित यहूदी धर्म के साहित्य को प्राचीन नियम में विशेष रूप से 'अयूब', 'नीतिवचन' और 'समोपदेशक' को देखते हैं तो प्रभावित हुए बिना नहीं रहते, क्योंकि इनमें मानवीय सम्बन्धों और जीवन के प्रति मनोवृत्तियों के निरीक्षणों, सुझावों और विधियों को बड़े भव्य रीति से सजाया गया है। इस साहित्य को देखने से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इनमें पर्याप्त मात्रा में गम्भीर सामान्य सूझ की बातें निहित हैं, और बहुत से ऐसे उपदेश तथा ज्ञान की बातें मिलती हैं जो हमारे तथा अन्य के साथ व्यवहार में आज के जीवन में भी उतनी ही उपयोगी हैं जितनी कि उस समय जबकि लिखी गयी थीं। इन कथनों में ऐसी बातें मिलती हैं जिनके देखने से पता चलता है कि ये सभी कथन मानव जाति के मूर्खतापूर्ण व्यवहार के सूक्ष्म निरीक्षण के बाद ही व्यक्त किये गये हैं। यही नहीं इनमें स्पष्ट चिन्तन और स्वस्थ नैतिकता के बीच सह-सम्बन्ध का एक मानदण्ड भी मिलता है। इन बुद्धि के उपदेशों में व्यावहारिक नैतिकता तो सम्मिलित है ही साथ ही इनमें यहोवा के नियम भी समाहित हैं। मानव जीवन के व्यवहारों के सूक्ष्म निरीक्षण के फलस्वरूप ही ये कथन प्रकट किये गये हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि 'जो मनुष्य बुद्धि से चलता है वह विलम्ब से क्रोध करता है और अपराध को भुलाना उसको अच्छा लगता है।'[1] मूढ़ भी जब चुप रहता है तब बुद्धिमान गिना जाता है, और जो अपना मुँह बन्द रखता है वह समझदार गिना जाता है।[2] धर्म और बुद्धि का सह सम्बन्ध है— 'धर्मी के मुँह से बुद्धि टपकती है।'

धर्मी ग्रहण योग बात समझकर बोलता है, परन्तु दुष्टों के मुँह से उलटफेर की बातें निकलती हैं।[3] यहोवा के नियम एवं बुद्धि में अन्तर नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि 'यहोवा का भय मानना बुद्धि का आरम्भ है, और परम पवित्र ईश्वर को जानना ही समझ है।'[4] बुद्धि को जीवन में कितना अधिक महत्व प्रदान किया गया है, इसका प्रमाण इन कथनों से मिलता है जबकि बुद्धि स्वयं कहती है 'मेरे ही द्वारा राजा राज्य करते हैं और अधिकारी धर्म से विचार करते हैं। मेरे ही द्वारा राजा, हाकिम एवं रईस और पृथ्वी के सब न्यायी शासन करते हैं। जो मुझसे प्रेम करते हैं उनसे मैं भी प्रेम रखती हूँ और जो मुझको यत्न से तड़के उठकर खोजते हैं वे मुझे पाते हैं। धन और प्रतिष्ठा मेरे पास है, वरन् ठहरने वाला धन और धर्म भी है।'[5] बुद्धि का जीवन में क्या होता है इसके विषय में जो भी कथन

1. प्राचीन नियम, नीतिवचन 19/11
2. वही 17/18
3. वही 10/31-32
4. वही 9/10
5. वही 8/15-18

प्राप्त हैं उससे भी बुद्धि की ही महत्ता प्रकट होती है—'मेरा फल चोखे सोने, वरन् कुन्दन से भी उत्तम है और मेरी उपज उत्तम चाँदी से अच्छी है। मैं धर्म की बाट में और न्याय के डगरों के बीच में चलती हूँ जिससे मैं अपने प्रेमियों को परमार्थ के भागी करूँ और उनके भण्डारों को भर दूँ।'[1] इसके विपरीत जो बुद्धि की अवहेलना करते हैं उसका फल इस प्रकार होता है 'जो मनुष्य बुद्धि के मार्ग से भटक जाय उसका ठिकाना मरे हुओं के बीच में होगा।' बुद्धिमान व्यक्ति का घर धन-धान्य से पूर्ण होता है। जो बुद्धि से चलता है वही बचा रह सकता है। बुद्धि जीवन का स्रोत है। (16/22) धर्म और बुद्धि में एकता स्थापित करते हुए कहा गया है "धर्मी के मुँह से बुद्धि टपकती है।" बुद्धिपूर्ण जीवन ही वास्तविक जीवन है। बुद्धि कहती है—'जो मुझे पाता है वह जीवन को पाता है। मेरे मुँह की सब बातें धर्म की होती हैं। उनमें से कोई टेढ़ी या उलटफेर की बातें नहीं निकलती हैं। समझ वाले के लिए वे सब सहज और ज्ञान प्राप्त करने वालों के लिए अति सीधी हैं। चाँदी नहीं मेरी शिक्षा ही को लो और उत्तम कुन्दन से बढ़कर ज्ञान को ग्रहण करो।' क्योंकि बुद्धि मूँगे से भी अच्छी है और सारी मनभावनी वस्तुओं में कोई भी उसके तुल्य नहीं है। 'मैं जो बुद्धि हूँ चतुराई में वास करती हूँ और विवेक को प्राप्त करती हूँ। मैं तो समझ हूँ और पराक्रम भी मेरा है।'

प्राचीन धर्म में बुद्धितत्व को सृष्टि के पहले से ही माना गया है। बुद्धि कहती है यहोवा ने मुझे काम करने के आरम्भ में वरन् अपने प्राचीन काल के कामों से भी पहले उत्पन्न किया। मैं पृथ्वी की सृष्टि के पहले से ही ठहराई गयी हूँ। सृष्टि के निर्माण के पहले बुद्धि यहोवा के पास कारीगर के रूप में थी। बुद्धि को यहोवा द्वारा बनाई हुयी पृथ्वी से प्रसन्नता तो थी, परन्तु सबसे अधिक प्रसन्नता और सुख मनुष्यों की संगति से होता था। इसीलिए बुद्धि ने कहा 'जो मुझे पाता है वह जीवन को पाता है।'[2] इसके विपरीत मूर्खतापूर्ण जीवन की पूर्णतया भर्त्सना की गयी है।[3]

बुद्धि-तत्व का यह निरूपण धर्म दर्शन की दृष्टि से यहूदी धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष को निरूपित करता है। इससे ईश्वर का जगत, प्रकृति एवं मानव से सम्बन्ध प्रकट होता है। प्रकृति की आश्चर्यमयता के आधार पर यह निर्णय निकाला गया है कि परमतम सत्ता अपरिमित रूप में बुद्धिमान है। सुलेमान और अयूब के कथनों से प्रकट होता है कि बुद्धि एक दैवी गुण है। इससे यह भी प्रकट होता है कि बुद्धि का अपना एक अलग स्थान और महत्व है। (नीतिवचन 8 और अयूब 28)

यहूदी धर्म में बुद्धि तत्व पर इतना गम्भीर रूप से जो चिन्तन किया गया है उसी से स्पष्ट होता है कि स्वच्छ, चिन्तन और स्वस्थ नैतिकता में सह-सम्बन्ध है।

---

1. वही 8/19-21
2. वही 8/1-35
3. वही 26/1-11

साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि बुद्धि से युक्त नैतिकता व्यावहारिक तो है ही और दूसरी ओर यह यहूदी नियम (Law) के रूप में भी अवशिष्ट रह जाती है। इस प्रकार इससे यह भी सिद्ध होता है कि यहूदी नियम या नैतिकता ईश्वर से साक्षात रूप में सम्बन्धित है जो कि बुद्धिपूर्ण चरित्र और व्यवहार में प्रकट होती है। ऐसी बुद्धिपूर्ण और व्यवहार्य नैतिकता ही मानवीय सम्बन्धों को परिपूर्ण कर सकती है। यहाँ द्रष्टव्य है कि यहूदी धर्म ने केवल आदर्शवादी दृष्टि से ही नहीं वरन् यथार्थ-वादी दृष्टिकोण से जीवन की परिपूर्णता की ओर मार्ग प्रदर्शित किया है। इसीलिए यहूदी धर्म में व्यावहारिक और यथार्थवादी नैतिकता ही परिलक्षित होती है।

मन—न्याय, सत्य, प्रेम, कर्मठता, दया, भलाई, धर्म, शान्ति, मैत्री आदि नैतिक गुणों को समाजिक जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से आबद्ध किया गया है। बुद्धि के पश्चात् यहूदी धर्म में मन तत्व और फिर उसके तथा वाणी के संयम पर विशेष बल दिया गया है। 'सबसे अधिक अपने मन की रक्षा कर, क्योंकि जीवन का मूल स्रोत वही है। आँखें सामने की ओर लगी रहें और पलकें आगे की ओर खुली रहें। पांव रखने के लिए मार्ग को समतल कर 'न तो दाहिनी ओर मुड़ना और न बाईं ओर'[1] जीवन में सुख एवं आनन्द पाने के लिए मन का सरल एवं शुद्ध होना आव-श्यक है। क्योंकि 'जो मन का टेढ़ा है, उसका कल्याण नहीं होता। मन का आनन्द अच्छी औषधि है. परन्तु मन के टूटने से हड्डियाँ सूख जाती हैं।''[2] व्यक्ति का निर्माण मन से ही होता है। जैसा मन होता है वैसा ही व्यक्ति का आचरण और व्यवहार भी। 'क्योंकि जैसा वह अपने मन में विचार करता है, वैसा वह आप है।' (नीति-वचन 23/7)। मन के ऊपर बुद्धि का नियंत्रण और निर्देशन आवश्यक है। बुद्धिमान व्यक्ति मन की बात जान सकता है, वैसे मन तो बड़ा अथाह है। (नीतिवचन 20/5) यही नहीं 'मन सब वस्तुओं से अधिक धोखा देने वाला होता है, उसमें असाध्य रोग लगा है। उसका भेद कौन समझ सकता है।' यहोवा ही मन के द्रष्टा हैं। वही हृदय जाँच करके कर्म का फल देने वाले हैं। बुद्धिमान व्यक्ति ही अपने मन को वश में करके नष्ट होने से बचता है। 'नाश होने से पहले मनुष्य के मन में अभिमान और महिमा पाने से पहले नम्रता आती है। (नीति—18/12)। इसीलिए अभि-मानी व्यक्ति को पापमय बताया गया है। 'क्रोध में चढ़ी आँखें, अभिमानी मन, और दुष्टों की खेती, तीनों पापमय हैं।' (नीति—21/4) इसलिए मन की शुद्धता और उसके सीधे मार्ग पर चलने पर विशेष बल दिया गया है। 'जो मन की शुद्धता से प्रीति रखता है और जिसके वचन मनोहर होते हैं राजा उसका मित्र होता है। (नीति 22-11)। इसलिए यहोवा मनुष्य को आदेश देते हैं कि 'तू पापियों के विषय में मन में डाह न करना, बुद्धिमान हो और अपना मन सुमार्ग में सीधा चला'। (नीति 23/17-19)।

---

1. नीतिवचन—4/23-27,
2. वही, 17/20-22,

वाणी संयम—मन के संयम के साथ ही वाणी-संयम आवश्यक है। नैतिक पूर्णता की यह आवश्यक कसौटी है। ध्यान देने की बात है कि बुद्धि और समझ इसमें भी पृष्ठभूमि के रूप में है 'जो सँभल कर बोलता है, वही ज्ञानी है' मूढ़ भी जब चुप रहता है तब बुद्धिमान गिना जाता है। और जो अपना मुँह बन्द रखता है वह समझ वाला गिना जाता है। वाणी-संयम का महत्व तो यह है कि जीभ के वश में मृत्यु और जीवन दोनों होते हैं, जो अपने मुँह को वश में रखता है वह अपने प्राण को विपत्तियों से बचाता है।' कोमल वचन हड्डी को भी तोड़ डालता है।'[1]

न्याय—बुद्धियुक्त मन और वाणी-संयम के साथ ही न्याय और सत्य का प्रतिपालन होता है। यहूदी धर्म में न्याय और सत्य पर विशेष बल दिया गया है। यहूदी धर्म की राष्ट्रवादिता इससे भी झलकती है कि समाज और देश के निर्माण एवं गठन के लिए न्याय एवं सत्य का पालन सभी पैगम्बरों ने आवश्यक माना है। न्याय को ईश्वरीय कार्य मानकर इसका पालन करना चाहिए। समाज का अस्तित्व निष्पक्ष न्याय के अभाव में सम्भव नहीं है। व्यवस्था विवरण में इसका स्पष्ट आदेश मिलता है 'न्याय करते समय किसी का पक्ष न करना, जैसे बड़े की वैसे ही छोटे मनुष्य की भी सुनना, किसी का मुँह देखकर न डरना क्योंकि न्याय परमेश्वर का काम है।' (1/17)

यहूदी धर्म में कर्मकाण्ड—यज्ञ एवं बलि को विशेष स्थान दिया गया है। 'लैव्य व्यवस्था' (Leniticus) में होम बलि, अन्न बलि, मेल बलि, दोष बलि तथा अन्य भाँति-भाँति के बलिदानों की विधि का बड़ा ही विस्तृत विवरण दिया गया है।[2]

इन पूजा, यज्ञ, बलि और हवन की विधियों का बड़ी कड़ाई से पालन होता रहा परन्तु न्याय को कुछ पैगम्बरों ने इससे भी ऊपर माना। सुलेमान के 'नीति वचन' में स्पष्ट कहा गया है कि 'धर्म और न्याय करना, यहोवा को बलिदान अधिक अच्छा लगता है।' (नीति वचन 21/3) यह न्याय निर्बल, अनाथों और दीन-दरिद्रों के लिए तो अनिवार्य है। समाज में बलिष्ठ तो न्याय पाता ही है निर्बल और अनाथ न्यायरहित कर दिये जाते हैं। इसलिए उनके न्याय के लिए ही विशेष जोर दिया गया है—गूंगे के लिए अपना मुँह खोल, और सब अनाथों का न्याय उचित रीति से किया कर। अपना मुँह खोल और धर्म से न्याय कर, दीन-दरिद्रों का न्याय कर। (नीति वचन 31/8-9)[3]।

सत्य—न्याय के साथ सच्चाई का पालन हो सकता है, इसीलिए कहा गया

---

1. नीतिवचन—17/27-28, 18/21, 21/23, 25/15
2. लैव्य व्यवस्था—1-9 अध्याय तक।
3. यशायाह—1/1-15, यीका, 6/7-8 पिर्मयाह—21/12

'कृपा और सच्चाई तुमसे अलग न होने पाए' 'खरी बुद्धि और विवेक की रक्षा कर इनसे तुझे जीवन मिलेगा।' 'सच्चाई सदा बनी रहेगी, परन्तु झूठ पल ही भर का होता है।' 'जो निर्धन खराई से चलता है, वह उस मूर्ख से उत्तम है जो टेढ़ी बातें बोलता है।' सत्य का पालन करने से लौकिक और पारमार्थिक लाभ दोनों हैं। क्योंकि 'जो धर्मी खराई से चलता रहता है उसके पीछे उसके लड़के धन्य होते हैं। असत्य का फल प्रारम्भ में तो अच्छा लगता है परन्तु बाद में कष्टदायक होता है। 'चोरी-छिपे की रोटी मनुष्य को मीठी तो लगती है परन्तु पीछे उसका मुँह कंकड़ से भर जाता है।' सत्य का पालन न करने से ईश्वर रुष्ट भी हो जाता है। असत्यवादी ईश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि 'घटती-बढ़ती बटखरों से यहोवा घृणा करता है और छल का तराजू अच्छा नहीं है ?[1]

भलाई—धर्म-जीवन में परोपकार, दया और भलाई का विशिष्ट स्थान है। बिना इसके धर्म जीवन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। यहूदी धर्म में बार-बार इस पर बल दिया गया है। धर्म का प्रकटीकरण व्यवहार में होता है। भलाई नैतिक आचरण है। इस अर्थ में यहूदी धर्म सिद्धान्त और व्यवहार में बहुत भेद नहीं रखता। इसका प्रत्येक सैद्धान्तिक पक्ष व्यवहार में परिणत होता है, इसमें सन्देह नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति, धर्म और सच्चाई का पालन करते हुए भलाई का कार्य अवश्य करे। सुलेमान के नैतिक उपदेश इस सम्बन्ध में बड़े ही मनोग्राही हैं। 'जिनका भला करना चाहिए, यदि तुझमें शक्ति रहे, तो उनका भला करने से न रुकना।' 'जो कोई भलाई के बदले में बुराई करे, उसके घर से बुराई दूर नहीं होगी।' 'जो यत्न से भलाई करता है वह औरों की प्रसन्नता खोजता है। ऐसा ही भलाई करने वाला और न्याय पर चलने वाला सच्चा धार्मिक व्यक्ति होता है।' यहेजकेल के उपदेशों में भी मिलता है कि 'जो कोई धर्मी हो और न्याय तथा धर्म के काम करे, न पराई स्त्री को बिगाड़ा हो और न ऋतुमती के पास गया हो और न किसी पर अन्धेर किया हो वरन ऋणी को उसकी बन्धक फेर दी हो, न किसी को लूटा हो, वरन् भूखे को अपनी रोटी दी हो और नंगे को कपड़ा ओढ़ाया हो, न ब्याज पर रुपया दिया हो, और न रुपये की बढ़ती ली हो और अपना हाथ कुटिल काम से रोका हो, मनुष्य के बीच सच्चाई से न्याय किया हो ऐसा मनुष्य धर्मी है।'[2]

दान, दया धर्म-अधर्म—भलाई और परोपकार में ही दान, दया, धर्म आदि मानवीय गुण जुड़े हुए हैं। फिर भी यहूदी धर्म में दान, दया और धर्म पर सतत् चलने पर बल दिया गया है। यदि इन गुणों का पालन नहीं करते तो अधर्म के भागी होंगे और उसका परिणाम पाप होगा, जिसका फल व्यक्ति को स्वयं भुगतना पड़ेगा। इसी अर्थ में यहूदी धर्म बिल्कुल ही व्यक्तिवादी धर्म माना जा सकता है।

1. नीतिवचन—3/3, 12/19, 19/1-2, 20/7, 23/6, 28/6
2. नीतिवचन—4/27, 11/27, 17/13 तथा यहेजकेल—18/5-9;

शुभ-अशुभ का कर्त्ता व्यक्ति अपने कर्मों के कारण ही होता है। इसलिए पाप से बचने के लिए और शुभ कर्मों का शुभ परिणाम प्राप्त करने के लिए मनुष्य को दान, दया धर्म का पालन करना चाहिए और अधर्म से बचना चाहिए। दान के विषय में 'नीति वचन' में कहा गया है कि 'अपनी सम्पत्ति के द्वारा, और अपनी भूमि की सारी पहली उपज दे देकर यहोवा की प्रतिष्ठा करना, इस प्रकार तेरे खत्ते भरे-पुरे रहेंगे।' 'जो निर्धन को दान देता है, उसे घटी नहीं होती।' 'जो कंगाल पर अनुग्रह करता है, वह यहोवा को उधार देता है और वह अपने इस काम का प्रतिफल पायेगा।' 'दया करने वाले पर आशीष फलती है, क्योंकि वह कंगाल को अपनी रोटी में से देता है।' 'जो निर्धन को दान देता है उसे घटी नहीं होती, परन्तु जो उससे दृष्टि फेर लेता है वह शाप पर शाप पाता है।' 'तेरे भाइयों में से कोई तेरे पास दरिद्र हो, तो अपने उस दरिद्र भाई के लिए न तो अपना हृदय कठोर करना और न अपनी मुट्ठी कड़ी करना, जिस वस्तु की घटी उसको हो, उसका जितना प्रयोजन हो उतना अवश्य अपना हाथ ढीला करके उसको उधार देना। तेरे देश में दरिद्र तो सदा पाये जाएँगे। इसलिए मैं तुझे यह आज्ञा देता हूँ कि तू अपने देश में अपने दीन-दरिद्र भाइयों को अपना हाथ ढीला करके अवश्य दान देना।' सत्य, न्याय, दान, दया करने वाला ही वास्तविक धार्मिक व्यक्ति है। 'सच्चे मनुष्य का मार्ग धर्म के कारण सीधा होता है। 'धर्मी के मुँह से बुद्धि टपकती है। धर्मी ग्रहण योग्य बात समझकर बोलता है।' धर्म मृत्यु से भी बचाता है। जो धर्म का बीज बोता है, उसको निश्चय ही फल मिलता है। जो धर्म में दृढ़ रहता है, वह जीवन पाता है। परन्तु जो बुराई का पीछा करता है वह मृत्यु का कौर हो जाता है। धर्मियों की लालसा तो केवल भलाई की होती है, परन्तु दुष्टों की आशा का फल क्रोध ही होता है। धर्मी का प्रतिफल जीवन का वृक्ष होता है और बुद्धिमान मनुष्य लोगों के मन को मोह लेता है। धर्मी को पृथ्वी पर फल मिलेगा, तो निश्चित है कि दुष्ट और पापी को भी मिलेगा। धर्मी झूठे वचन से वैर रखता है, परन्तु दुष्ट लज्जा के कारण और लज्जित हो जाता है। धर्मियों की ज्योति आनन्द के साथ रहती है, परन्तु दुष्टों का दीपक बुझ जाता है। धर्मी मन में सोचता है कि क्या उत्तर दूँ, परन्तु दुष्टों के मुँह से बुरी बातें उबल आती हैं।[1]

शान्ति-प्रेम—यहूदी धर्म में शान्ति और प्रेम के पालन का उपदेश दिया गया है। कहा गया है कि शान्ति की इच्छा करो तथा इसे बनाये रखो। 'नीति वचन' में कहा गया है कि "शान्त मन तन का जीवन है। परन्तु मन में जलने से हड्डियाँ भी जल जाती हैं।" जिसकी आत्मा शान्त रहती है वही समझदार पुरुष होता है।"

---

1. नीति वचन—3/9, 21/14, 28/27, 11/17-23, 14/21, 22/9, 22/22, 11/4-5, 15/28, 21/3, 21,
   व्यवस्था विवरण—15/7-8, 11,

पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन में प्रेम का बहुत बड़ा महत्व है। इस पर यहूदी धर्म में कहा गया है कि "प्रेम वाले घर में साग-पात का भोजन, बैर वाले घर में पले हुए बैल का मांस खाने से उत्तम है।"[1]

मैत्री—मैत्री जैसे गुण को इस धर्म में महत्वपूर्ण स्थान मिला है। कहा गया है—'मित्र सब समय प्रेम रखता है और विपत्ति के दिन भाई बन जाता है। मित्र का प्रेम स्पष्ट होता है। उस मैत्री में भेद-भाव या दुराव नहीं रहता। इसलिए यदि मित्र स्पष्ट रूप से बिना दुराव के डांट भी दे तो वह अच्छा है न कि शत्रु ऊपर से प्रेम रखे परन्तु भीतर ही भीतर बैर भावना रखे। इसीलिए कहा गया है कि "खुली हुयी डाट गुप्त प्रेम से उत्तम है। जो घाव मित्र के हाथ से लगे वह विश्वास योग्य है। परन्तु बैरी अधिक चुम्बन करता है।" मित्र का त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि मित्र का संग आनन्दित करता है। 'जैसे तेल और सुगन्ध से, वैसे ही मित्र के हृदय की मनोहर सम्मति से मन आनन्दित होता है। जो तेरा और तेरे पिता का भी मित्र हो, उसे न छोड़ना।" "जैसे लोहा लोहे को चमका देता है, वैसे ही मनुष्य का मुख अपने मित्र की संगति से चमकदार हो जाता है।"[2] ज्ञान, सेवा, क्षमा, संयम, विश्वास, नम्रता, सन्तोष नैतिक और धार्मिक जीवन के लिए ज्ञान-विचार आवश्यक है। शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, उचित-अनुचित, सत्-असत् आदि का निर्णय करने के लिए ज्ञान-विचार अन्य नैतिक गुणों के पहले आता है। इसलिए यहूदी धर्म में इसको बड़ा महत्व प्रदान किया गया है। ज्ञान की बातों का महत्व सोने और मूंगे से भी अधिक है। भौतिक मूल्यवान वस्तुओं का मूल्य इस धार्मिक और आध्यात्मिक गुण के समक्ष तुच्छ है। ज्ञान-विचार से चलने वाला व्यक्ति सेवा को जीवन में महत्वपूर्ण स्थान देता है। कंगाल पर अनुग्रह करना, उसको उधार देना यहोवा की ही सेवा है, या यहोवा को उधार देना है। अपने इस कार्य के लिए उसे प्रतिफल मिलेगा।

यहूदी धर्म में क्षमा के सम्बन्ध में दो विरोधी उक्तियाँ मिलती हैं। एक ओर तो यह भी कहा गया है कि अपने शत्रु की भी सहायता करनी चाहिए और क्षमा तथा सहायता से उसके हृदय में पश्चाताप की भावना उत्पन्न करे। कहा गया है कि ' यदि तेरा बैरी भूखा हो तो उसको रोटी खिलाना और यदि प्यासा हो तो उसे पानी पिलाना; क्योंकि इस रीति से तू उसके सिर पर अंगारे डालेगा।" शत्रु के साथ ऐसा व्यवहार देखने में तो अहिंसात्मक प्रतीत हो रहा है परन्तु नकारात्मक रूप में 'सिर पर अंगारे डालना' उक्ति हिंसात्मक ही लगती है। इसमें मन की पवित्रता और हृदय की सरलता नहीं प्रतीत होती। कुछ भी हो क्षमा का यह ऊपर से नैतिक और सामाजिक जीवन के लिए बड़ा ही उपयोगी और अनुकरणीय है परन्तु दूसरी ओर कहा गया है कि यदि आपस के मार-पीट में

---

1. नीति वचन—15/17, 17/1।
2. नीति वचन—17/17, 27/5-6, 9-10, 17।

किसी गर्भिणी औरत का गर्भपात हो जाता है और कुछ अन्य हानि नहीं होती तो अपराधी को उतना ही दण्ड दिया जाय जितना पंच निर्णय दें। परन्तु यदि उस स्त्री को कुछ और हानि पहुँचे तो उसके लिए क्षमा तो है ही नहीं बल्कि प्राण के बदले प्राण का, आँख के बदले आँख का, दाँत के बदले दाँत का, हाथ के बदले हाथ का, पाँव के बदले पाँव का, दाग के बदले दाग का, घाव के बदले घाव का और मार के बदले मार का दण्ड हो। यहाँ यहूदी धर्म में जैसा को तैसा वाले सिद्धान्त को स्थान दिया गया है।

यहूदी धर्म में आत्मा-संयम पर बल दिया गया है। मनुष्य को अपनी दुर्वासनाओं पर नियन्त्रण और विजय प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। आत्म-संयम पर आत्म-पूर्णता की प्राप्ति के लिये ही बल दिया गया है। जो आत्म-संयम नहीं करता या "जिसकी आत्मा वश में नहीं है, वह ऐसे नगर के समान है जिसकी शहर पनाह-नाका करके तोड़ दी गई हो। विश्वास के सम्बन्ध में यहूदी धर्म की व्यावहारिक शिक्षा यह है कि विपत्ति के समय में विश्वासघाती का विश्वास कभी नहीं करना चाहिये। कहा गया है कि "विपत्ति के समय विश्वासघाती का भरोसा टूटे हुए दाँत या उखड़े पाँव के समान है।" नम्रता, विनयशीलता तथा ईश्वर का भय, इन तीनों का फल होता है—धन, महिमा और जीवन।

यहूही धर्म में सन्तोष के महत्व को स्वीकार किया गया है। सबसे बड़ा धनाढ्य व्यक्ति वही है जो सन्तोषी है। सन्तोष होने पर संसार का सभी वैभव तुच्छ जान पड़ता है, परन्तु असन्तुष्ट व्यक्ति को संसार की निकृष्ट वस्तुएँ भी बहुत बड़ी और महत्व की प्रतीत होती हैं। इसीलिए कहा गया है कि 'सन्तुष्ट होने पर मधु का छत्ता भी फीका लगता है। परन्तु भूखे को सब कड़वी वस्तुएँ भी मीठी जान पड़ती हैं।"[1]

निषिद्ध कर्म—कुछ ऐसे कर्मों का निषेध किया गया है, जिनके पालन से नैतिक और धार्मिक जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है। जैसे क्रोध, गर्व, निन्दा और छल-प्रपंच न करना नैतिकता की पुष्टि ही कही जाती है। यहोवा का स्पष्ट आदेश मिलता है कि छः वस्तुएँ नहीं वरन् सात हैं जिनसे घृणा है—'घमन्ड से चढ़ी हुई आँखें, झूठ बोलने वाली जीभ निर्दोष, का लहू बहाने वाले हाथ, अनर्थ कल्पना गढ़ने वाला मन, बुराई करने के लिए दौड़ने वाले पैर, झूठ बोलने वाला साक्षी, और भाइयों के बीच में झगड़ा उत्पन्न करने वाला मनुष्य।' क्रोध के विषय में कई बार कहा गया है कि 'जल्दी क्रोध करने वाला ही मूर्खता का काम करता हे और जो विलम्ब से क्रोध करता है वह समझदार होता है। कटु वचन नहीं बोलना चाहिये

---

1. नीतिवचन 20/15; 25, 19/17; 25|21, निर्गमन, 21/23-25
   नीतिवचन, 25/28, 25/19, 22/4, 27|7

क्योंकि उसी से क्रोध की उत्पत्ति होती है। इसीलिए मन को वश में करके समझ कर विलम्ब से क्रोध करना अच्छा होता है। क्योंकि "विलम्ब से क्रोध करना वीरता से, और अपने मन को वश में रखना नगर के जीत लेने से, उत्तम है।" "झगड़े और विवाद की जड़ क्रोध है। 'क्योंकि जैसे दूध के मथने से मक्खन और नाक के मरोड़ने से लोहू निकलता है, वैसे ही क्रोध के भड़कने से झगड़ा उत्पन्न होता है।" इसीलिए स्पष्ट आदेश दिया गया है कि 'जो बड़ा क्रोधी है उसे दण्ड भुगतने दो, क्योंकि यदि तू उसे बचायेगा तो बारम्बार बचाना पड़ेगा।' इतना नहीं बल्कि यह भी कहा गया है कि 'क्रोधी मनुष्य का मित्र न होना और जल्दी क्रोध करने वाले के संग न चलना, कहीं ऐसा न हो कि तू उसकी चाल सीखे और तेरा प्राण फन्दे में फँस जाय।' इसी प्रकार गर्व के विषय में कहा गया है कि गर्व विनाश का कारण है और गर्व करने वाले को ही ठोकर खाना पड़ता है। इसलिए अभिमानियों के साथ रहकर धनोपार्जन करने से अच्छा तो यह है कि दीन लोगों के साथ नम्रतापूर्वक रहें। गरीबों का मजाक लेना ईश्वर की निन्दा है, किसी की विपत्ति पर हँसने वाला निर्दोष नहीं कहा जा सकता। झूठ और छल से उत्पन्न हुआ धन अशुभ माना गया है। ऐसे धन का अर्जन नहीं करना चाहिए क्योंकि जो धन झूठ के द्वारा प्राप्त हो, वह वायु से उड़ जाने वाला कुहरा है, उसको ढूँढ़ने वाले मृत्यु को ही ढूँढ़ते हैं। धनी और निर्धन दोनों के कर्त्ता ईश्वर हैं। अतः दोनों में भेद करना अच्छा नहीं है। अधिक धन की लिप्सा करना भी ठीक नहीं है, उससे अच्छा नाम अधिक चाहने योग्य है। दूसरों के सुख में सुखी होना ही अधिक अच्छा है। क्योंकि 'सोने चाँदी से औरों की प्रसन्नता उत्तम है।'

यहूदी धर्म में कुछ बातें विरोधपूर्ण इसलिए लगती हैं कि प्राचीन धर्म के प्रारम्भ में जो बातें कही गई हैं, बाद के पैगम्बरों ने उन्हीं बातों के विषय में अपना अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। 'निर्गमन' में जहाँ 'दाँत के बदले दाँत, और आँख के बदले आँख' कहा गया है, वहीं 'सुलेमान' अपने 'नीतिवचन' में कहते हैं "मत कह कि जैसा उसने मेरे साथ किया वैसा ही मैं भी उसके साथ करूँगा।' यहाँ बदल। लेने की भावना का निषेध किया गया है। चुगली, कालुष्य और छल-कपट करने वालों की भी भर्त्सना की गई है। शिष्टाचार की अन्य बातों के साथ इस बात पर भी बल दिया गया है कि मनुष्य को अपने मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। कहा गया है "तेरी प्रशंसा और लोग करें तो करें परन्तु तू अपने आप न करना। दूसरे तुझे सहारे तो सराहें, परन्तु तू अपनी सराहना न करना।"[1]

---

1. नीतिवचन 6/16-19, 14/17, 29, 15/1-2, 16/32, 19/19, 22/24, 30/33, 16/18-19, 17/5, 21/16, 22/1, 24/29, 26/27, 22/25, 26/24, 27/2-21 26/22-23

पराई स्त्री, झगड़ालू और व्यभिचारिणी स्त्री से सम्पर्क का भी निषेध किया गया है। आदेश है कि 'तू पराई स्त्री से बचेगा' जो चिकनी-चुपड़ी बातें बोलती हैं। जो पराई स्त्री गमन करता है वह निरा निर्बुद्धि है। लम्बे-चौड़े घर में झगड़ालू पत्नी के साथ रहने से, छत के कोने पर रहना, उत्तम है। कलह करने वाली स्त्री को वश में रखना असंभव कार्य है। ऐसी स्त्री का साथ जीवन को कष्टमय कर देता है। 'झड़ी के दिन पानी का लगातार टपकना और झगड़ालू पत्नी दोनों एक से हैं, जो उसको रोक रखे, वह वायु को भी रोक रखेगा और दाहिने हाथ से वह तेल पकड़ेगा।' इसी प्रकार मूर्खों का साथ करना भी वर्जित है। क्योंकि मूर्ख का साथ जीवन भर कष्टदायक होता हैं। वह कृपा भी करता है तब भी दुःखप्रद ही होता है। कहा गया है 'जैसे धूम-काल में हिम का और कटनी के समय जल का पड़ना, वैसे ही मूर्ख की महिमा भी ठीक नहीं होती।' मूर्खों को दण्ड देने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। "जैसे घोड़े के लिए कोड़ा, गदहे के लिए बाग है वैसे ही मूर्खों की पीठ के लिए छड़ी है। जो मूर्ख के हाथ से सन्देश भेजता है वह मानों अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारता है और विष पीता है। मूर्खों द्वारा कहा गया नीति वचन भी दुःखप्रद होता है। जैसे लँगड़े के पाँव लड़खड़ाते हैं, वैसे ही मूर्खों के मुँह में नीतिवचन होता है। जैसे मतवाले के हाथ में काँटा गड़ता है वैसे ही मूर्खों का कहा हुआ नीति वचन भी दुःखदायी होता है। मूर्ख का साथ इसलिए भी कष्टदायक होता है कि वह अपनी मूर्खता छोड़ता नहीं, बार-बार मूर्खता का कार्य करता ही रहता है। जैसे कुत्ता अपनी कै को चाटता है, वैसे ही मूर्ख अपनी मूर्खता को दुहराता है। यहूदी धर्म में एक ओर जहाँ बुद्धि को अत्यधिक महत्व दिया गया है वहीं दूसरी ओर मूर्खता की अत्यधिक भर्त्सना की गयी है। जीवन में मूर्ख व्यक्ति और मूर्खतापूर्ण कार्य दोनों ही हेय हैं। मूर्ख व्यक्ति की मूर्खता में सुधार लाया ही नहीं जा सकता। इसलिए कोई ऐसा उपाय नहीं है कि कोई मूर्ख व्यक्ति को जीवन में महत्व दिया जाय। मूर्ख में परिवर्तन की असंभावना के विषय में कहा गया है कि "चाहे तो मूर्ख को अनाज के बीच ओखली में डालकर मूसल से कूटे तो भी उसकी मूर्खता नहीं जाने को।" ऐसी स्थिति में मूर्खों के साथ का निषेध ही आवश्यक है।[1]

माता-पिता और पड़ोसी से प्रेम तथा कर्मठ जीवन—यहूदी धर्म में व्यक्तिगत जीवन की नैतिकता के साथ सामाजिक और पारिवारिक नैतिकता पर बल दिया गया है। पारिवारिक मूल्यों का संरक्षण किया गया है। पुत्र को माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसका अपमान निश्चित है। इसीलिए कहा गया है कि 'जो पुत्र अपने बाप को उजाड़ता और अपनी माँ को भगा देता है, वह अपमान और लज्जा का कारण होगा।' इतना ही नहीं माता-पिता का अपमान करने पर परिवार की वृद्धि समाप्त भी हो जाती है। अगली पीढ़ी में कोई रह नहीं

1. नीति वचन—2/16, 6/32, 22/14, 25/24, 27/15-16, 26/1-7, 27/22।

जाता। इसीलिए कहा गया है कि 'जो अपने माता-पिता को कोसता है, उसका दीपक बुझ जाता है और घोर अन्धकार हो जाता है।' परिवार सतत् चलता रहे इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्तिमितव्ययी हो। क्योंकि 'जो राग-रंग से प्रीति रखता है वह कंगाल होता है। जो दाखमधु पीने और तेल लगाने से प्रीति रखता है वह धनी नहीं होता।' माता-पिता को भी आदेश दिया गया है कि लड़कों के बहुत लाड-प्यार न दिया जाय। ताड़ना या डाट-फटकार आवश्यक है। "लड़के तो ताड़ना न छोड़ना, क्योंकि यदि तू उसको छड़ी से मारे तो वह न मरेगा। तू उसको छड़ी से मारकर उसका प्राण अधोलोक से बचाएगा।' क्योंकि सन्तान यदि बुद्धिमान रहेगी तो परिवार में सुख रहेगा और माता-पिता को आनन्द होगा।

पड़ोसी से प्रेम यहूदी धर्म की प्रमुख शिक्षा है। सामाजिकता की दृढ़ आधार भूमि इससे बढ़कर दूसरी कुछ नहीं हो सकती। कई स्थलों पर प्राचीन धर्म में इसके विषय में उपदेश दिये गये हैं। पड़ोसी चाहे गरीब ही क्यों न हो उससे प्रेम करना चाहिए। धनी से तो सभी प्रेम करते हैं, निर्धन व्यक्ति का पड़ोसी उससे घृणा करता है यह ठीक नहीं है। अत: 'जो अपने पड़ोसी को तुच्छ जानता है वह पाप करता है। पड़ोसी के विरुद्ध साक्षी नहीं देना चाहिए और न तो उसको फुसलाना ही चाहिए। व्यावहारिकता की दृष्टि से यह भी कहा गया है कि अपने पड़ोसी से यदि कभी अनबन हो भी जाय तो वाद-विवाद एकान्त में करना चाहिए। भेद नहीं खोलना चाहिए, इससे निन्दा का भय रहता है। पड़ोसी से प्रेम बना रहे, इसके लिए आवश्यक है कि बारम्बार उसके घर न जाय, जिससे कि वह खिन्न होकर घृणा करने लगे। पड़ोसी का इतना महत्व है कि 'प्रेम करने वाला पड़ोसी, दूर रहने वाले भाई से कहीं उत्तम है।' पड़ोसी से व्यवहार बना रहे, इसके लिए आवश्यक है कि "यदि तेरे पास देने को कुछ हो तो अपने पड़ोसी से न कहना कि जा कल फिर आना, कल मैं तुझे दूँगा। जब तेरा पड़ोसी तेरे पास बेखटके रहता है तब उसके विरुद्ध बुरी युक्ति न सोचना। पड़ोसी से बेगार कराना उचित नहीं है।"

यहूदी धर्म में अकर्मण्यता की घोर भर्त्सना की गयी है। व्यक्ति को कर्मठ होना चाहिए। आलसी व्यक्ति निन्दनीय है। कर्मठता के विषय में जो उपदेश मिलते हैं, उनसे प्रतीत होता है कि इस धर्म में कर्मवाद और भाग्यवाद का समन्वय किया गया है। धनी और गरीब होना अपने कर्म पर निर्भर है। क्योंकि 'जो काम में ढिलाई करता है वह निर्धन हो जाता है। परन्तु काम-काजू लोग अपने हाथों के द्वारा धनी होते हैं। आलसी का प्राण लालसा तो करता है, और उसे कुछ नहीं मिलता, परन्तु काम-काजी हृष्ट-पुष्ट हो जाते हैं।' 'आलसी मनुष्य शीत के कारण हल नहीं जोतता, इसलिए कटनी के समय वह भीख माँगता और कुछ नहीं पाता। नींद से प्रीति न रख, नहीं तो दरिद्र हो जायगा। आँखें खोल तब तू रोटी से तृप्त होगा।'

अपनी समझ और बुद्धि से मनुष्य को परिश्रम करते रहना चाहिए। परिश्रम

की ही रोटी खानी चाहिए। आलसी व्यक्ति को चीटियों के परिश्रम तथा लगन को बताकर शिक्षा दी जाती है—'हे आलसी, चीटियों के पास जा, उनके काम पर ध्यान दे और बुद्धिमान हो। उनके न तो कोई न्यायी होता है न प्रधान और न प्रभुता करने वाला तो भी वे अपना आहार धूप-काल में संचय करती हैं। हे आलसी तू कब तक सोता रहेगा ? तेरी नींद कब टूटेगी ?' यदि आलसी हाथ पर हाथ रखे बैठा रहेगा, झपकी लेता रहेगा तो गरीबी हथियारबन्द के समान आकार उसके सामने उपस्थित हो जाएगी।[1]

ईश्वर-विचार—पैगम्बरों के समय से ईश्वर-विचार के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें यहूदी धर्म में मिलती हैं। इसके पहले अनेकेश्वरवाद की प्रधानता थी। अनेक देवी-देवताओं की पूजा और आराधना प्रचलित थी। पैगम्बरों के पूर्व-काल (1200-750 बी० सी० अर्थात् मूसा के पहले) में यहूदी अनेकेश्वरवादी थे, यद्यपि एकेश्वरवाद की धारणा प्रबुद्ध लोगों में लुप्त नहीं भी कही जा सकती। परन्तु मूसा ने यहूदियों से धर्म को एकेश्वरवादी बनाया। एकमात्र एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की उपासना और आराधना पर बल दिया। वास्तव में मूसा से ही यहूदी धर्म का उचित रूप से इतिहास प्रारम्भ होता है। यहूदी धर्म में यद्यपि एकेश्वरवाद की धारणा प्रचलित जरूर हुयी, परन्तु प्राचीन परम्पराएँ कुछ चलती ही रहीं जिनका क्रमश: पैगम्बरों के आगमन के फलस्वरूप निराकरण होता रहा। अन्त तक एकेश्वरवाद को ही प्रमुख रूप से स्थान मिला। यहोवा ही एक मात्र ईश्वर है दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। वही भविष्य को जानते हैं। यहोवा ही मनुष्य और जगत के स्रष्टा हैं। मनुष्य की परमागति यहोवा हैं। यहोवा स्वयं कहते हैं 'सो आज जान ले, और अपने मन में सोच भी रख कि ऊपर आकाश में और नीचे पृथ्वी पर यहोवा ही परमेश्वर हैं। कोई दूसरा नहीं। मुझे छोड़ दूसरों को परमेश्वर करके न मानना। मैं सबसे पहला हूँ और मैं ही अन्त तक रहूँगा, मुझे छोड़ कोई परमेश्वर है ही नहीं। क्या मुझे छोड़ कोई परमेश्वर है ? नहीं मुझे छोड़ कोई चट्टान नहीं, मैं किसी और को नहीं जानता।" यही एक मात्र ईश्वर यहोवा सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा है। ईश्वर कहते हैं "मैंने ही पृथ्वी को बनाया और उसके ऊपर मनुष्यों को सृजा है।"[2] यहूदी धर्म एकेश्वरवादी है इसलिए वह मूर्ति पूजा का खण्डन करता है। भूत-प्रेतों में भी विश्वास का खण्डन करता है। शापित हो वह मनुष्य जो कोई

नीति वचन—19/26, 20/20, 23/22 व्यवस्था विवरण—22/13-21
नीति वचन—14/21, 24/28, 34, 25/17, 27/107, 3/328, 11/12
यिर्मयाह—22/13,
नीति वचन—6/6-11, 10/4, 13/4, 14/23, 18/9, 20/4, 13, 21/25, 23 4

2. व्यवस्था विवरण—4/40, 5/7, यशायाह—4/46-8, 45/6-8

मूर्ति कारीगर से खुदवा कर या ढलवा कर निराले स्थान में स्थापना करे, क्योंकि इसमें यहोवा को घृणा लगती है।[1] इसके साथ यह भी महत्वपूर्ण है कि धार्मिक क्रिया-कलाप भी जो सम्पन्न किये जायँ वह केवल यहोवा के निमित्त ही हों। भूत-प्रेत या अन्य टोना, जादू में विश्वास करने वाले और इनके निमित्त कार्य करने वाले भी यहोवा के लिए घृणित हैं।[2] विश्व के धर्म-इतिहास में यहूदी धर्म जैसा एकेश्वर-वादी धर्म देखने में नहीं आता। यह पूर्ण अर्थों में एकेश्वरवादी कहा जा सकता है। धार्मिक क्रियाएँ होती अवश्य हैं परन्तु यहूदी धर्म में सम्पूर्ण क्रियाएँ यहोवा के निमित्त ही होनी चाहिए। इसके विपरीत स्वीकार्य नहीं। इस धर्म में मान्य ईश्वर की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। ईश्वर पवित्र, न्यायी और रक्षक है। यहोवा न्यायी और पवित्र हैं। ईश्वर से बढ़कर न्यायी और पवित्र की कल्पना अन्य किसी के विषय में नहीं की जा सकती। मनुष्य नाशवान है। वह ईश्वर से अधिक न्यायी नहीं है। मनुष्य सृष्ट है वह अपने सृष्टिकर्त्ता से अधिक पवित्र नहीं हो सकता। 'एली' का कथन है कि 'क्या नाशवान मनुष्य ईश्वर से अधिक न्यायी होगा? क्या मनुष्य अपने सृजनहार से अधिक पवित्र हो सकता है?' यहोवा न्यायी है। 'मैं यहोवा-न्याय से प्रीति रखता हूँ। मैं अन्याय और डकैती से घृणा करता हूँ।'[3]

यहोवा (ईश्वर) उद्धारकर्त्ता और रक्षक हैं। मनुष्य उसका दास है। वह सर्वशक्तिमान और एकमात्र सत्ता है। यहोवा कहते हैं—मुझसे पहले कोई ईश्वर न हुआ और न मेरे बाद भी कोई होगा। मैं ही यहोवा हूँ और मुझे छोड़ कोई उद्धार-कर्त्ता नहीं है। मैं ही ईश्वर हूँ और भविष्य में भी मैं ही हूँ, मेरे हाथ से कोई छुड़ा न सकेगा। जब मैं काम करना चाहूँ तो कौन मुझे रोक सकेगा। तू मेरा दास है मैंने तुझे रचा है।'[4]

यहोवा पवित्र, रक्षक और दयालु होते हुए भी सृष्टिकर्त्ता होने के कारण जगत का शासक है। शासन में कठोर और नाशकर्त्ता भी है। मनुष्य के कर्मों के अनुसार फलदाता भी है। विश्व में अशुभ उसकी देन है जो मनुष्य के कर्मों के अनुसार उसे मिलता है। यहोवा कहते हैं—"यदि तू मेरी सभी आज्ञाओं का पालन करते हो तो तुम्हें श्रेष्ठ मानूँगा, तेरी भलाई करूँगा, परन्तु यदि तुमने बात न सुनी तो तुमको क्षयी रोग से, ज्वर दाह और बड़ी जलन से, तलवार और झुलस से मारेगा। उस समय तक पीछा किये रहेगा, जब तक कि सत्यानाश न हो जाय। फोड़े,

---

1. व्यवस्था विवरण—27|15, यशायाह—44|9-11
2. व्यवस्था विवरण 9|14
3. अयूब 4|17, यशायाह 61|8
4. यशायाह 44|21

बवासीर और दाद तथा खुजली से ऐसा पीड़ित करेगा कि तू चंगा न हो सकेगा। यहोवा पागल और अन्धा कर देगा।'' 'मैं उजाले का बनाने वाला अंधेरे का सृजनहार हूँ। मैं शान्ति का दाता और विपत्ति को रचता हूँ।'[1]

यहूदी धर्म में ईश्वर की यही विशेषताएँ ईश्वर तथा मनुष्य के बीच सम्बन्ध की नींव का काम करती हैं। इस धर्म के प्रारम्भिक काल में याग-यज्ञ, बलिदान, आदि कर्म-काण्डों का जो अत्यधिक महत्व था, वह समाप्त हो गया। बाद के पैगम्बरों के लिए ईश्वर केवल पादरियों के अनुशासन पालन की मर्यादा मात्र नहीं रह गया। ईश्वर को केवल शुद्ध हृदय, पवित्रता तथा न्याय चाहिए। सुलेमान के नीतिवचन और होशे कथन से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है—''धर्म और न्याय करना यहोवा को बलिदान से अधिक अच्छा लगता है।'' (नीति०—21|3)। 'मैं बलिदान से नहीं, स्थिर प्रेम से ही प्रसन्न होता हूँ; और होम बलियों से अधिक यह चाहता हूँ कि लोग पमेश्वर का ज्ञान रखें।' (होशे–6|6)। स्पष्ट है कि यहूदी धर्म में ईश्वर-विचार नैतिक एकेश्वरवाद से संयुक्त है। चूँकि यह धर्म व्यावहारिक अधिक है इसलिए नैतिक जीवन में इसकी विशेष महत्ता है। आमोश की दृष्टि में यहोवा, नैतिक नियमों का ईश्वर है। होशे के अनुसार ईश्वर प्रेम स्वरूप है। यशायाह ईश्वर को मानव जाति का परम श्रेष्ठ स्वामी मानते हैं। यिर्मयाह के अनुसार ईश्वर हृदय की खोज करने वाला है जो मनुष्य के हृदय में घुसकर उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करता है। यहेजकेल की दृष्टि से ईश्वर दृढ़ न्यायप्रिय और ईर्ष्यालु अभिभावक के रूप में है। इस प्रकार यहूदी धर्म में ईश्वर की धारणा सर्वथा निरपेक्ष, नैतिक एकतत्ववाद के रूप में पायी जाती है।

इस धर्म के सर्वेक्षण से यह भी पता चलता है कि इसमें वैधानिक, नैतिक और रहस्यवादी, तीनों दृष्टिकोण परलक्षित होते हैं। धर्म वैधानिक दृष्टि से नियमों का पालन करता है। सामाजिक और व्यक्तिगत स्तर पर नैतिकता के पालन पर जोर देता है और अन्त में ईश्वरीय प्रेम और आस्था की प्रगाढ़ता में रहस्यवादी दृष्टि भी मिलती है। व्यक्ति ईश्वरीय एकाकारता को सर्वोपरि मानता है। ईश्वर को पूरे तन-मन से प्यार करने का सन्देश मिलता है। यिर्मयाह और अयूब की पुस्तकों में शरणागति और ईश्वर-प्रेम का जो उदाहरण मिलता है, वह विश्व के अन्य धर्मों से किसी अर्थ में कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'धन्य है वह पुरुष जो यहोवा पर भरोसा रहता है, जिसने परमेश्वर को अपना आधार माना हो, वह उस वृक्ष के समान होगा जो नदी के तीर पर लगा हो और उसकी जड़ जल के पास फैली हो', (यिर्मयाह 17|7) अयूब सुख और दुःख में भी ईश्वर की ही कृपा मानता है। निष्काम भाव से ईश्वर-प्रेम अयूब की भक्ति की विशेषता है। शैतान द्वारा चरम सीमा

1. व्यवस्था विवरण—28|1-14, 21, यथायाह–45|6-8

पर संत्रस्त किये जाने पर भी अयूब की यहोवा में दृढ़ आस्था है और प्रेम तनिक भी कम नहीं होता है। क्या ही समर्पण की भावना है जब अयूब कहते हैं कि 'क्या हम जब परमेश्वर के हाथ से सुख लेते हैं, दुःख न लें।' (अयूब 2|10)। व्यवस्था विवरण में ईश्वर-प्रेम का आदेश मिलता है 'तू अपने परमेश्वर यहोवा से अपने सारे मन, और सारे जीव, और सारी शक्ति के साथ प्रेम रखना।' (6|4-5)

कर्मवाद, भाग्यवाद, पाप का फल – यहूदी धर्म में कर्मवाद के सिद्धान्त का पोषण किया गया है। जो जैसा करता है उसको वैसा फल ईश्वर देता है। यह व्यक्तिवादी धर्म है। जो व्यक्ति पाप करेगा वही उसका भागी होगा। कहा गया है "जो प्राणी पाप करे वही मरेगा, न तो पुत्र पिता के अधर्म का भार उठायेगा और न पिता पुत्र का। धर्मी को अपने ही धर्म का फल और दुष्ट को अपनी ही दुष्टता का फल मिलेगा।" यह कहावत चरितार्थ नहीं होगी कि "पुरखा लोगों ने तो जंगली दाख खाई, परन्तु उनके वंश के दाँत खट्टे हो गये हैं।' "क्योंकि जो कोई जंगली दाख खाये उसी के दाँत खट्टे हो जाएँगे, और हर एक मनुष्य अपने ही अधर्म के कारण मारा जायेगा।"[1] 'अयूब नामक पुस्तक में भी कहा गया है मनुष्य के कर्म का फल उसे मिलता है क्योंकि उसके कार्यों को ईश्वर देखता रहता है। वह कर्मफल-दाता है। यहूदी धर्म में पाप की बड़ी सीधी परिभाषा यही दी गई है कि ईश्वर के आदेश के विरुद्ध जो भी कार्य किये जाते हैं वही पाप हैं। ईश्वर, प्रेम, न्याय, दया, सत्य आदि गुणों से युक्त कर्मों को धर्म मानता है, इसके विरोधी कर्म ही पाप है। इस धर्म में ही कर्म प्रधान माना गया है। इसीलिए हम देख चुके हैं कि मनुष्य के कर्मठ जीवन पर विशेष बल दिया गया है। आलस्य और निष्क्रिय जीवन की बड़ी ही भर्त्सना की गयी है। दूसरी ओर इसके विपरीत भाग्यवाद का भी उल्लेख मिलता है। 'सभोपदेशक' में इसका उल्लेख मिलता है—'मैं जानता हूँ कि जो कुछ परमेश्वर करता है वह सदा स्थिर रहेगा, न तो उसमें कुछ बढ़ाया जा सकता है और न कुछ घटाया जा सकता है।' समय और संयोग को भी महत्व दिया गया है। "हर एक बात का एक अवसर और, प्रत्येक काम का, जो आकाश के नीचे होता है, एक समय है। जन्म का समय और मृत्यु का भी समय, बोने का समय और उसे काटने का भी समय, रोने का समय और हँसने का समय, प्रेम करने का समय और बैर करने का भी समय। काम करने वाले को अपने परिश्रम से क्या लाभ होता है?"[2]

कर्म और भाग्यवाद का विरोध अयूब के जीवन में भी मिलता है। अयूब महान सन्त और ईश्वर भक्त हैं। सम्पूर्ण जीवन न्याय, परोपकार, दया और सेवा में बीता, परन्तु फिर भी उन्हें जीवन में बड़ा कष्ट सहना पड़ा। यदि अयूब ने जीवन

---

1. यिर्मियाह, 31|29-30, महेजकेल—18|20, अयूब 34|11, 21
2. सभोपदेशक—3|1-2, 4, 8-9, 14

भर शुभ कर्म किये और ईश्वर परायण रहे तो उनको कष्ट नहीं मिलना चाहिये था, क्योंकि कष्ट तो पाप का परिणाम है। अयूब को अपने पवित्र जीवन में भी विश्वास था और ईश्वर की परम शक्ति में भी। फिर ऐसा विरोध क्यों? अयूब की इस करुण कथा से कई निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि जो ईश्वर करता है वही होता है। मनुष्य को ईश्वर में आस्था से नहीं डिगना चाहिए। मनुष्य की बुद्धि सीमित है, असीमित बुद्धि वाले ईश्वर की क्रिया को सीमित बुद्धि से नहीं जाना जा सकता। भाग्य में यदि ऐसा ही था तो पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए कष्ट सहन करना पड़ा। दूसरे, ईश्वर असीमित बुद्धि और शक्ति वाला है। उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ अन्ततः शुभ के लिए ही होती हैं, अशुभ या कष्ट तो अस्थायी बीच की एक आस्था है। तीसरे, ऐसे सन्त पुरुषों को जो कष्ट उठाना पड़ता है उसका रहस्य यह है कि इससे पापियों का उद्धार होता है। अच्छे और महान् पुरुष वहीं हैं जो दूसरों के लिए जीते हैं और अपने जीवन का त्याग दूसरों के लिए करते हैं। ऐसे उदाहरण विश्व के सभी महान पुरुषों के जीवन से मिलते हैं। अतः अयूब के वेमेल उदाहरण से कर्मवाद और भाग्यवाद में मेल स्थापित किया गया है।

राष्ट्रवादी, सुखवादी, भौतिकवादी दृष्टि—यहूदी धर्म का प्रारम्भ एक राष्ट्रवादी धर्म के रूप में होता है। यहोवा प्रारम्भ में इजराइल का ईश्वर स्वीकार किया गया। इजराइल को मिस्र देश से मुक्त करके यहोवा ने उसे एक ईश्वर की पूजा-आराधना का उपदेश दिया फिर नैतिकता का नियम और विधान के रूप में प्रचार किया, जिससे देश की एकता बनी रहे। यह एकता समाप्त न हो जाय, इसके लिए अनेक प्रकार के भय दिखलाये गये तथा अनेकों भलाई का प्रलोभन भी दिया गया।

यहोवा के दस आदेशों में पहला आदेश यही है कि "मैं तेरा परमेश्वर यहोवा हूँ, जो तुझे दा॰त्व के घर अर्थात् मिस्र देश से निकाल लाया है। तू मुझे छोड़ दूसरे को ईश्वर करके न मानना, तू अपने लिए कोई मूर्ति खोदकर न बनाना, उनको दण्डवत न करना, उपासना न करना, जो मुझसे बैर रखता है, उसको और उसके वंशजों को दण्ड दिया करता हूँ। जो मुझसे प्रेम रखते हैं उन पर करुणा किया करता हूँ। समय पर पानी बरसाना, फसल को अच्छी उपज देना, देश को सुखी रखना, यहोवा का काम था। यहोवा का विद्रोह होने पर इजराइल को दण्डित करना भी यहोवा का काम है। यहोव केवल इजराइल का ईश्वर है। यदि उसकी आज्ञा का पालन होगा तो वह उसे पृथ्वी के सब जातियों में श्रेष्ठ करेगा।[1] राष्ट्र और जाति तक सीमित रहने वाला यह धर्म निस्सन्देह रूप में

---

1. निर्गमन, लैव्यव्यवस्था, व्यवस्था विवरण।

धार्मिकता और नैतिकता की चरम सीमा पर पहुँचा है। इतना अवश्य है कि आध्यात्मिकता की गहराई या रहस्यवादी वृत्ति का इसमें अभाव है। इस अभाव के कारण यह धर्म सुखवादी अथवा भौतिकवादी दृष्टि को अधिक महत्व देता है। 'सभोपदेशक' में यद्यपि संसार की नश्वरता और समय तथा संयोग और ईश्वर के विधान को महत्व दिया गया है, फिर भी सुखवादी और भोगवादी वृत्ति को प्रधानता दी गयी है। उपदेशक राजा होते भी जीवन की समस्त वस्तुओं को क्षणिक, व्यर्थ तथा वायु को पकड़ने के समान कहता है। केवल ईश्वर की इच्छा और विधान की ही पूर्ति होती है। मनुष्य द्वारा परिश्रम और बुद्धिमानी से किया गया कार्य वैसे ही व्यर्थ है, जैसे आलसी और मूर्ख द्वारा किया गया कार्य, क्योंकि होना वही है जो ईश्वर करता है। ऐसी स्थिति में 'मनुष्य के लिए खाने-पीने और परिश्रम करते हुए अपने जीवन को सुखी रखने के सिवाय और कुछ भी अच्छा नहीं।'[1]

यहूदी धर्म में नियम तथा विधि-विधान—यहूदी धर्म में सबसे प्रमुख तत्व नियम और विधि-विधान का निरूपण है। यहोवा ईश्वर ने अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति नियम के रूप में की है। इन नियमों और विधानों का पालन करना ही ईश्वर का अनुसरण करना है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं कि जिससे ईश्वर को प्राप्त किया जा सके। ये नियम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित है। जैसे जन्म, विवाह, भोजन के पकाने, शरीर की शुद्धि और गरीब तथा दीन-हीन की व्यवस्था आदि सभी से सम्बन्धित नियम बनाये गये हैं। इन विषयों की विशेषता यह है कि इनमें नैतिकता को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। सारी उपासनाएँ नियम के अन्तर्गत ही होती हैं। ये नियम कुछ लिखित तथा कुछ मौखिक भी हैं। इनके व्याख्यता होते थे और मन्दिर तथा सभायें (सिनागॉग) इसके रक्षक और संचालक माने जाते थे। इन नियमों के प्रमुख आधार निर्गमन (25 से 31 = 18) लैव्य-व्यवस्था (1 से 16, 27) और गिनती (1 से 10 तक) हैं। परन्तु लिखित नियमों तक ही सीमित न होकर मौखिक नियम भी बहुत संख्या में प्राप्त होते हैं। इन मौखिक नियमों के विद्वान पेशेवर रूप में 'स्क्राइब्स' हुआ करते थे। लिखित नियमों के अतिरिक्त पुरोहितों, पुजारियों, व्याख्याताओं और सभाओं द्वारा नियमों का पालन कराया जाता था और यही कारण है कि ये नियम धर्म के अंग के रूप में प्रमुख हो गये। इनकी अधिकता के कारण ही यहूदी धर्म की पैठ धर्म की आन्तरिकता में नहीं हो सकी। बाह्य रूप ही अधिक महत्वपूर्ण हो गया। ये सभी नियम मनुष्य के लिये न होकर, मनुष्य-नियमों के लिये हो गया।

मसीहा तथा स्वर्ग के राज्य की धारणा—यहूदी धर्म में स्वर्ग के राज्य सम्बन्धी धारणा का बड़े ही अलौकिक ढङ्ग से वर्णन मिलता है। प्राचीन धर्म

1. सभोपदेशक 2|24, 8|14-15, 3|14, 2|18

के पैगम्बरों के अनुसार यहूदी जाति ईश्वर द्वारा चुनी हुयी है और ईश्वर उन्हीं पर राज्य करता है, उनकी देख-रेख करता है, और उनको उनके शत्रुओं से बचाता, उन्हें विजय दिलाता है। धीरे-धीरे इस धारणा का विकास होता गया और सम्पूर्ण विश्व ही इसके अन्तर्गत सम्मिलित हो गया। इस प्रकार यहोवा विश्व का महानतम शासक हो गया। यहोवा ही सम्पूर्ण पृथ्वी और आकाश का राजा था। सर्वप्रथम यहोवा सभी देवताओं में सबसे बड़ा देवता था, परन्तु बाद में भी पैगम्बरों ने एक-तत्ववाद की धारणा का विकास किया, जिसके अनुसार यहोवा ही एकमात्र ईश्वर हुए और उनका आसन ऊँचे आकाश में अवर्णनीय वैभव और शान के बीच प्रतिष्ठित हुआ।

यह धारणा मसीहा की धारणा से सम्बन्धित है। मसीही भविष्यवाणी के अनुसार यह आशा की गयी कि एक ऐसा समय आएगा जबकि मसीहा 'स्वर्ग के राज्य' पर शासन करेगा। मसीहा अथवा मानव का उद्धारकर्त्ता ईश्वर का प्रतिनिधि (Annointed of God) है। यहूदी जाति द्वारा की गई अनेक आशाओं और अपेक्षाओं में यह आशा सबसे प्रमुख है कि ईश्वर द्वारा प्रेरित और शक्ति प्रदत्त राजा का आगमन होगा। सिरस (Cyrus), नीबूचेडेन्जार (Nebuchdenezar) अथवा अलेक्जेन्डर (Alexander) आदि अस्थायी रूप से राज्य में शासन कर सकते हैं, परन्तु ईश्वर सनातन बादशाह है और मसीहा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। प्राचीन धर्म में भजन संहिता में इसका उल्लेख मिलता है कि यहोवा का पुत्र सिओन (Zion) का शासक नियुक्त किया गया है। (भंजन-संहिता-2) यहोवा अपने पुत्र से कहते हैं कि 'तू मेरे दाहिने हाथ बैठ, जब तक मैं तेरे शत्रुओं को तेरे चरणों की चौकी न कर दूँ।' (भजन—110)

मसीहा ईश्वर का सहायक है न कि स्वयं ईश्वर। इस प्रकार मसीहा का ईश्वर से अलग अस्तित्व है। परन्तु उसके भीतर जो शक्ति है वह ईश्वर-प्रदत्त है। मसीहा का शासन यहोवा से अलग नहीं होगा। मसीहा का राज्य ईश्वर का ही राज्य होगा।

पैगम्बरों द्वारा जैसा कि राज्य का चित्रण किया गया है वह पृथ्वी पर राज्य के समान ही है; जहाँ पवित्रता और न्याय है। प्रजा के लिए उत्पीड़न, बाधा या निर्दयता नहीं है; शान्ति और वैभव का राज्य है। ऐसे स्वर्ग के राज्य की कोई आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती। यह राज्य मुख्य रूप से भौतिक जगत के राज्य के समान ही है, जैसा कि पैगम्बरों द्वारा वर्णित किया जाता है, उससे यही पता चलता है।[1]

---

1. खगेन्द्र नाथ मिश्र—'डाइनामिक्स ऑफ फेथ', पृ० 97-98।

आत्मा की अमरता की समस्या—यद्यपि यहूदी जाति का जीवन विभिन्न क्षेत्रों में ईश्वरमय है, ईश्वरीय इच्छा का पालन करना, ईश्वर का भय मानना और ईश्वर से प्रत्येक स्थिति में सम्बन्ध बनाये रखना उनके लिए आवश्यक है, तथा साथ ही पुरस्कार एवं दण्ड का विधान भी बनाया गया है कि बुरे कार्य का परिणाम दण्ड और अच्छे कार्यों का परिणाम ईश्वर की दया है, तिस पर भी आध्यात्मिक अमरता की धारणा का इस धर्म में लोप है। यहूदी मृत्यु के पश्चात् किसी पुरस्कार एवं दण्ड की व्यवस्था नहीं मानते। ईश्वर इसी जीवन में पृथ्वी पर ही भले और बुरे कार्यों का परिणाम देता है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा अधोलोक शियोल (Sheol) में जाता है जो कि ईश्वर यहोवा के सीमा क्षेत्र से बाहर है। क्योंकि यहोवा तो केवल जीवितों का ही ईश्वर है न कि मृतकों का। 'भजन संहिता' में इसका उदाहरण स्पष्टतया मिलता है—'क्योंकि मेरा प्राण क्लेश से भरा हुआ है और मेरा प्राण अधोलोक के निकट पहुँचा हुआ है। मैं कब्र में पड़ने वालों में गिना गया हूँ। मैं बलहीन पुरुष के समान हो गया हूँ। मैं मुर्दों के बीच छोड़ा गया हूँ, और जो घात होकर कब्र में पड़े हैं, जिनको तू फिर स्मरण नहीं करता, और वे तेरी सहायता रहित हैं।' (भजन 88/3-5) 'अथोलोक तेरा धन्यवाद नहीं कर सकता न मृत्यु तेरी स्तुति कर सकती है। जो कब्र में पड़े हैं वे तेरी सच्चाई की आशा नहीं कर सकते, जीवित ही तेरा धन्यवाद करता है जैसा मैं आज कर रहा हूँ।'

दैवी न्याय का वितरण 'यहोवा के दिन' होता था। प्राचीन धर्म के अनुसार राजा की तरह यहोवा राष्ट्रीय स्तर पर लोगों के कार्यों के आधार पर निर्णय देता था। अर्थात् निर्णय के दिन यहोवा यहूदी देश और जाति को पुरस्कृत करता था और उनके शत्रु देश को दण्डित करता था। निर्णय के दिन राष्ट्रीय पुनरुत्थान होता है। यह भी धारणा मिलती है कि निर्णय यहूदी जाति या व्यक्ति के पापों के आधार पर दिया जाता था। वैयक्तिक अमरता की धारणा का विकास बाद में हुआ। आध्यात्मिक अमरता का संकेत भजन संहिता में तथा अन्यत्र भी कहीं-कहीं मिलता है। भजन संहिता में ईश्वरीय समागम या ईश्वर के साथ का उल्लेख इस प्रकार मिलता है।

'तो भी मैं निरन्तर तेरे साथ ही था, तूने मेरे दाहिने हाथ को पकड़ रखा। तू सम्मति देता हुआ, मेरी अगुवाई करेगा और तब मेरी महिमा करके मुझको अपने पास रखेगा। स्वर्ग में मेरा और कौन है? तेरे संग रहते हुए मैं पृथ्वी पर और कुछ नहीं चाहता।' (73|23-25)

पाप और प्रायश्चित की धारणा—यहूदी धर्म में पाप की चेतना और प्रायश्चित की भावना स्थिर हो चुकी थी। यहोवा के आदेश के विपरीत यहूदियों द्वारा किये गये कार्यों को पाप की संज्ञा दी गयी। इन पाप कर्मों को किये जाने पर ईश्वर

दुःख, पीड़ा, प्रताड़ना और बन्धन के द्वारा लोगों को उचित मार्ग पर लाना चाहता है (यशायाह 1|18-20)। पाप को व्यक्तिगत रूप से महत्व दिया गया। जो व्यक्ति पाप करता है वही उसका भागी होता है इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति पश्चात्ताप करे। अपने सब अपराधों को जो तुमने किये हैं, दूर करो, अपना मन और अपनी आत्मा वदल डालो। जो मरे, उसके मरने से मैं प्रसन्न नहीं होता इसलिए पश्चात्ताप करो, तभी तुम जीवित रहोगे' (यहेजकेल 18|1,20,31)। यहाँ क्षमा को उतना स्थान नहीं जितना कि आज्ञापालन को। 'तुम कितनी ही प्रार्थना क्यों न करो तो भी मैं तुम्हारी न सुनूँगा, क्योंकि तुम्हारे हाथ खून से भरे हैं। अपने को धोकर पवित्र करो, मेरी आँखों के सामने से बुरे कामों को दूर करो, भविष्य में बुराई करना छोड़ दो, भलाई करना सीखो'। यहोवा का यह भी कहना है कि 'यदि तुम आज्ञाकारी होकर, मेरी मानो तो तुम्हारे पाप चाहे लाल रंग के हों वे भी हिम की तरह उजले हो जाएँगे, तुम इस देश के उत्तम पदार्थ खाओगे और यदि तुम न मानो और बलवा करो तो तलवार से मारे जाओगे।' (यशायाह 1|15-20)।

———

6 | ईसाई धर्म

विश्व के समस्त धर्मों में सबसे अधिक अनुगामी ईसाई धर्म के ही हैं। इसका पवित्र ग्रंथ 'बाइबिल' लगभग पाँच सौ विभिन्न भाषाओं में पढ़ा जा सकता है। इसका उद्भव यद्यपि पूर्व में हुआ परन्तु विकास सम्पूर्ण पश्चिमी देशों में द्रुतगति से हुआ।

ईसाई धर्म का उद्भव यहूदी धर्म से उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार जैन धर्म और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हिन्दू धर्म से हुयी। अन्तर यह है कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म के पवित्र ग्रन्थ वेद की अस्वीकृति पर आधारित हैं, जबकि ईसाई धर्म ने यहूदी धर्म के पवित्र ग्रन्थ 'बाइबिल' का परिवर्धन, परिवर्तन एवं सुधार किया और वह एक नये धर्म के रूप में आया। ईसा के उपदेशों को देखने से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उन्होंने प्राचीन धर्म का अतिक्रमण किया है। परन्तु इसके विषय में उनसे पूछने पर यही उत्तर मिला है कि 'मेरा उद्देश्य विनाश करना नहीं पूर्ति करना है।'

पहले-पहल क्राइस्ट के शिष्य अन्य यहूदियों की तरह यरूशलम के मन्दिर में ही पूजा किया करते थे। बाद में उन्होंने एक अलग सम्प्रदाय बना लिया; जो क्राइस्ट के देवत्व में विश्वास करते थे; परन्तु यहूदी क्राइस्ट को मसीहा के रूप में नहीं मानते थे, क्योंकि क्राइस्ट को न तो धार्मिक रूप से कोई अधिकार मिला था और न तो राज-सत्ता ही हाथ में थी। फिर भी क्राइस्ट प्रारम्भ से ही अधिकार पूर्वक उपदेश देते थे और उनके आस-पास लोग एकत्रित होकर आश्चर्य से अभिभूत होकर उनकी बातें सुनतें। उनके पीछे-पीछे चलते रहते थे। उनका चमत्कारिक प्रभाव जनता पर देखा गया। इसका और कोई कारण तो नहीं कहा जा सकता, केवल उनका ईश्वरीय गुणों से युक्त व्यक्तित्व और विनम्र स्वभाव ही माना जा सकता है। क्राइस्ट ने अपने देशवासियों को ईश्वर भक्त के रूप में प्रभावित किया। ऐसा भक्त जो अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए जीवित रहता है। उनका प्रभाव और प्रसिद्धि एक दूसरे कारण से भी है कि उन्होंने चमत्मकारिक ढंग से लोगों के रोगों और शोकों को दूर किया। जैसे अन्धों को चंगा करना, कुछ न रहते हुये भी बहुत बड़ी भूखी-प्यासी भीड़ को खिलाकर सन्तुष्ट करना, लोगों के भीतर से दुरात्मा को भगाना और यहाँ तक कि मृत व्यक्ति को जीवित कर देना। उनके यह सभी कार्य अति प्राकृतिक थे।

इन सभी कार्यों से लोगों में यह विश्वास जगा कि क्राइस्ट में यह सभी आश्चर्यजनक शक्तियाँ किसी अन्य स्रोत से नहीं बल्कि स्वयं ईश्वर से ही प्राप्त हुयी हैं। इतना ही नहीं ईसा के ये कार्य उनके लिए प्रमाण-पत्र सिद्ध हुये। अन्त में ये कार्य और उनके गुण तथा चमत्कार अत्यन्त ही मूल्यवान और महत्वपूर्ण प्रतीत हुये, जबकि लोगों ने देखा कि क्राइस्ट ने चमत्कारों का उपयोग अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के हित के लिये ही किया। क्राइस्ट ने दूसरों को तो विपदाओं और यातनाओं से बचाया परन्तु स्वयं जब क्रास पर लटकाये गये तब न तो चमत्कार का उपयोग किया और न ही ईश्वर के हस्तक्षेप के लिए ही उनसे प्रार्थना की कि ईश्वर उनको सजा दे जो कि उनको कोड़े मार रहे थे या उनको क्रास पर लटका कर उनके हाथ में कीलें गाड़ रहे थे। इस अन्याय का भी उन्होंने प्रतिरोध नहीं किया बल्कि इसके विपरीत उनके मुँह से यही निकला कि ईश्वर इनको क्षमा करे क्योंकि ये जानते नहीं कि ये क्या कर रहे हैं। अपने चमत्कारों से अपनी रक्षा क्राइस्ट ने नहीं की। लोगों में यही भावना दृढ़ होती गयी कि क्राइस्ट ईश्वर द्वारा भेजे हुए थे और उन्होंने मानव जाति के पापों का भोग स्वयं भोगा। जीसस क्राइस्ट का ऐसा था अद्भुत जीवन और उनके कार्य भी अलौकिक थे। निश्चित है सामान्य व्यक्ति का जीवन ऐसा नहीं होता। यहूदी जाति में मसीहा की धारणा तो थी ही, साथ ही यह भावना प्रबल हो रही थी कि मसीहा का आगमन होगा। क्राइस्ट मसीहा के रूप में अवतरित हुये। उन्होंने आते ही अद्भुत और चमत्कारिक कार्य तो किये ही साथ ही उपदेश भी इस प्रकार के दिये जाने लगे कि उनको लोग आश्चर्यजनक दृष्टि से देखने लगे। आश्चर्य इसी बात में है कि उनके सभी उपदेश प्राचीन मत से नितान्त भिन्न प्रतीत होने लगे। लोगों ने यह समझा कि बिना धार्मिक अधिकार के प्राचीन मत का विरोध करने वाला यह व्यक्ति कौन है? यह भी सत्य है कि चली आती हुयी परम्परा का मोह जल्दी छोड़ा नहीं जाता। परम्परा के विपरीत कार्य और उपदेश करने वालों को लोग आश्चर्य और विस्मय की दृष्टि से देखते हैं। अब हमें देखना यह है कि क्राइस्ट ने क्या सचमुच एक ऐसे नवीन धर्म का प्रचार किया जो कि प्रचीन मत में नहीं था, या उसका बिल्कुल विरोध किया, या उसी प्राचीन धर्म में ही कुछ नवीनता उत्पन्न की।

कुछ लोगों का यह दावा है कि क्राइस्ट के उपदेशों में मौलिकता है। उन्होंने एक नितान्त भिन्न नवीन धर्म की स्थापना की है। इसलिये यहूदी धर्म से अलग ईसाई धर्म की संज्ञा प्रदान की गयी। परन्तु ऐसे लोगों की यह धारणा इस सार्व-भौमिक सत्य के आधार पर सत्य प्रतीत नहीं होती। 'Exuihilo uihil fit' 'नाभावो विद्यते सतः।' धर्म का इतिहास भी यह सिद्ध करता है कि रहस्यवादी धर्मों में जितने भी पैगम्बर या अवतार की कोटि कहे जाने वाले महापुरुष हुए हैं, सदैव ही अपनी पिछली परम्परा के आधार पर ही अपने मतों अथवा धर्मों की स्थापना

करते हैं। बुद्ध ने वैदिक धर्म के प्रति एक आन्दोलन प्रारम्भ किया था और इसी से बौद्ध धर्म की स्थापना हुयी थी। मुहम्मद साहब ने अपने धर्म की नींव परम्पराओं के विरोध में आन्दोलन प्रारम्भ करके ही खड़ी की थी। यही नहीं इन धर्मों में जितनी शाखाएँ, प्रशाखाएँ हुयीं उनकी भी आधार भूमि सदैव ही पिछली परम्पराएँ ही रही हैं। इन पैगम्बरों ने जर्जर परम्पराओं और उनमें आई हुयी अव्यवस्थाओं का सदैव विरोध किया है और युग के अनुकूल एक स्वस्थ धर्म की स्थापना की है। धर्म में जब भी सड़ांध उत्पन्न हुई है, व्यतिक्रम एवं गतिरोध उत्पन्न हुआ है, तब समाज ने ऐसे ही जागरूक प्रहरी, आत्मज्ञ पुरुषों, युग बोध कर्त्ताओं, धार्मिक नेताओं, सुधारकों, रहस्यवादियों और अवतारी महापुरुषों को जन्म दिया है। यही धर्म की गतिशीलता है। धर्म का तोड़-फोड़, गठन और परिमार्जन सदैव से होता रहा है। प्राचीनता में ही नवीनता के उद्‌भव की संभावना निहित रहती है। धर्म के आभ्यान्तरिक तत्व पिछली परम्पराओं में ही रहते हैं, केवल उनके आवरण और उनके दोषों को ही इन पैगम्बरों द्वारा हटाया जाता है। इसी अर्थ में तो धर्म सनातन कहा जाता है। धर्म की मानवशास्त्रीय व्याख्यायें जितनी भी हुयी हैं, उनसे भी यही पता चलता है कि धर्म का विकास उनकी आभ्यान्तरिक पृष्ठभूमि में ही हुआ है।

हम यहूदी धर्म के मूल सिद्धान्तों को देख चुके हैं। अब हम यहाँ यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्राइस्ट ने किस प्रकार प्राचीन यहूदी धर्म में परिवर्तन उत्पन्न करके नवीन धर्म की स्थापना की है। क्राइस्ट के पहले यहूदी धर्म, कर्म-काण्ड, लौकिक व्यवहार एवं रीति-रिवाज तथा परम्पराओं पर ही अत्यधिक बल देता था। क्राइस्ट ने इन प्रथाओं और परम्पराओं का बड़े ही जोरदार ढंग से खण्डन किया था। जहाँ प्राचीन धार्मिक नेताओं और सन्तों ने कर्म-काण्ड, छुआछूत तथा स्वच्छता आदि का पालन किया था वहीं क्राइस्ट बिना इन पर ध्यान दिये भठिहारों (Publicans) तथा पापियों के साथ खान-पान करते थे। क्राइस्ट 'हाथ धोने' को कम महत्व देते थे। जिन खाद्य-पदार्थों पर अंकुश लगाये गये थे, क्राइस्ट उनको भी खाने के लिये स्वीकृति प्रदान करते थे। उपवास, व्रत तथा अन्य नियमों का पालन धर्माचार्यों द्वारा अनिवार्य बतलाया गया था, परन्तु क्राइस्ट ने उनको महत्व नहीं प्रदान किया। इतना ही नहीं क्राइस्ट प्राचीन तथा नवीन के मिलन की सम्भावना में विश्वास नहीं करते ज्ञात होते। वे कहते हैं--'कोरे कपड़े का पैवन्द पुराने पहिरावन पर कोई नहीं लगाता, नहीं तो वह पैवन्द उसमें से कुछ खींच लेगा।' या 'नये दाखरस को पुरानी मशकों में कोई नहीं रखता, नहीं तो दाखरस मशकों को फाड़ देगा और दाखरस तथा मशकें दोनों नष्ट हो जायेंगी, परन्तु दाख का नया रस नयी मशकों में भरा जाता है।' (यरकुस-2|21-22) पुनः क्राइस्ट का कथन है कि 'पात्र मत देखो बल्कि यह देखो कि इसमें क्या है, एक नया वर्तन पुरानी शराब से भरा हो सकता है। वास्तव में नयी शराब नये बोतल में ही होनी चाहिये।' इसी तथ्य को आगे पुनः

कहा गया है—'स्वर्ग का राज्य उस बड़े जाल के समान है जो समुद्र में डाला गया और हर प्रकार की मछलियों को समेट लिया और जब भर गया तो उसको किनारे पर खींच लाये और बैठकर अच्छी-अच्छी तो बर्तनों में इकट्ठा किया और निकम्मी-निकम्मी फेंक दी। जगत के अन्त में ऐसा ही होगा। स्वर्गदूत आकर दुष्टों को धर्मियों से अलग करेंगे और उन्हें आग के कुण्ड में डालेंगे। वहाँ रोना तथा दाँत पीसना होगा। एक शास्त्री जो स्वर्ग के राज्य का चेला बना है उस गृहस्थ के समान है जो अपने भण्डार से नई और पुरानी वस्तुएँ निकालता है।' (मत्ती 13|45-52)

क्राइस्ट के उपरोक्त उपदेशों से इतना तो स्पष्ट है कि धर्माचार्य और पण्डित जो स्वर्ग के राज्य में विश्वास करते हैं वे उस गृहस्थ के समान हैं जो अपने भण्डार से नई और पुरानी सभी वस्तुएँ निकालता है। वे इतने सबल और दृढ़ नहीं हैं कि पुराने को हटा दें, जिससे कि नया सुरक्षित रहे। वे निरर्थक और सार्थक सभी वस्तुओं को मिलाकर रखते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार गृहस्थ अपने भण्डार में नई और पुरानी सभी वस्तुएँ रखता है। परन्तु ईसा स्वर्गराज्य का बादशाह मसीहों में बादशाह नये को पुराने से अलग करना चाहता है। वह नये को नये बर्तन में रखना चाहते हैं और पुराने को फेंक देना चाहते हैं।

उपरोक्त कथनों से यहाँ दो अर्थ निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि क्राइस्ट ने नितान्त मौलिक और नवीन धर्म की स्थापना की है और दूसरे यह कि प्राचीन धर्म में से देश और काल के अनुकूल सार्थक और उपयोगी मतों को तो ले लिया परन्तु जो व्यर्थ और आडम्बर युक्त सिद्धान्त हैं उन्हें छोड़ दिया। वास्तव में हमारी दृष्टि से क्राइस्ट न तो नितान्त मौलिक ही हैं और न तो प्राचीन धर्म को मौलिक रूप में स्वीकार ही किया है। क्राइस्ट लकीर के फकीर नहीं थे। प्राचीन धर्म के भण्डार से मनोनुकूल, उपयोगी और सार्थक सिद्धान्तों को लेकर उसकी नवीन व्याख्या की है। यही उनकी प्राचीनता में नवीनता है। कहना न होगा कि उनके धर्म की आधार-भूमि ता प्राचीन धर्म ही है। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उस प्राचीन धर्म की हर पग पर नई व्याख्या की है। यही उनकी मौलिकता कही जा सकती है। इसके उदाहरण संख्या में नहीं दिये जा सकते।

क्राइस्ट ने यह पूछने पर कि चिरन्तन जीवन की प्राप्ति कैसे हो? इसके उत्तर में वे प्राचीन धर्म के दस आदेशों में से केवल उन्हीं छः आदेशों को लेते हैं जो मुख्यतया स्पष्ट मानवीय नैतिक सिद्धान्त हैं और उन चार आदेशों को छोड़ देते हैं जो कर्म-काण्ड या धार्मिक कर्तव्यों के अन्तर्गत आते हैं।

यहूदी धर्म के प्रति क्राइस्ट की इस प्रतिक्रिया को जॉसेफ क्लौसनर ने अचेतन मनोवृत्ति को उत्तरदायी माना है। क्योंकि धर्म सम्बन्धी क्रियाएँ तो क्राइस्ट भी करते थे, परन्तु यहूदी धर्म के याजकों की तरह नहीं, फिर भी उन धार्मिक कृत्यों का उन्होंने बहिष्कार किया है। इस प्रवृत्ति को मूल प्रवृत्यात्मक ही कहना चाहिये न कि

चेतन । क्राइस्ट की कहावतों तथा उनके शिष्यों के कृत्यों द्वारा तथा कुछ समय उनके स्वयं के कार्यों द्वारा (जैसे रोगियों को ठीक करना) और इन कथनों द्वारा कि 'प्राचीन समय में तुमसे यह कहा गया है—(लिखित या मौखिक रूप में) परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ' और सर्वोपरि धर्माचार्यों पर वाक् प्रहार से क्राइस्ट कर्म-काण्ड के महत्व को कम करते हैं तथा उनको गौण स्थान देते हैं । क्राइस्ट रीतिगत तथा परम्परागत कर्म-काण्ड को लगभग निरर्थक सिद्ध करते हैं ।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि 'लगभग' शब्द का उपयोग इसीलिए किया जाता है कि क्राइस्ट ने अपनी शिक्षाओं को कभी भी अन्तिम निष्कर्ष के रूप में नहीं दिया है । कहा जाता है कि उन्होंने स्वयं कर्मकाण्ड सम्बन्धी नियमों का पालन जीवन के अन्तिम समय तक किया है । (यद्यपि इन नियमों को पण्डितों और धर्माचार्यों की तरह पूर्ण नहीं किया है ।)[1]

लेखक का यह कथन बहुत सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि क्राइस्ट को जब यहूदी धर्म की कमियों का ज्ञान हुआ और जब उनके ज्ञान और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई[2] तब उन्होंने अपने उपदेशों तथा कार्यों में परिवर्तन उत्पन्न किया है । उनके जीवन में परिवर्तन के क्षण आये हैं, जिसे धर्म-मनोविज्ञान की भाषा में 'कनवर्जन' कहा जाता है । डॉ० राधाकृष्णन ने क्राइस्ट के विषय में यह ठीक ही लिखा है कि—'इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईसा के जीवन में एक अवस्था ऐसी आ गई थी जब उनको सार्वभौमिकता और प्रेम की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी ।'[3] ऐसी अनुभूति होने पर क्राइस्ट ने यहूदी धर्म के अनेक मतों का विरोध किया । जहाँ यहूदी धर्म ईश्वरीय राज्य में केवल पुण्यात्मा और न्यायनिष्ठ व्यक्तियों को ही प्रवेश देता है वहाँ क्राइस्ट इस मत को चुनौती देते हैं और कहते हैं कि 'मैं तो पापियों को पश्चाताप करने के लिए कहने को आया हूँ ।' यहूदी धर्म में पड़ोसी से प्रेम करने की बात बार-बार कही गई है । पड़ोसी का साधारण अर्थ पड़ोस में रहने वाला ही माना गया है, परन्तु क्राइस्ट की सार्वभौमिक दृष्टि तो और ही है । क्राइस्ट ने कहा 'कोई भी आदमी जो परेशानी में हो उसकी जाति या राष्ट्रीयता चाहे जो हो, ऐसे परेशानी में होने वाले व्यक्ति पर जो तरस खाये वही उसका पड़ोसी है ।'[4]

यहूदी धर्म धार्मिक अनुष्ठानों को तूल देता है, परन्तु क्राइस्ट ने इसका विरोध किया और इसके स्थान पर 'ईसा ने एक उच्चतर जीवन में पुनर्जन्म लेने पर विधि-नियम के बन्धन से ऊपर उठकर कार्य करने पर बल दिया है ।' यहूदी धर्म भौतिक-

---

1. जॉसेफ क्लौसनर—जेसस ऑफ नाजरथ, पृ० 370-71
2. ल्यूक 2|52
4. डॉ० राधाकृष्णन—प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० 190
4 ल्यूक 10|25-37

वादी और सुखवादी प्रवृत्ति का प्रचार करता है, 'उसमें तप एवं संयम जैसी कोई चीज या तो है ही नहीं या है तो बहुत कम, परन्तु ईसा के विचारों में पारलौकिकता के दर्शन होते हैं। यह बात ईसा के बपतिस्मा और पुनरुत्थान से सम्बन्धित विचारों से स्पष्ट हो जाती है। बपतिस्मा के पश्चात् आध्यात्मिक जन्म होता है और देहोत्थान का अर्थ आत्मोत्थान और ईश्वर सानिध्य है। डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है कि ईसा यहूदी धारणाओं को अपने निजी अनुभवों के प्रकाश में परिवर्धित और परिवर्तित करते हैं। ईश्वरीय राज्य, शाश्वत जीवन, तपश्चर्या पर बल और भावी जीवन-सम्बन्धी उनकी शिक्षाएँ यहूदी परम्परा से दूर पड़ जाती हैं और हिन्दू तथा बौद्ध विचारणा के साथ उनका साम्य दृष्टिगत होता है।

"यद्यपि उनकी शिक्षाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से जूडावाद के ठीक बाद की हैं, तो भी तात्विक दृष्टि से ईसाइयत का विकास जूडावाद में से नहीं हुआ है।"[1] डॉ० राधाकृष्णन के इस कथन के आधार पर कि ईसा यहूदी धारणाओं को अपने निजी अनुभव के प्रकाश में परिवर्द्धित और परिवर्तित करते हैं तो यह सिद्ध होता है कि क्राइस्ट ने प्राचीनता में नवीनता उत्पन्न की है, परन्तु यह कहना कि ईसाई मत का विकास जूडावाद में से नहीं हुआ है, ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ईसाई धर्म में ऐसा कुछ नहीं है जो यहूदी धर्म में न रहा हो, हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि क्राइस्ट अपने आस-पास के धार्मिक वातावरण से अप्रभावित नहीं थे। एसेनी मत तथा भारतीय मत का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। सर्वोपरि क्राइस्ट की अन्तः अनुभूति प्राचीनता में नवीनता उत्पन्न करने में पर्याप्त सहायक कही जा सकती है। उनके नैतिक सिद्धान्त इस कोटि तक पहुँचे हुए हैं, जिनको विश्व के अन्य धर्मों में ऐसा न देखा जाता है और न ही उनकी ऐसी सूक्ष्म अन्तःमूलक व्याख्या ही की जा सकती है। प्रत्येक युग का एक महापुरुष होता है जो धर्म की व्याख्या अपने निजी अनुभवों के आधार पर करता है। यही उसकी अपनी निजी विशेषता होती है। इसीलिए वह युग-पुरुष भी कहा जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म इन युग-पुरुषों के कारण ही अपना अलग स्थान और महत्व रखता है। हम यहूदी तथा ईसाई धर्म को ही लें तो देखेंगे कि ईसाई धर्म वहीं से प्रारम्भ होता है जहाँ यहूदी धर्म सर्वोच्च बिन्दु तक पहुँच चुका था। व्यवस्था विवरण में यह सर्वोच्च लक्ष्य स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है कि 'तुम अपने परमेश्वर यहोवा से अपने सारे मन, सारे जीव, और सारी शक्ति के साथ प्रेम रखना'[2] ईसाई धर्म ने इसी विचार को ग्रहण किया, और अपने धर्म का मूल आधार बनाया। ईसा से यह पूछे जाने पर कि 'सबसे मुख्य आज्ञा कौन-सी है? ईसा का उत्तर यही हुआ कि 'तुम अपने परमेश्वर से, अपने सारे मन से, और अपने सारे प्राण से, अपनी सारी बुद्धि से और अपनी सारी शक्ति से

---

1. डॉ० राधाकृष्णन—प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, पृ० 195
2. 6|6

प्रेम रखना' और दूसरी मुख्य आज्ञा पड़ोसी से प्रेम रखना है।'[1] परन्तु इसके सम्बन्ध में यहूदी तथा ईसाई धर्म में अन्तर यह है कि जहाँ यह मत यहूदी धर्म में केवल अनुमान या कल्पना मात्र है वहाँ ईसाई धर्म में वास्तविकता है। यहूदी धर्म के पैगम्बरों ने जो कुछ धुँधले प्रकाश में देखा था वहीं क्राइस्ट के उपदेशों में गतिशील विश्वास के रूप में हो गया।

ईश्वर

यहूदी धर्म में ईश्वर विश्व की नैतिक व्यवस्था का शासक और सर्वोच्च अधिकारी के रूप में मान्य है परन्तु ईसाई धर्म में वही ईश्वर प्रेम स्वरूप पिता के रूप में है और वह अपने आराधकों से प्रेम चाहता है तथा प्रतिदान में प्रेमदान करने वाला है। ईसा का ईश्वर केवल न्यायी, पवित्र एवं शक्तिमान ही नहीं है, बल्कि वह दयावान और क्षमाशील भी है। सन्त जॉन ने ठीक ही कहा कि मूसा ने नियमों को दिया परन्तु क्राइस्ट ने सत्य और कृपा को स्थान दिया। ईश्वर सम्बन्धी ऐसी विचारधारा ने क्राइस्ट के धर्म को यहूदी धर्म से श्रेष्ठ बना दिया। यहूदी के पैगम्बरों को दैवी प्रकाशन केवल इतना ही हुआ कि ईश्वर एक है (एकतत्ववाद) परन्तु क्राइस्ट को केवल इतना ही दैवी प्रकाशन नहीं हुआ बल्कि उनको यह भी अनुभूति हुयी कि वह एक मात्र परम सत्ता अपरिमित रूप में प्रेम स्वरूप है। प्राचीन धर्म में कुछ ही स्थलों पर ईश्वर को पिता के रूप में सम्बोधित किया गया है उसमें तो ईश्वर केवल स्वर्ग और पृथ्वी का राजा है, परन्तु ईसाई धर्म में ईश्वर क्षमाशील पिता के रूप में कहा गया है। वह अपनी सन्तानों के पापों को सदैव क्षमा करने के लिए तैयार रहता है। यहूदी धर्म में ईश्वर-प्रेम से बढ़कर 'ईश्वर के नियमों से प्रेम' को स्थान दिया गया है। ईश्वर मालिक है और पैगम्बर तथा इजराइल को दास के रूप में कहा गया है। क्राइस्ट ईश्वर के पुत्र के रूप में हैं और मानव-मात्र दास के स्थान पर ईश्वर की सन्तान हैं। ईश्वर को प्यार करना है तो ईश्वर की सन्तान को प्यार करना ही है। इस प्रकार क्राइस्ट के धर्म में पितृत्व तथा बन्धुत्व को सर्वोपरि महत्व दिया गया है।

यहूदी धर्म से भिन्न, क्राइस्ट, ईश्वर की धारणा में एक दूसरी नवीन धारणा प्रस्तुत करते हैं, वह है सर्वव्यापी ईश्वर। ईश्वर केवल विशेष पर्वत की चोटी पर रहने वाला या यरूशलम के मन्दिर में ही रहने वाला नहीं है, बल्कि वह मनुष्य के अत्यन्त निकट भी है और सर्वत्र वर्तमान भी है। ईश्वर आत्मरूप है और जो ईश्वर की पूजा करते हैं वे अवश्य ही उसकी पूजा आत्मा में करेंगे। ईश्वर सम्बन्धी ऐसी धारणा को क्राइस्ट के व्यक्तिगत धार्मिक जीवन में देखा जाता है। ईश्वर-सान्निध्य का अनुभव उनकी साधना में मिलता है, जब कि वे एकान्त में ध्यान की अवस्था में साधनारत होते थे। यहूदी धर्म में कहा गया है 'यहोवा ईश्वरों का परमेश्वर और

---

1. मरकुस 12|30-31, ल्यूक 10/27

प्रभुओं का प्रभु है वह महान पराक्रमी और भय योग्य ईश्वर है।'[1] ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसी धारणा क्राइस्ट को स्वीकार नहीं है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें भली और बुरी सभी वस्तुओं पर एक समान रूप से पड़ती हैं और उन्हें सुखा देती हैं, उसी प्रकार ईश्वर की कृपा भले, बुरे, पापी और पुण्यवान सभी के लिए समान रूप से होती है।'[2] ईश्वर भय योग्य नहीं प्यार योग्य है। भय बाह्य वस्तुओं से होती है, ईश्वर आन्तरिक शक्ति है, अन्तरात्मा है। जीवन से अलग नहीं है, अतः जैसे हम अपने शरीर या अपने निकट रहने वाली वस्तुओं से प्यार करते हैं, वैसे ही ईश्वर से प्यार किया जाता है न कि भय। ईश्वर को चरित्रवान और पुण्यकर्म करने वाले पुत्र से प्रेम तो है ही, परन्तु उससे भी बढ़कर उस कुकर्मी पुत्र से प्रेम है जो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को नष्ट करके कंगाल हो जाता है, परन्तु पुनः पिता के पास आ जाता है। पिता बिछुड़े हुए पुत्र से मिलकर प्रसन्न होता है।[3] क्राइस्ट की यह नीति-कथा ईश्वर को भय योग्य नहीं सिद्ध करती। अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यहूदी धर्म के नैतिक एकतत्ववाद को जीसस क्राइस्ट ने एक नवीन आयाम दिया। ईश्वर की धारणा क्राइस्ट के धर्म में आकर अत्यधिक वैयक्तिक एवं अत्यधिक सार्वभौमिक बन गयी। प्रेम ईश्वर का प्रमुख गुण है। इसके पहले इसकी चर्चा नहीं हुयी थी।[4] यहूदी धर्म ईश्वर के गुणों की चर्चा करता है। उसके अनुसार ईश्वर शुभ तो है परन्तु वह न्यायी भी है। वह दयावान और कृपालु तो है परन्तु अपराधी को मुक्त नहीं कर सकता। उसे क्षमा-दान नहीं दे सकता। यही कारण है कि यहूदी धर्म ईश्वर को 'हमारे पिता', 'हमारे बादशाह' कहता है। वह केवल दयावान पिता ही नहीं वरन् न्याय कर्त्ता बादशाह है। 'सामाजिक व्यवस्था का ईश्वर' है। वह 'राष्ट्र का ईश्वर' तथा 'इतिहास का ईश्वर' है।' इसके विपरीत क्राइस्ट की दृष्टि में ईश्वर सार्वभौमिक है। वह देश-काल तथा व्यक्ति तक सीमित रहने वाली सत्ता नहीं है।

त्र्येक परमेश्वर (Trinity)

ईसाई धर्म में ईश्वर की अनेक विशेषताएँ बतायी गयी हैं जैसे—ईश्वर चरम सत्ता है, ईश्वर व्यक्तित्व पूर्ण है, ईश्वर एक है, सर्वशक्ति मान और सर्वज्ञ है। उसमें अनन्त दृष्टि, ज्ञान, करुणा, ऐश्वर्य है। वह न्यायी, परोपकारी तथा पवित्र है। वह नैतिक शासक है। वह संसार का निर्णायक है। वह विश्वातीत, व्याप्त और जगत से परे भी है। वह मानवता का ईश्वर है। वह प्रेममय है। क्षमाशील, उद्धारकर्त्ता और पिता के रूप में है।

---

1. व्यवस्था विवरण 10|17
2. मत्ती—5|45
3. लूका—15|11-32
4. इ० गैरेट वेक्स तथा अन्य-एक्सपीरियन्स रीजन ऐण्ड फेथ, पृ० 183

इन सम्पूर्ण विशेषताओं के अतिरिक्त ईकाई धर्म में त्र्येक ईश्वर की कल्पना की गयी है। सुसमाचार में अनेक वर ईश्वर को पिता से सम्बोधित किया गया है। ईसा ने अपने को ईश्वर का पुत्र कहा है। इस प्रकार ईसाई धर्म में त्रिमूर्ति या त्र्येक परमेश्वर का उल्लेख किया गया है—

1. ईसा, 2. ईसा के पिता अर्थात् ईश्वर, और 3. उनकी पवित्र आत्मा (God the Father, God the Son and God the Holy spirit)। ईसाइ धर्म में ईश्वर के तीन रूप माने गये हैं। यही त्र्येक परमेश्वर की धारणा है।

त्र्येक परमेश्वर की धारणा का विवेचन—यद्यपि ईसा मसीह ने स्वयं अपने को ईश्वर नहीं कहा है, परन्तु उनकी अद्भुत शक्ति तथा उनका ईश्वर प्रेम इतना उच्चकोटि का था कि उनमें ईश्वरत्व का स्पष्ट रूप दिखाई देता था। उन्हें ईश्वर की सत्ता का सतत् अनुभव होता था। ईसा स्वयं ईश्वर के रूप थे। ईश्वर मानव के प्रति जैसा व्यवहार करता है, वैसा ही व्यवहार ईसा भी मनुष्य के साथ करते थे। असीम प्रेम-दान, क्षमा, तथा सान्त्वना देना ईसा से ही संभव था। उनका व्यवहार ईश्वर तुल्य था। फिर भी ईसा अपने को ईश्वर न कहकर ईश्वर का पुत्र कहते थे और यह भी बहुत जोर देकर कहते कि मेरे द्वारा ही कोई ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। वे अपने से महान् ईश्वर को कहते थे। इस प्रकार् पुत्र के रूप में ईसा एक सत्ता थे और पिता के रूप में परमेश्वर तो एक मात्र सत्ता है ही।

जीव या आत्मा के रूप में ईसा को अविनाशी कहा गया है। सन्त पाल ने ईसा के विषय में कहा कि ईसा जन्म से पहले भी थे और मृत्यु के पश्चात् भी हैं। ऐसी धारणा इसलिए भी सत्य प्रतीत होती है कि उनका जन्म बिना पिता के हुआ है। ईसा स्वयं, पुत्र के रूप में, ईश्वर पिता के रूप में तथा उनकी आत्मा ये तीनों ईश्वर के तीन रूप हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि ये तीनों रूप ईश्वर के ही हैं। अतः यदि यह आलोचना की जाय कि क्या ईसाई एकेश्वरवाद सचमुच एकेश्वरवाद रह जाता है? इसमें तो पिता, पुत्र तथा आत्मा को भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। फिर इनको एक कैसे कहा जा सकता है? यदि ये भिन्न-भिन्न हैं तो इन्हें एक मानना क्या आत्म विरोधी नहीं है? यदि वास्तव में ईश्वर एक है तो ईसा तथा पवित्र आत्मा को ईश्वर के तुल्य नहीं मानना चाहिए। यदि इन तीनों को एक माना जाय तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि तीन व्यक्ति मिलकर एक कैसे हो सकते हैं? व्यक्ति का व्यक्तित्व होता है और व्यक्तित्व होने पर अलगाव अपने आप सिद्ध हो जाता है। अतः त्र्येक परमेश्वर की धारणा गलत है।

यदि इन आक्षेपों का उत्तर दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म का एकेश्वरवाद बिल्कुल सत्य है क्योंकि हम गलती से त्र्येक ईश्वर को ईश्वर-त्रय (तीन ईश्वर) मान लेते हैं। त्र्येक ईश्वर, एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं, न कि तीन

ईश्वर। पुत्र के रूप में ईसा अपने को ईश्वर के साथ एकता का अनुभव करते हैं। पवित्र आत्मा एक शक्ति के रूप में है जो ईश्वर के प्रेम से प्राप्त हुयी है। वास्तव में ईश्वर एक है। ईसा पैगम्बर के रूप में हैं और आत्मा ईश्वर की शक्ति है। यही पवित्र आत्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। जैसे हिन्दू धर्म में सत् चित् आनन्द की धारणा है, वैसे ही ईसाई धर्म में सत् ईश्वर है, चेतना पुत्र है और आनन्द आत्मा है। हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश को एक ही ईश्वर की तीन शक्तियाँ माना गया है। इनकी तीन ईश्वर की संज्ञा नहीं की गयी है। इसी तरह ईसाई धर्म में ईश्वर, पुत्र तथा आत्मा एक ही ईश्वर की तीन शक्तियाँ हैं। तीन ईश्वर नहीं। यही त्र्येक परमेश्वर का अर्थ है।

नैतिकता—ईसाई धर्म में नैतिकता का सर्वोच्च रूप शैलोपदेश में मिलता है। क्राइस्ट की नैतिकता रूपी मुकुट में यह दीप्तमान मणि के सदृश है। सबसे महत्वपूर्ण बात इसके सम्बन्ध में यह है कि मानव जाति नैतिकता के सम्बन्ध में जिस सीमा तक चिन्तन कर सकती है, क्राइस्ट का चिन्तन वहाँ तक पहुँच चुका है। क्या इसके आगे भी नैतिकता की बात सोची जा सकती है, इसके विषय में स्वीकारात्मक उत्तर देना सम्भव नहीं प्रतीत होता। विश्व के सभी धर्मों में नैतिकता और धर्म सम्बन्धी उपदेश मिलते हैं, परन्तु ईसाई धर्म जैसी आन्तरिकता अन्य धर्मों में नहीं प्राप्त होती। यदि हम यहूदी धर्म को ही लें तो उसमें पाप-कर्मों के निषेध पर निस्सन्देह रूप से बल दिया गया है, परन्तु उसको वैधानिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। बाह्य रूप से मनुष्य उसका पालन करने के लिए बाध्य किया गया है। यहूदी पैगम्बरों ने हत्या, चोरों, इत्यादि कर्मों की भर्त्सना की है, परन्तु वाह्य रूप से। क्राइस्ट ने इन कर्मों के आन्तरिक स्रोतों पर ही आक्रमण किया है, जहाँ से इनकी उत्पत्ति होती है। उन्होंने मनुष्य के लिए किये गये कर्मों को उनके चरित्र से सम्बन्धित किया। इस प्रकार क्राइस्ट ने इन कर्मों से सम्बन्धित धारणा में परिवर्तन उत्पन्न किया और वैधानिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता की दृष्टि दी। उदाहरण के लिए क्राइस्ट ने इतना ही पर्याप्त नहीं समझा कि मनुष्य अपने को हत्या करने से रोके, बल्कि उन्होंने यह बताया कि मनुष्य को उन आन्तरिक शक्तियों पर नियंत्रण करना चाहिए जिनसे यह कार्य होता है। अर्थात् हत्या करने को रोकने की अपेक्षा क्रोध पर नियन्त्रण आवश्यक है। यहूदी धर्म में इस प्रकार का दृष्टिकोण कहीं देखने को भी नहीं मिलता। क्राइस्ट ने अपने मार्ग-दर्शक प्रकाश को मनुष्य के हृदय पर डालकर उसे यह दिखाया कि तुम अपने अन्दर देखो और आन्तरिक कुप्रवृत्तियों और वासनाओं को पहचानो, उनको रोको और उनमें सुधार की संभावनाओं पर विचार करो। विनाश की अपेक्षा सुधार आवश्यक है।

ईसाई धर्म में सर्वोच्च धार्मिक कर्तव्य शुद्धता का पालन है। व्यभिचार के सम्बन्ध में क्राइस्ट के उपदेश यहूदी धर्म के उपदेशों से बहुत आगे हैं। क्राइस्ट के

उपदेश में हृदय की पूर्ण शुद्धता पर ही बहुत अधिक बल दिया गया है। जहाँ यहूदी धर्म में पर-स्त्री-गमन व्यभिचार है वहाँ क्राइस्ट की दृष्टि में पर स्त्री को वासनापूर्ण दृष्टि से देखना मात्र ही व्यभिचार है। अतः पाप की आन्तरिकता पर यहूदी धर्म के पैगम्बरों ने कभी भी क्राइस्ट से अच्छा प्रकाश नहीं डाला है। दूसरी ओर अपराध अथवा पाप के प्रति दृष्टिकोण और बदला लेने की भावना के विषय में यहूदी परम्परा और ईसाई मत में बहुत बड़ा अन्तर है। यहूदी धर्म में 'आँख के बदले आँख' और 'दाँत के बदले दाँत' बदला लेने की अधिकतम सीमा है, जो प्राकृतिक प्रवृत्तियों से प्रेरित है। परन्तु हम जानते हैं कि नैतिकता का अस्तित्व प्राकृतिक प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र छोड़ देने से नहीं रह सकता बल्कि इनको नियन्त्रण में रखने से ही संभव है। क्राइस्ट इन प्रवृत्तियों को केवल सही दिशा देने की ही बात नहीं करते वरन् यह विश्वास प्रकट करते हैं कि अन्त में पाप और अशुभ कर्मों पर शुभ तथा दया की ही विजय होती है। यह आत्मिक शक्ति ही विजयी होती है। क्षमा सबसे बड़ी आत्मिक शक्ति है, जिसका अमिट और सफल प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है। कुछ आलोचकों और चिन्तकों द्वारा क्षमाशीलता की भर्त्सना की जाती है और बताया जाता है कि यह निर्बलता और कायरता का चिन्ह है। नीत्शे ने क्राइस्ट के इस मत का परिहास किया है और इसे स्त्रैणगुण बतालाया है। कुछ लोगों ने तो क्षमाशीलता और अहिंसा को इस शक्ति-पिपासु युग के लिए अनिच्छित और अव्यवहार्य बतलाया है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि मनुष्य जब तक अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं रख सकता तब तक हिंसा से हिंसा की ही वृद्धि होगी और हिंसा से अशुभ का नाश नहीं बल्कि उसकी वृद्धि होगी।

यहूदी धर्म में यह तो कहा गया कि अपने पड़ोसी से प्रेम करो, परन्तु यहूदी धर्म में यह नहीं कहा गया कि "अपने शत्रु से प्रेम करो,' 'जो तुम्हें शाप दें उसे आशीश दो' और 'जो तुमसे घृणा करे उसकी भलाई करो', क्राइस्ट ने व्यवहार के लिए सबसे कठिन नियम का प्रतिपादन किया है। संभवतः क्राइस्ट ने पहली बार इस कठोर नियम को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। सभी धर्मों में इतना तो कहा गया है कि शत्रु को क्षमा कर देना चाहिए। शत्रु को क्षमा कर देना एक बात है और शत्रु से प्रेम करना दूसरी बात है। जो अपने शत्रु से भी प्रेम कर सकता है, वही ईश्वर के अत्यन्त निकट भी हो सकता है और वही ईश्वर का पुत्र होने का दावा कर सकता है, क्योंकि जो दैवी प्रकृति का होगा वही विश्व के सभी प्राणियों से चाहे वह शत्रु हो, चाहे मित्र, से प्रेम कर सकता है। इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि क्राइस्ट के इन उपदेशों में जो नैतिकता अभिव्यक्त की गई है, वह सामाजिक और नैतिक जीवन की दृष्टि से सर्वोच्च है। ऐसा चिन्तन और ऐसी धारणा मानव-इतिहास में क्राइस्ट ने प्रकट करके विश्व को चमत्कृत कर दिया है। क्राइस्ट के उपदेश निश्चित रूप से यहूदीवादी नहीं हैं। यहूदी परम्परा से सम्बद्ध

होते हुए भी क्राइस्ट ने अपने विचारों को स्वतन्त्र और नये रूपों में प्रस्तुत किया है। यहाँ उनका यह कथन चरितार्थ होता है कि 'नयी शराब पुराने बोतल में नहीं रखी जायेगी।' इससे यह भी सिद्ध होता है कि उनके विचारों और उपदेशों में एक नवीन धर्म का जन्म हुआ। इस तथ्य की पुष्टि तब होती है जब हम उनके विचार राजनीतिक धार्मिक पार्टियों तथा मसीहा और 'ईश्वर के राज्य' के सम्बन्ध में देखते हैं। सच पूछा जाय तो क्राइस्ट के इस नवीन धर्म का उद्भव उस समय से ही देखा जाता है जब शैतान द्वारा उनकी परीक्षा होती है। शैतान को उनके दिये गये उत्तरों से धर्म की नवीनता प्रकट होती है।

क्राइस्ट की 'बपतिस्मा' के पश्चात् उनका परीक्षाकाल आता है। उस समय के उनके अनुभव यह प्रकट करते हैं कि यह समय उनके जीवन में आध्यात्मिक उथल-पुथल का समय था। चालीस दिन और चालीस रात तपस्या करने और भूखों पड़े रहने के पश्चात् उनका आध्यात्मिक जागरण हुआ। जंगल में एकांकी ढंग से शैतान ने उनकी तीन बार परीक्षा ली।[1]

प्रथम परीक्षा इस प्रकार प्रारम्भ होती है 'यदि तुम ईश्वर के पुत्र हो तो कह दे कि ये पत्थर रोटियाँ बन जायँ।' इसके उत्तर में क्राइस्ट कहते हैं 'मनुष्य केवल रोटी से ही नहीं बल्कि हर एक वचन से जो ईश्वर के मुख से निकलता है, जीवित रहेगा। क्राइस्ट का यह उत्तर अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह मसीहा होने की परीक्षा है क्योंकि मसीहा आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। परन्तु क्राइस्ट को इसकी चिन्ता नहीं है। उनका मन्तव्य यह है कि मनुष्य को रोटी से परे की आवश्यकताओं के विषय में चिन्ता करनी चाहिये। भौतिक आवश्यकताओं की भाँति मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी हैं। उसे पूरा करना भी मनुष्य का कर्त्तव्य है। यहाँ क्राइस्ट ने प्राचीन परम्परा का अतिक्रमण किया है। प्राचीन परम्परा में मसीहा का सबसे प्रमुख कार्य देश की आर्थिक सम्पन्नता में वृद्धि करना था। परन्तु क्राइस्ट केवल उसी को महत्व न देकर आध्यात्मिक सम्पन्नता को भी महत्व देते हैं। भौतिक जीवनयापन के लिये रोटी की आवश्यकता से आध्यात्मिक जीवन की रोटी विशेष आवश्यक प्रतीत होती है। यह उनके धर्म की नवीनता है।

दूसरी परीक्षा में पूछा जाता है कि 'यदि तुम ईश्वर के पुत्र हो तो अपने आप को नीचे गिरा दे, क्योंकि लिखा है कि वह तेरे विषय में अपने स्वर्ग दूतों को आज्ञा देगा, और तुम्हें हाथों हाथ उठा लेंगे.........।' इसका उत्तर क्राइस्ट देते हैं 'तू ईश्वर की परीक्षा न कर। इस परीक्षा में प्राचीन धार्मिक चिन्तन से नवीन धार्मिक चिन्तन के मार्ग पर बढ़ते हैं। प्राचीन धर्म में ईश्वर जहाँ सौदेबाजी की वस्तु है, जहाँ वह भयजनक है और ऐहिक जीवन में काम आने वाला या पक्षपात

---

1. मत्ती—4|11-11, मरकुस 1|12-13, ल्यूक—4|1-13

करने वाला है वहाँ क्राइस्ट की दृष्टि में वह एक सत्ता है, जो प्रेम करने योग्य है। क्राइस्ट ने जैसे जीवन को स्वीकारा है वैसे ही ईश्वर का पुत्र भी अपने को समझा है। पिता अपने पुत्र को प्रेम देता है यह विश्वास है। भय और पक्षपात पाने की दृष्टि से ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है। यह आन्तरिकता आध्यात्मिकता का पथ प्रशस्त करती है। इस प्रकार का गहरी जड़ में गया हुआ नैतिक धर्म क्राइस्ट की ही दृष्टि में आया है। धर्म का जो भी पुरस्कार हो उसकी तुलना उन वाह्य परिस्थितियों से तो की नहीं जा सकती जो कि व्यक्ति पर आ पड़ती हैं। धर्म का ऐसा आध्यात्मिक और नैतिक रूप प्राचीन धर्म में प्राप्त नहीं होता। क्राइस्ट के धर्म में यह एक नया परिवर्तन है।

तीसरी परीक्षा में शैतान उसे एक बहुत ऊँचे पहाड़ पर ले गया और सारे जगत के राज्य और उसका वैभव दिखाकर उससे कहा कि यदि तू गिरकर मुझे प्रणाम करे तो मैं यह सब कुछ तुझे दे दूँगा। इसके उत्तर में क्राइस्ट कहते हैं—'हे शैतान दूर हो जा, क्योंकि लिखा है कि तू ईश्वर को प्रणाम कर और केवल उसी की उपासना कर।'

क्राइस्ट ने उपर्युक्त दोनों प्रलोभनों की भाँति शैतान के इस तीसरे प्रलोभन को भी अस्वीकृत कर दिया। उनको संसार का वैभव नहीं चाहिए। राष्ट्रीय वैभव यहूदी धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है। अब तक पैगम्बरों के उपदेश इसी के सम्बन्ध में पाये गये। यह क्राइस्ट की आध्यात्मिक पिपासा ही है जिसमें एकमात्र लक्ष्य ईश्वर ही है। क्राइस्ट ने यह सिद्ध कर दिया कि मसीहा का यह वास्तविक रूप नहीं है जो कि केवल राष्ट्रीय शक्ति की प्राप्ति के लिए ही ईश्वर की उपासना करे। ऐसा मसीहा गलत है। मसीहा मानव जाति के उद्धार के लिए है। केवल राष्ट्रीय नेता के रूप में नहीं माना जाना चाहिए।

क्राइस्ट की इस परीक्षा के द्वारा कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। मुख्य रूप से इससे क्राइस्ट की तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। यद्यपि क्राइस्ट यहूदी ही थे परन्तु यहूदी धर्म से उनकी आध्यात्मिकता की सन्तुष्टि नहीं हो सकी। प्रलोभनों के उत्तरों में निस्सन्देह उन्होंने प्राचीन मत के 'व्यवस्था विवरण' से ही उद्धरणों को प्रस्तुत किया है परन्तु उसमें निहित आध्यात्मिकता को उन्होंने केवल पुनः व्यवस्थित ही नहीं किया है बल्कि उनमें अपनी नवीन अन्तर्दृष्टि भी विकसित की है। उनकी यह नवीनता इतनी स्पष्ट थी कि कुछ ही समय में रूढ़िवादिता की दीवार को तोड़ ही दी। शैतान द्वारा दिये गये प्रलोभनों के उत्तर में इतना तो स्पष्ट पता चलता है कि क्राइस्ट ने एक नवीन धर्म की उत्पत्ति कर दी थी। इसलिए उनकी प्रतिक्रियाएँ विभिन्न रूपों में परिलक्षित होने लगीं। उदाहरण के लिए क्राइस्ट ने अपने समय के किसी भी राजनीतिक धार्मिक पार्टियों और समितियों से अपने को जोड़ नहीं रखा था। इसमें

सन्देह नहीं कि ऐसी कुछ सामान्य बातें अवश्य थीं जो क्राइस्ट में तथा यहूदी परम्पराओं में मिलती हैं, परन्तु फिर भी कुछ नवीनताएँ उत्पन्न होने लगी थीं। क्राइस्ट को यह पूर्ण रूप से विदित था कि उनकी अनुभूतियों से प्राचीन मत की चिन्तन-धारा में कुछ परिवर्तन अवश्य होगा। इसीलिए उन्होंने किसी भी पार्टी से अपना सम्बन्ध नहीं रखा। वे सभी पार्टियों के ऊपर थे। उन्होंने देश के धर्म को नई दिशा तथा नया आकार देना चाहा था; जो कि उनको अब बिल्कुल स्पष्ट था। क्राइस्ट को इस बात की पूर्ण चेतना थी कि अब उनको मानव के लिए ऐसा जीवनोपदेश देना है जो लोगों को सभी पार्टियों से ऊपर पहुँचायेगा, कष्ट, संघर्ष और घृणा से परे ले जायेगा तथा ईश्वरीय राज्य मरणोपरान्त ही नहीं बल्कि यहीं इसी लोक और इसी जीवन में मिलेगा।

स्वर्ग का राज्य

क्राइस्ट ने मसीहा और स्वर्ग के राज्य की धारणा की नयी व्याख्या की। मसीहा केवल ईश्वर के एजेन्ट के रूप में ही नहीं रह गया बल्कि वह मानव का उद्धारकर्त्ता के रूप में माना गया। क्राइस्ट स्वयं मसीहा के रूप में हैं। वह लोगों में ईश्वरीय भय उत्पन्न करने नहीं आये हैं बल्कि प्रेम, सेवा, त्याग और बलिदान सिखाने के लिए अवतरित हुए हैं। आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के पश्चात् क्राइस्ट शास्त्रियों और पण्डितों की तरह नहीं बल्कि मसीहा की तरह आधिकारिक रूप से उपदेश देते हैं। जिन उपदेशों को लोग आश्चर्य रूप से भारी संख्या में एकत्रित होकर सुनते हैं, पीछे-पीछे चलते हैं और लोगों को अनुभव भी होता है कि यह मसीहा कोई नई बात कह रहा है।[1] लूका में भी मसीहा की नई धारणा मिलती है जो यहूदी परम्परा से भिन्न और नई सिद्ध होती है। नाजरथ में जहाँ क्राइस्ट का पालन-पोषण किया गया था सब्त के दिन (विश्राम के दिन) आराधनालय में क्राइस्ट का यह कथन पुरानी परम्परा से अलग और नवीन सिद्ध होता है। 'प्रभु की आत्मा मुझ पर है, इसलिए कि उसने कंगालों को सुसमाचार सुनाने के लिए मेरा अभिषेक किया है, और मुझे इसलिए भेजा है कि बन्धुओं को छुटकारे का और अन्धों को दृष्टि पाने का सुसमाचार प्रचार करूँ और कुचले हुओं को छुड़ाऊँ।'[2]

प्रारम्भ में तत्कालीन शास्त्री, पण्डित और पुजारी इस मसीहा की बात सुनते थे, उनका आदर भी करते थे, परन्तु जब देखा कि क्राइस्ट ने उनके नियम का पालन नहीं किया अछुतों का उद्धार किया, भठिहारों के साथ भोजन किया, तो उनके सम्बन्ध ठन्डा पड़ने लगे। कटुता बढ़ने लगी, फिर तो क्राइस्ट उनके शत्रु हो गये। उनमें से कुछ हिरोदियन समुदाय में सम्मिलित हो गये। फिर भी क्राइस्ट ने राज-

---

1. मरकुस—1|21-22, 27, 28; 2|1-2
2. ल्यूक 4|16-22

नीतिक और धार्मिक समुदायों से अपने को परे ही रखा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तब मिलता है जब उनके सामने शास्त्रियों, पण्डितों और हिरोदियन को यह प्रश्न करने के लिये भेजा गया कि 'हे गुरु हम जानते हैं कि तुम सच्चे हो और किसी की परवाह नहीं करते, क्योंकि तुम मनुष्यों का मुँह देखकर बातें नहीं करते परन्तु परमेश्वर का मार्ग सच्चाई से बताते हो, तो क्या कैसर को कर देना उचित है कि नहीं? हम दें या न दें?' उसने उनका कपट जान कर कहा मुझे क्यों परखते हो? एक दीनार मेरे पास लाओ मैं देखूँ? वे ले आये और उसने उनसे कहा यह मूर्ति और नाम किसका है। उन्होंने कहा कैसर का। क्राइस्ट ने उनसे कहा जो कैसर का है वह कैसर को और जो परमेश्वर का है वह परमेश्वर को दो तब वे उस पर बहुत अचम्भा करने लगे।[1]

क्राइस्ट के ऐसे उत्तर से लोगों को आश्चर्य हुआ और उन्हें मसीहा मानने के लिए लोग बाध्य हुए। परन्तु क्राइस्ट ने अपने मुँह से एक बार भी नहीं कहा कि मैं मसीहा हूँ। परन्तु शिष्यों के बीच बातचीत में संकेत मिलता है कि क्राइस्ट मसीहा हैं। फिर भी इसका प्रचार करने के लिये उन्होंने मना कर दिया।[2] बाद में इनके कार्यों से अपने आप सिद्ध हो गया और प्रचार भी हो गया कि क्राइस्ट मसीहा हैं; ईसा-पुत्र हैं।

मसीहा तथा ईश्वरीय राज्य की धारणा प्राचीन मत से नितान्त भिन्न प्रतीत होती है। मसीहा भौतिक राज्य का मालिक नहीं बल्कि दास है और वह राज्य करने नहीं आया है बल्कि बलिदान और त्याग करने आया है। क्राइस्ट मसीहा हैं, ऐसा उनको विश्वास नहीं था; यद्यपि उनको कष्ट सहन करना है। साथ ही वह विश्वास करते हैं कि मैं मसीहा हूँ क्योंकि मुझे कष्ट उठाना है। यह सबसे अधिक विरोधाभास है, और यही नवीन समाचार की मौलिकता है। यहूदी धर्म में मसीहा राज्य का बड़ा अधिकारी और शासक के रूप में समझा जाता था। परन्तु क्राइस्ट के मत में मसीहा की धारणा इस प्रकार है 'जो कोई तुमसे बड़ा होना चाहे वह तुम्हारा सेवक बने, और जो कोई तुममें प्रधान होना चाहे वह सबका दास बने। क्योंकि मनुष्य का पुत्र इसलिए नहीं आया कि उसकी सेवा-टहल की जाय, पर इसलिए आया कि आप सेवा टहल करें और बहुतों को छुड़ाने के लिये अपना प्राण दें।'[3]

इसी प्रकार ईश्वरीय राज्य के विषय में भी क्राइस्ट की आध्यात्मिक व्याख्या अतुलनीय है। क्राइस्ट अपने शिष्यों की चिन्तन धारा को सर्वोच्च स्तर तक उठा देना चाहते हैं। उन्होंने उन्हें यह उपदेश देने का प्रयत्न किया कि 'ईश्वरीय राज्य'

---

1. मरकुस—12|13-17
2. मत्ती—16|13-20—मरकुस;—8|27-30, ल्यूक 9|18-21
3. मरकुस—10|42-45

ईश्वरीय संकल्प का राज्य है—जिसे विश्व की सभी वस्तुओं में सबसे पहले ढूंढ़ना चाहिये। इस राज्य सम्बन्धी विचार के दो पहलू हैं—एक वाह्य और दूसरा आन्तरिक। ईश्वरीय राज्य का वाह्य तथा सामाजिक महत्व है और आन्तरिक रूप से ईश्वरीय राज्य में प्रवेश के लिये आवश्यक है कि अपने सङ्कल्प को ईश्वरीय संकल्प के साथ मिला देना होगा।

ईश्वरीय राज्य से सम्बन्धित एक दूसरा प्रश्न भी है जिसके विषय में क्राइस्ट की नवीनता प्रकट होती है। प्राचीन परम्परा में ईश्वर का राज्य आने वाला है, ऐसी मान्यता मिलती है। अर्थात इस धारणा से भविष्य का बोध होता है, परन्तु क्राइस्ट के अनुसार ईश्वरीय राज्य यहीं पर है और मनुष्य के भीतर है। कुछ लोगों का मत है कि क्राइस्ट में वर्तमान और भविष्य दोनों का बोध होता है। इस सम्बन्ध में उनकी कहावतें प्रचलित हैं—'स्वर्ग का राज्य राई के एक दाने के समान है, जिसे किसी मनुष्य ने लेकर अपने खेत में बो दिया। वह सब बीजों से छोटा तो है पर जब बढ़ जाता है तब सब साग-पात से बड़ा होता है औन ऐसा पेड़ हो जाता है कि आकाश के पंछी आकर उसकी डालियों पर बसेरा करते हैं।' पुनः दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि 'स्वर्ग का राज्य खमीर के समान है जिसको किसी स्त्री ने लेकर तीन पसेरी आटे में मिला दिया और होते-होते वह सब खमीर हो गया।' 'फिर स्वर्ग का राज्य एक व्यापारी के समान है जो अच्छे मोतियों की खोज में था। जब उसे एक बहुमूल्य मोती मिला तो उसने जाकर अपना सब कुछ वेंच डाला और उसे मोल ले लिया।' 'फिर स्वर्ग का राज्य उस बड़े जाल के समान है जो समुद्र में डाला गया और हर प्रकार की मछलियों को समेट लाया। जब भर गया तो उसको किनारे पर खींच लाये और बैठकर अच्छी-अच्छी तो वर्तनों में एकत्रित किया और निकम्मी-निकम्मी फेंक दो।

उपरोक्त दृष्टान्तों में प्रथम की व्याख्या बहुधा इस प्रकार की जाती रही है कि ईश्वरीय राज्य संसार में आयेगा। राई के बीज का संकेत है, प्रारम्भ बहुत छोटे रूप में हुआ परन्तु उसका विस्तार बड़े आयाम में होगा। इसी प्रकार दूसरा दृष्टांत खमीर, जो आटे में थोड़ा सा मिलाया जाता है और अधिक मात्रा में आटे को खमीर बना देगा। अर्थात् पवित्र लोगों का छोटा समुदाय पूरे समुदाय को पवित्र कर देगा। यद्यपि इन उदाहरणों से भविष्य की ओर संकेत मिलता है कि स्वर्ग का राज्य या ईश्वरीय राज्य आयेगा। परन्तु यह बिल्कुल संभव है कि क्राइस्ट भविष्य की अपेक्षा वर्तमान की ही बात करते थे। वास्तविक तो यह लगती है कि स्वर्ग का राज्य व्यक्ति के भीतर है और कहीं से आना नहीं है यहीं है, उसकी प्रतीक्षा करनी है। राई का बीज स्वर्ग का राज्य है जो मानव के अन्दर ही बोया गया है, परन्तु उसकी वृद्धि अधिक से अधिक होगी। इस प्रकार वर्तमान और भविष्य दोनों को मिलाया गया है। इसी प्रकार खमीर अभी आटे में मिलाया गया है जो अपना काम कर रहा है

बाद में सभी आटे को खमीर बना देगा। अन्य दो दृष्टान्तों में स्पष्ट संकेत मिलता है कि ईश्वरीय राज्य मानव अन्तर्निहित है, देर है उसे खोज और पा लेने की या उसे पहचान लेने की। व्यापारी अच्छे मोतियों की खोज में था, जब उसे मिल गया तो उसने अपने सभी जागतिक प्रलोभनों का त्याग करके स्वर्ग के राज्य को ही ले लिया। या स्वर्ग का राज्य जाल के समान है। मनुष्य प्रयास करके अपने हृदय में ज्यों ही खोज करता है स्वर्ग का वैभव अर्थात ईश्वरीय गुणों को प्राप्त कर लेता है। शेष निम्न वासनाओं का त्याग कर देता है। क्राइस्ट को स्वर्ग का राज्य इसी पृथ्वी पर दीन-हीन मानव के बीच ही मिला। उन्होंने सेवा, त्याग और बलिदान से मानव जाति में स्वर्ग का राज्य फैला दिया। मानव का आर्तक्रन्दन समाप्त कर देना, आन्तरिक प्रसन्नता और समाज की खुशी का विस्तार करना यही ईश्वरीय राज्य का वैभव है, जिसे क्राइस्ट ने अपने जीवन में अपना प्राण निछावर करके लुटाया। मानव जाति को यह सन्देश दिया कि संकीर्णता नहीं, हृदय की विशालता, स्वार्थ लोलुपता नहीं, त्याग और सेवा, भौतिक समृद्धि नहीं, आन्तरिक और आध्यात्मिक समृद्धि, शासन और अधिकार नहीं, सेवा और रक्षा ईश्वरीय राज्य की महिमा है। यह यहीं है। हमारे भीतर है। इसे पाना है।

ईश्वरीय राज्य की धारणा एक ऐसा धार्मिक सिक्का है जिसको क्राइस्ट ने नवीन मूल्य प्रदान किया। यह क्राइस्ट की आध्यात्मिक प्रतिभा की मौलिकता है। कुछ लोग क्राइट को प्रतिक्रियावादी कहते हैं और सिद्ध करते हैं कि ईसाई धर्म प्रतिक्रिया का ही फल है परन्तु यह दृष्टिकोण बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। क्राइस्ट की आध्यात्मिकता इस कोटि की थी कि उनको प्राचीन परम्परा को नवीन रूप देना पड़ा। युग के अनुकूल धर्म की आध्यात्मिक व्याख्या क्राइस्ट का मुख्य लक्ष्य था। उनकी यह धार्मिक नवीनता बहुमुखी थी। क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं थी। प्रतिक्रियावादी तोड़-फोड़ करता है। क्राइस्ट ने तोड़-फोड़ नहीं की, बल्कि पुरानी परम्परा को गढ़ने का, नवीन कलेवर देने का काम किया है।

इस मन्तव्य का उदाहरण उनकी धर्म की आन्तरिकता सम्बन्धी मनोवृत्ति में मिलता है। जहाँ यहूदी धर्म में धार्मिक आचरण और व्यवहार को वाह्यगत महत्व दिया गया वहीं क्राइस्ट ने उसकी आन्तरिकता पर बल दिया। धर्म में आध्यात्मिकता की प्रगाढ़ता के आधार पर उन्होंने जोर देकर उसकी जड़ गहराई में जमा दी। यह उनकी प्रचीनता में नवीनता है। उनकी इस नवीनता को देखकर उस समय को लोगों को ऐसा लगा कि यह व्यक्ति धर्म का तोड़-फोड़ कर रहा है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। क्राइस्ट को इसे बार-बार समझाना पड़ा कि मैं धर्म को तोड़ने या विनष्ट करने नहीं आया हूँ बल्कि गढ़ने और बढ़ाने आया हूँ। फिर भी क्राइस्ट का कथन विरोधों से पूर्ण है। एक ओर प्राचीन परम्परा के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था और दूसरी ओर उस परम्परा से दूर, बहुत दूर हट कर और उससे

बढ़कर नियमों और परम्पराओं का उपदेश करते हैं। बातें वही हैं परन्तु उनकी गहरायी और विस्तार में अन्तर है। विरोध वहाँ स्पष्ट है जहाँ वे यह कहते हैं कि एक-एक छोटे नियमों का पालन आवश्यक है और दूसरी ओर उन प्राचीन नियमों से आगे बढ़कर नियम का आदेश करते हैं। यह एक रहस्यमयता है। उनका कथन है—'यह न समझो कि मैं व्यवस्था या पैगम्बरों की पुस्तकों को लोप करने आया हूँ। लोप करने नहीं परन्तु पूरा करने आया हूँ, क्योंकि मैं तुमसे सच कहता हूँ कि जब तक आकाश और पृथ्वी टल न जाय तब तक व्यवस्था से एक मात्रा या एक बिन्दु भी बिना पूरा हुए नहीं टलेगा। इसलिये जो कोई इन छोटी-सी-छोटी आज्ञाओं में से किसी एक को तोड़े और वैसा ही लोगों को सिखाये वह स्वर्ग के राज्य में सबसे छोटा कहलायेगा परन्तु जो कोई उनका पालन करेगा करेगा और उन्हें सिखायेगा वही स्वर्ग के राज्य में महान कहलायेगा। क्योंकि मैं तुमसे कहता हूँ कि यदि तुम्हारी धार्मिकता शास्त्रियों और फरीसियों की धार्मिकता से बढ़कर न हो, तो तुम स्वर्ग के राज्य में कभी प्रवेश न करने पाओगे।[1]'

'तुम सुन चुके हो कि पूर्वकाल के लोगों से कहा गया था कि हत्या न करना और जो कोई हत्या करेगा वह कचहरी में दण्ड के योग्य होगा। परन्तु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि जो कोई अपने भाई पर क्रोध करेगा वह कचहरी में दण्ड के योग्य होगा।[2]

तुम सुन चुके हो कि कहा गया था कि व्यभिचार न करना परन्तु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि जो कोई स्त्री पर कुदृष्टि डाले वह अपने मन में उससे व्यभिचार कर चुका।[3]

इसी प्रकार आगे भी चार बार इसी कथन को दुहराया गया है कि 'तुम सुन चुके हो···परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ ··········।' यह विरोधी कथन ध्यान देने योग्य है। क्राइस्ट प्राचीन धर्मशास्त्र के प्रति गहरी श्रद्धा रखते हैं और नियम के उपदेष्टाओं के प्रति अतीव आदर रखते हैं, तिस पर भी शास्त्र तथा नियमों के उपयोग में अपने विवेक और स्वेच्छा का प्रयोग करते हैं। जो नियम और पद्धतियाँ बतलायी गयी थीं उनको वे पूर्ण नहीं समझते थे। इसका स्पष्ट कारण यही लगता है कि उनको दैवी प्रकाशन का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान था। उनके अन्दर वह प्रतिभा थी कि वह स्पष्ट रूप से देख सकते थे कि ईश्वर की धारणा मात्र आदर्श नहीं बल्कि वास्तविकता है और ईश्वर का राज्य नियम के रूप में मानव के हृदय में ही है। ईश्वर को जानना और उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए नियम की पुस्तक को देखना नहीं पड़ेगा,

---

1. मत्ती—5/17-20
2. मत्ती—5|21-22
3. मत्ती—5/27-28

बल्कि इसकी जीवित अनुभूति मानवात्मा और ईश्वर के बीच सहज रूप से होती रहती है।

क्राइस्ट के धर्म में नियमों की व्याख्या और उसके क्रियान्वयन के लिए स्वतंत्रता है। यही उनके धर्म की नवीनता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण सब्त के दिन (विश्राम के दिन) का है। शास्त्र में लिखा है कि इस दिन कोई कार्य नहीं करना चाहिये यदि इसके विपरीत कोई कार्य करे तो उसको दण्ड मिलना चाहिये। (गिनती 15,32) परन्तु क्राइस्ट के जीवन में इस दिन की क्रिया-विधि इसके विपरीत मिलती है और उन्होंने इसकी व्याख्या अपनी अन्तरदृष्टि द्वारा आन्तरिक नैतिकता के आधार पर की, न कि शास्त्र में लिखी हुयी बातों का अक्षरशः पालन किया। मानवात्मा में अन्तर्निहित नैतिकता के आधार पर ही उनको कहने का साहस हुआ कि नियम मनुष्य के लिये हैं न कि मनुष्य नियमों के लिये। उनका कथन है कि सब्त का दिन मनुष्य के लिये बनाया गया है; न कि मनुष्य सब्त के दिन के लिये। इसलिये मनुष्य का पुत्र सब्त के दिन का स्वामी है।'[1]

शुभ-अशुभ

क्राइस्ट की पारदर्शी दृष्टि ने प्राचीन मत की कमियों को बड़ी सूक्ष्मता और गहरायी से देखा था। शास्त्र में जो व्यवस्थाएँ और नियमावलियाँ दी गयी हैं उनको करने की प्रेरणा जितनी अधिक वाह्य दवाओ से भिलती थी, उतनी आध्यात्मिक प्रेरणा से नहीं। क्राइस्ट की दृष्टि से ईश्वरीय संकल्प में मानव संकल्प निहित है और उसी संकल्प या इच्छा का पालन मानव का कर्त्तव्य है। अशुभ और बुराइयाँ प्राचीन मत के अनुसार वाह्य रूप में देखी गयीं और उनसे बचने के लिये वाह्य क्रिया-विधानों पर अधिक वल दिया गया। क्राइस्ट ने ही बताया कि ईश्वरीय संकल्प शुभ है। अशुभ मानव की अपनी सृष्टि है। वासनाएँ जिन पर मनुष्य नियंत्रण नहीं कर पाता वही पाप और बुराइयों की जड़ है। शुचिता के लिये मनुष्य को भीतर झांकना चाहिये। वाह्य आडम्बर उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना भीतर की स्वच्छता। क्राइस्ट का कथन है कि तुम सब मेरी सुनो और समझो। ऐसी तो कोई वस्तु नहीं जो मनुष्य में बाहर से समाकर अशुद्ध करे, परन्तु जो वस्तुएँ मनुष्य के भीतर से निकलती हैं वे ही उसे अशुद्ध करती हैं। फिर कहा जो मनुष्य में से निकलता है वही मनुष्य को अशुद्ध करता है क्योंकि भीतर अर्थात् मनुष्य के मन से बुरी-बुरी चिंता, व्यभिचार, चोरी, हत्या, पर-स्त्रीगमन, लोभ, दुष्टता, छल, लुच्चापन, कुदृष्टि, निन्दा, अभिमान और मूर्खता निकलता है, ये सब बुरी बातें भीतर ही से निकलती हैं और मनुष्य को अशुद्ध करती हैं।

1. मरकुस 2|23-28

फरीसी और शास्त्रियों ने जब क्राइस्ट के शिष्यों को बिना हाथ धोये रोटी खाते देखा, जबकि प्राचीन रीति के अनुसार हाथ धोना, बाजार से आकर स्नान करना, बरतनों को धोना-माँजना अनिवार्य था, तब उन लोगों ने क्राइस्ट से कहा 'तुम्हारे चेले क्यों बिना हाथ धोये रोटी खाते हैं ? अशुद्ध और अछूत के साथ क्यों भोजन करते हैं ? क्राइस्ट इसका उत्तर स्वतः स्फूर्त नैतिकता के आधार पर देते हैं जो शास्त्र में नहीं मिलता। उनका कथन है—'हे कपटी शास्त्रियों और फरीसियों तुम पर हाय, तुम कटोरे और थाली को ऊपर-ऊपर से तो माँजते हो, परन्तु वे भीतर अन्धेर, असंयम से भरे हुए हैं। हे अंधे फरीसी, पहले कटोरे और थाली को भीतर माँज कि वे बाहर से भी स्वच्छ हों।'

'तुम पोदीने, सौंफ और जीरे का दशांश तो देते हो परन्तु तुमने व्यवस्था की गम्भीर बातों को अर्थात् न्याय, दया और विश्वास को छोड़ दिया है। तुम मच्छर को तो छान डालते हो परन्तु ऊँट को निगल जाते हो।'

'तुम चूना फिरी हुयी कब्रों के समान हो, जो ऊपर तो सुन्दर दिखायी देती हैं, परन्तु भीतर मुर्दों की हड्डियों और सब प्रकार की मलिनता के भरी हैं। इस तरह से तुम भी ऊपर से मनुष्यों को धर्मी दिखायी देते हो, परन्तु भीतर कपट और अधर्म से भरे हुये हो।'[1]

क्राइस्ट के उपर्युक्त कथनों से यही सिद्ध होता है कि नैतिक व्यवहार ईश्वर और मानव के प्रति आन्तरिक प्रेम अथवा भक्ति के फलस्वरूप स्वतः होना चाहिए। जब ऐसा प्रेरणा-मूलक तत्व हमारे भीतर है तब हमें शास्त्र में दी गयी नियमावली को नहीं देखना होगा। हमारा व्यवहार ईश्वर मूलक या मानवता मूलक स्वतः ही होगा। इसलिए क्राइस्ट धर्म और धर्म व्यवहार के मूलतत्व को केवल दो आदेशों में व्यक्त करते हैं। उनसे पूछे जाने पर कि सबसे बड़ा आदेश कौन है ? उनका उत्तर है—'ईश्वर को अपनी सम्पूर्ण आतमा, मन और हृदय से प्रेम करना चाहिए और दूसरा बड़ा आदेश यह कि 'अपने पड़ोसी से अपने समान ही प्रेम करना चाहिए। इस प्रकार जब हम ईश्वर को प्यार करेंगे तो ईश्वर की सन्तान को भी हमें प्यार करना होगा। सम्पूर्ण नैतिकता और धर्म ईश्वर तथा मानव को लेकर ही है। ईश्वरविहीन नैतिकता शून्य है। इसी अर्थ में क्राइस्ट का धर्म ईश्वर तथा मानव-केन्द्रित है, जब कि प्राचीन धर्म, शास्त्र-केन्द्रित है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि दो प्रमुख आदेश जिनका उपदेश प्राचीन धर्म में दिया गया है, क्राइस्ट ने उसी को तो कहा है, उसमें क्या नवीनता है ? परन्तु इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि क्राइस्ट की नवीनता और मौलिकता इसमें है कि प्राचीन नियम के मूलतत्व को क्राइस्ट ने

1. मत्ती 23/25, 23-24, 27-28

पहचाना, समझा और उसी को सारांश में रूप में अपने उत्तर में अभिव्यक्त किया। प्राचीन नियम के वाह्य आडम्बरों और धार्मिक क्रिया-कलापों की अपेक्षा उसके मूल तत्व को ग्रहण करना ही आवश्यक है और उसी से केन्द्रित व्यवहार, जिसको मनुष्य सहजता से स्वाभाविक रूप में प्रसन्नतापूर्वक दैनिक जीवन में क्रियान्वित कर सकता है, वही सर्वोच्च आदर्श है। क्राइस्ट ने उन प्राचीन नियमों की जड़ में जाकर वाह्य आडम्बरों से लोगों को मुक्ति दिलायी और उदारवादी तथा स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रदान किया। यही उनकी प्रचीनता में नवीनता है।

मानव

क्राइस्ट की नवीनता मानव मूल्यांकन में है। बन्धुत्व और मानवतावाद उनकी सबसे बड़ी देन है। क्राइस्ट के समय में भी और अब भी जैसा कि हम देख रहे हैं कि मनुष्य केवल कार्य का साधन है और शोषण किये जाने के लिए है। क्राइस्ट ने मानव को मूल्यांकित किया। इस मूल्यांकन में मनुष्य साध्य मूल्य है न कि साधन। इसका आधार प्रेम है। जिसको हम प्रेम करते हैं हम उसे मूल्य प्रदान करते हैं और जिससे अधिक प्रेम करते हैं उसको अधिक मूल्य भी प्रदान करते हैं। मनुष्य ईश्वर की सन्तान है। यदि हम ईश्वर को प्यार करते हैं तो उसकी सन्तान मानव से भी प्यार करते हैं। यहाँ द्रष्टव्य है कि वह मूल्य जिससे मानव को प्यार किया जाता है साध्य मूल्य है न कि साधन मूल्य। मानव मूल्यांकन के बहुत से तरीके हैं। हम मनुष्य का मूल्यांकन शक्ति की दृष्टि से, वैभव और सम्पन्नता की दृष्टि से या पद की दृष्टि से करते हैं। ये सभी मूल्याँकन साधन मूल्य की दृष्टि से किये जाते हैं। निश्चित है कि ऐसा मूल्याँकन बुरा नहीं है। सामाजिक दृष्टि से यह भी आवश्यक है। परन्तु क्राइस्ट मानव को साधन नहीं साध्य मूल्य मानते हैं। उदाहरण के लिए माता-पिता की दृष्टि में बालक साध्य मूल्य है। वह बालक चाहे प्रतिभावान हो, चाहे मन्द, दुबला हो या मोटा परन्तु माता-पिता उसको प्यार करते हैं। माता-पिता बालक को प्यार करने के लिए प्यार करते हैं। यह साध्य मूल्य है। क्राइस्ट ने यह बताया कि मनुष्य ईश्वर की सन्तान के रूप में साध्य मूल्य रखता है। प्राचीन मत में मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से नहीं देखा गया। क्राइस्ट ने यह पहचाना कि मनुष्य को मानवतावादी प्रेम से देखना ही उसको साधन मूल्य के स्थान पर साध्य मूल्य मानना है। क्राइस्ट के धर्म की सबसे बड़ी देन मानव को प्रेम-दान है। सच पूछा जाय तो धर्मों की सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण देन यही है कि उनसे सामाजिक सम्बन्धों में दृढ़ता उत्पन्न होती है। सामाजिक सम्बन्ध केवल साधन मूल्य पर ही आधारित नहीं माने जा सकते। संस्कृति और सभ्यता की स्थिरता और विकास में निश्चित ही इस साध्य मूल्य का ही हाथ है। समाज में देखा जाता है कि जहाँ प्रेम है वहीं आशा और विश्वास भी है। क्राइस्ट की मानव की धारणा में कहीं निराशा-वादिता एवं असारता नहीं है। क्राइस्ट ने कहीं भी मानव-प्रकृति में विकृति का दृष्टिकोण नहीं व्यक्त किया है और न कहीं मानवता का हरण किया है। मानवता

को साध्य मूल्य मानकर क्राइस्ट ने कहीं मानवता की अवमानना नहीं की है। रही बात पाप की, उनके धर्म में पाप को जहाँ स्थान मिला है वहीं यहूदी धर्म की तरह पापियों को मार डालने और उसका अपमान करने का प्रस्ताव कहीं नहीं है। इसके विपरीत अछूतों और यहाँ तक कि व्यभिचारिणी स्त्री को भी मुक्ति दिलाने का प्रयास है। उनके धर्म में खोया हुआ सिक्का ढूँढा जाना चाहिए, उसको बाजार में चलाना चाहिये। खोयी हुयी भेंट पुनः प्राप्त होनी चाहिए और प्रोदिगाल का पुत्र लौटाया जाना चाहिये[1]। क्राइस्ट को इसका ज्ञान था कि मनुष्य में दुर्गुण और बुराइयाँ हैं परन्तु उन दुर्गुणों के प्रेरकों को बदला जा सकता है, यह सम्भव है। शर्त यह है कि मनुष्य ईश्वर को पहचाने और समझे, ऐसा होने पर मनुष्य अवश्य ही ईश्वरीय इच्छा का पालन करेगा। इसीलिए उन्होंने कहा है कि—'एक मन फिराने वाले पापी के विषय में भी स्वर्ग में उतना ही आनन्द होगा जितना कि निन्नानवे ऐसे धर्मियों के विषय में नहीं होता, जिन्हें मन फिराने की आवश्यकता नहीं।"[2] मानव और मानवता के सम्बन्ध में क्राइस्ट की ऐसी धारणा यहूदी धर्म से भिन्न और नवीन है।

———

1. ल्यूक—15|1-32
2. ल्यूक—15|7

7 | इस्लाम धर्म

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और आधार—ऐतिहासिक दृष्टि से इस्लाम धर्म को विश्व के समस्त जीवित और जाग्रत महान धर्मों में सिक्ख धर्म को छोड़कर सबसे नूतन तथा लोकप्रिय धर्म कहा जा सकता है ।

इसकी लोकप्रियता का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि इस धर्म के अनुयायियों की संख्या विश्व के अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक है । इस्लाम के अनुयायियों की संख्या सन् 1984 में 55,52,77,180 थी ।[1] इस्लाम-धर्म का विकास स्थल अरब है । इसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब थे । इनका जन्म अरब के मक्का शहर में सन् 570 ई० में हुआ था । ऐतिहासिकता की दृष्टि से विचार किया जाय तो विश्व के धर्मों को दो वर्गों में रख सकते हैं, एक सनातनी धर्म और दूसरा ऐतिहासिक धर्म । सनातनी धर्म के निश्चित काल का पता नहीं है कि उसकी उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुयी, जैसे हिन्दू धर्म सनातनी धर्म माना जाता है । ऐतिहासिक धर्मों की उत्पत्ति का निश्चित काल ज्ञात है और उसके संस्थापक ऐतिहासिक महान पुरुष भी ज्ञात हैं । ऐतिहासिक धर्म की एक विशेषता यह भी है कि उनकी उत्पत्ति किसी पैगम्बर द्वारा की गयी है । पैगम्बर का अर्थ है, पैगाम (सन्देश) ले जाने वाला । हजरत मुहम्मद साहब ने ईश्वर का सन्देश मानव-जाति को दिया अत: उन्हें पैगम्बर भी कहा जाता है । जिस प्रकार यहूदी तथा ईसाई धर्म पैगम्बरवादी धर्म हैं उसी प्रकार इस्लाम धर्म भी पैगम्बरवादी धर्म कहा जाता है । जिस प्रकार बौद्धधर्म तथा जैन धर्मों की उत्पत्ति हिन्दू धर्म से मानी जाती है, उसी प्रकार इस्लाम भी यहूदी तथा ईसाई धर्मों से निकला हुआ माना जाता है । ऐसी मान्यता इसलिए है कि इस्लाम में उन दोनों धर्मों के तत्व निहित हैं । फिर भी इस्लाम की अपनी प्रमुख विशेषताएँ हैं । इस्लाम की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें मनुष्य के जीवन और चरित्र में आश्चर्यजनक परिवर्तन पैदा करने की अद्भुत और शक्तिशाली क्षमता है । प्रो० मैत्रा ने ठीक ही कहा है कि इस्लाम ने मनुष्य के एक ऐसे वर्ग को जो काहिल, अज्ञानी तथा अन्ध-विश्वासी था उसे बहादुर, सुसंस्कृत तथा योद्धा बना दिया । इस्लाम में धर्म की वह गत्यात्मकता निहित है, जो अन्य किसी धर्म में इतनी अच्छी तरह वर्णित नहीं है ।[2] इस्लाम अन्य किसी पैगम्बरों को

---

1. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका बुक, 1984
2. दी डाइनाामिक्स आफ फेथ, 128 ।

भी अस्वीकार नहीं करता। उसका अब्राहम, मूसा तथा क्राइस्ट में विश्वास जरूर है, परन्तु इन सभी पैगम्बरों में मुहम्मद साहब अन्तिम और सबसे अधिक शक्तिशाली पैगम्बर हैं। उनकी शिक्षाएँ अन्तिम हैं और मानव को उनकी शिक्षाओं को अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इस्लाम की इस धारण से यही पता चलता है कि यह एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला धर्म है, जो मुहम्मद साहब द्वारा ईश्वर के संदेश के रूप में प्रचारित किया गया है, परन्तु इसके ऊपर अन्य पैगम्बरवादी धर्मों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इस्लाम और कुछ नहीं यहूदी धर्म का ही प्रतिरूप है और इसमें यहूदी धर्म के दस उपदेशों का व्यावहारिक रूप पाया जाता है। इसकी नैतिक शिक्षाएँ यहूदी धर्म के अनुरूप हैं। परन्तु ऐसी धारणा उपयुक्त नहीं प्रतीत होती क्योंकि यदि इस रूप में देखा जाय तो सभी धर्म कुछ अंशों में समानता रखते हैं। यही धर्मों की एकता है। इतना निर्विवाद है कि इस्लाम के पहले होने के करण यहूदी तथा ईसाई धर्मों का प्रभाव इस पर स्पष्ट झलकता है। इस्लाम की यहूदी तथा ईसाई धर्म से समानता का मुख्य कारण यह है कि इनकी उत्पत्ति की जड़ एक ही है। तीनों धर्मों की एकता का एक ऐतिहासिक आधार वंश परम्परा के रूप में देखा जा सकता है। 'दिनकर' के 'संस्कृति के चार अध्याय' में इस परम्परा और सम्वन्ध का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—'एक तरह, से देखिए तो यहूदी धर्म, ईसाइयत और इस्लाम, दोनों का सम्बन्ध है। यहूदियों की तरह, ईसा और मुहम्मद भी सामी जाति के सदस्य थे। सामी जाति घोर रूप से मूर्ति पूजक थी। मूर्ति पूजा छोड़ने का उपदेश उसे सबसे पहले हजरत इब्राहिम ने दिया जो यहूदियों के आदि पैगम्वर हुए हैं। चूंकि हजरत इब्राहिम ने मूर्तिपूजा का विरोध किया और एक वाद की प्रथा चलायी, इसलिए, मुसलमान भी उनकी पैगम्बरी में विश्वास करते हैं। इन्हीं हजरत इब्राहिम के खानदान में ईसा और मुहम्मद दोनों हुए हैं। हजरत दाऊद, ईसा और मूसा ये तीन पैगम्बर हजरत इब्राहिम के बड़े बेटे हजरत इसहाक के खानदान में हुए और हजरत मुहम्मद इब्राहिम के छोटे बेटे इस्माइल के वंश में हुए हैं।.......मुसलान जनता दाऊद, मूसा और ईसा को पैगम्बर जरूर मानती है, लेकिन इस्लाम यह स्वीकार नहीं करता कि हजरत ईसा परमात्मा के पुन्न थे। फिर भी इन पैगम्बरों के प्रति इस्लाम के बड़े ही आदरयुक्त भाव हैं। मुसलमान हजरत मूसा को 'कलीम-उल्लाह' (प्रभु से बातें करने वाला), हजरत ईसा को 'रूह-उल्लाह' (प्रभु की आत्मा) और हजरत मुहम्मद को 'रसूल-उल्लाह' प्रभु का दूत) कहते हैं।''[1]

इस्लाम का अर्थ—मुहम्मद फाधेल जमाली ने अपनी पुस्तक 'लेटर्स ऑन इस्लाम' में इस्लाम का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'इस्लाम स्पष्ट और

---

1. पृ० 522।

और सरल है, और समझने में आसान है। इसके मानने वाले ईश्वर से निर्देशित होते हैं, उनके हृदय विश्वास की ज्योति से प्रकाशित होते हैं, उनमें मतभेद नहीं होता। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ होता है, मानव का ईश्वर (अल्लाह) के प्रति समर्पण।'[1] इस्लाम में मनुष्य अपने को ईश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित कर देता है। ईश्वर की इच्छा पर व्यक्ति निर्भर रहता है। यदि व्यक्ति सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा पर आध्यात्मिक, बौद्धिक, शारीरिक और यहाँ तक कि क्रिया के रूप में भी अपने को समर्पित कर देता है तो वह सच्चा मुसलमान कहा जाता है। ईश्वर को समर्पित करने वाले व्यक्ति को ही पूर्ण शान्ति मिल सकती है। अतः इस्लाम शन्ति म प्रवेश करने वाला धर्म है। वैसे भी इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है शान्ति में प्रवेश करना। अतः कहा जाता है कि मुसलमान उस व्यक्ति को कहते हैं जो ईश्वर और मनुष्य के साथ पूर्ण शान्ति का सम्बन्ध रखता है। धर्मानुसार मुसलमान वह है, जो यह कहता है कि "अल्लाह (ईश्वर) को छोड़कर कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और मुहम्मद उसके पैगम्बर (रसूल) हैं।"

(लाइलाहइल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह) मुसलमान जब भी किसी कार्य का आरम्भ करे तो उसे ईश्वर नाम सच्चे दिल से लेना चाहिए और कहना चाहिए कि 'असीम दयामय और कृपालु ईश्वर के नाम पर' (बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम)। केवल अल्लाह को मान लेने से ही किसी को सच्चा मुसलमाना नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह मुहम्मद साहब को अल्लाह का नबी, रसूल और पैगम्बर नहीं मानता नबी का अर्थ है किसी उपयोगी और परम ज्ञान की घोषणा। चूँकि मुहम्मद साहब ने ऐसे परम ज्ञान की घोषणा की थी इसलिए उन्हें नबी कहा जाता है। नबी का दूसरा अर्थ दूत से भी लिया जाता है, जो ईश्वर और प्राणियों के बीच आता जाता है। इस प्रकार मुहम्मद साहब पैगम्बर, नबी और रसूल (दूत) (अर्थात् ईश्वर और मनुष्य के बीच धर्म दूत) के रूप में जाने जाते हैं। इस्लाम में पाँच धार्मिक कर्त्तव्य निश्चित किए गए हैं—

(1) कलमा पढ़ना (लाइलाहइल्लिल्लाह मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह) (यही कलमा इस्लाम के एकत्ववाद (तौहीद) को प्रकट करता है। (2) नमाज पढ़ना—प्रतिदिन पाँच बार प्रार्थना करना।

(3) रोजा रखना—एक माह सूर्यास्त के बाद भोजन करना। रमजान का महीना पवित्र माना जाता है, क्योंकि इसी समय कुरान का अवतरण हुआ था।

(4) जकात—अपनी सालाना आमदनी का ढाई प्रतिशत दान देना।

(5) हज करना—तीर्थों में जाना। मक्का, मदीने तथा संतों की समाधि का दर्शन करना

---

1. पृ० 20-21

इन धार्मिक कृत्यों के आधार पर ही मु० जमाली ने इस्लाम को यथार्थवादी धर्म माना है और इसे वह दैवी व्यवस्था कहा है जो मुसलमानों के जीवन को उसके सभी क्षेत्रों में निर्देशित करता है। अर्थात् इसमें आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सभी पहलुओं का निर्देशन होता है और इसमें मत, कर्मकाण्ड सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिकता सभी सम्मिलित हैं। इस्लाम धर्म समग्रता का धर्म (Totalist Religion) है। यह उन धर्मों से भिन्न है जो केवल मनुष्य के आध्यात्मिक पहलू तक ही सीमित हैं और भौतिक या ऐहिक जीवन को छोड़ देते हैं। इस्लाम सर्वाधिकार-वादी व्यवस्थाओं जैसे फासीवाद, नाजीवाद अथवा साम्यवाद से भी भिन्न है। इस्लाम में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। वह किसी पार्टी या बाह्य शक्ति के अधीन नहीं रहता। इस्लाम में व्यक्ति केवल ईश्वर का भय मानता है। जब तक मनुष्य अपने सृष्टिकर्ता की आज्ञाओं का पालन करता है तब तक वह पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। इस्लाम एक जनतान्त्रिक व्यवस्था है। इसमें व्यक्ति पर नियन्त्रण बिना उसका दमन किये ही किया जाता है। इस्लाम मनुष्य को भय से मुक्ति दिलाता है। विवेक की स्वतन्त्रता की गारन्टी देता है तथा परस्पर सामाजिक निर्भरता का आह्वान करता है। इन सबके अतिरिक्त यह शान्ति का धर्म है—ऐसी शान्ति जिसकी स्थापना व्यक्तियों और देशों के बीच अधिकार तथा न्याय के आधार पर की जाती है। पवित्र कुरान की निम्नलिखित आयत में (II-177) इस्लाम के मूल मन्तव्य को पूर्णतया प्रदर्शित किया गया है। इसे ही इस्लाम का आधार कहा जा सकता है। आयत में कहा गया है—'पवित्रता यह नहीं है कि तुम अपना मुख पूरब की तरफ करो या पश्चिम की तरफ, वरन् पवित्रता इसमें है कि तुम ईश्वर में, अन्तिम न्याय के दिन में, देवदूत में, कुरान में तथा पैगम्बर में विश्वास करो तथा प्रेम से ईश्वर को अपनी सम्पत्ति अर्पित करो। अनाथों, गरीबों, भिखारियों तथा अभाव में रहने वालों की सहायता करो। प्रार्थना करो। दुखियों, बीमारों की सहायता करो।' इसी तरह अन्यत्र (कुरान-सार-विनोबा, 262-1) कहा गया है कि 'तुम ईश्वर की भक्ति करो और उसके साथ किसी को भागीदार न बनाओ। माता-पिता के साथ सुजनता का बर्ताव करो। सगे-सम्बन्धियों, अनाथों, अकिंचनों, परिचित पड़ोसियों, अपरिचित पड़ोसियों, सह-प्रवासियों और प्रवासियों के साथ अच्छा बर्ताव करो। उनके साथ भी जो तुम्हारे अधीन (दास-दासी) हैं। निःसन्देह ईश्वर को इतराने वाले आत्मश्लाघी नहीं भाते।'

निश्चित रूप से इन आयतों में इस्लाम की मुख्य शिक्षाएँ निहित हैं, जो इस्लाम की वास्तविकता को प्रकट करती हैं। इनसे मानव की एकता की बात प्रकट होती है। मु० जमाली का कहना उचित ही है कि इन आयतों में इस्लाम धर्म के सामाजिक तथा नैतिक जीवन का आधार प्रकट होता है। इस्लाम में धर्म, कर्म तथा अध्यात्म का समन्वय स्पष्ट हो जाता है।[1]

---

1. वही पृ० 22

इस्लाम का प्रमुख आधार उसका पवित्र ग्रंथ कुरान है। कुरान का अर्थ है उच्चरित या पठित। कुरान में उन आयतों का संकलन है, जो मुहम्मद साहब के मुख से उस समय निकले जब वे समाधि या ईश्वर सान्निध्य में रहते थे। इन आयतों को ईश्वर ने मुहम्मद साहब के पास देवदूतों के जरिये भेजा था। इनका संकलन बाद में हुआ। हदीस से भी इस्लाम धर्म के विषय में पर्याप्त ज्ञान मिलता है। इसमें मुहम्मद साहब के उपदेश संगृहीत हैं।

मुहम्मद साहब तथा कुरान

मुहम्मद साहब के जीवन तथा उनकी धार्मिक अनुभूतियों के विषय में 'कुरान' तथा 'हदीस' द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। माना जाता है कि कुरान सम्पूर्ण रूप में दैवी प्रकाशन [रेवेलेशन] है।[1] यदि हम कुरान की यथार्थता तथा विश्वसनीयता पर विचार करें तो देखेंगे कि कुरान कुछ अंशों में ही विश्वसनीय है। यद्यपि कुरान मुहम्मद साहब के जीवन काल में लिपिबद्ध नहीं हुआ परन्तु इसके विषय में एक विशेषता यह है कि मुहम्मद साहब ने अपनी उपस्थिति में ही इसको याद करने या लिखने का आदेश दिया था।[2] यद्यपि मुहम्मद साहब पढ़े-लिखे न थे परन्तु उनके शिष्यों को लिखने की कला ज्ञात थी। इतना अवश्य कहा जाता है कि पैगम्बर के समय कुरान का उचित रूप में संग्रह नहीं हुआ था वरन् जैसे-जैसे उनकी आयतें [पद] प्रकट होती थीं, पैगम्बर उन्हें लेखक बुलाकर लिखवा देते थे या शिष्य उनके पास सदैव रहते थे, लिख लिया करते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण कुरान हड्डियों, कपड़ों या खजूर की टहनियों पर लिखा गया, क्योंकि कागज उस समय तक विकसित नहीं हुआ था।[3]

कुछ उलमा (विद्वानों) का ख्याल है कि पैगम्बर ने अपने जीवन में ही तमाम सूरतों को संग्रह कर लिया था और नाम भी रख दिया था। हदीसों से पैगम्बर का नमाजों में सूरे बकरा, निसा और एराफ का पढ़ना भी साबित है; जिससे मालूम होता है कि सूरतों के नाम भी उन्होंने ही निश्चित कर दिये थे।[4] कुछ लोगों के विचार में कुरान का सम्पादन पैगम्बर के जमाने में हुआ क्योंकि कुछ लेखकों को इस बात का ध्यान था। अलहिलाल जजी जैदान मिस्र अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "तारीख तम्मुदुन 'इस्लामी' जिल्द तीन (अनुवादक असलम जैराजपुरी) में कहते हैं कि पैगम्बर के

---

1. दैवी प्रकाशन का अर्थ कुरान के सम्बन्ध में यह है कि ईश्वर के द्वारा ही कुरान की आयतें मुहम्मद साहब से कहलाई गई हैं। परन्तु रहस्यवाद की दृष्टि से हमारे अर्थ में रहस्यवादात्मक अनुभूति है।
2. कुरान—96 : 4, तर्जुमा कुरान शरीक, मौलवी अहमद बशीर।
3. अब्दुल वहीद खाँ—तारीख अफकारोसया सियाते इस्लामी, पृष्ठ 135
4. वही पृष्ठ 135

जीवन काल में कुछ साहवा को कुरान के संग्रह का ख्याल रहता था। इनमें खास-खास अलीबिन अवीतालिब, सादबिन उवेद, माजबिन जबल और अवीबिन काब थे।

परन्तु उनके जीवन काल में कुरान के संग्रह का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इतना अवश्य प्रमाणित है कि मुहम्मद के जीवन काल में कुरान कंठस्थ भी किया गया और साथ ही साथ कुछ अंश लिखे भी गए।[1] कुरान के लिखने के बारे में हजरत उस्मान का कहना है कि पैगम्बर के ऊपर जब कोई आयत प्रकट होती थी तो वे तुरन्त किसी लेखक को बुलाकर लिखवाते और यह बतला देते थे कि यह आयत फलां सूरत की है और इसके बाद और इसके पहले लिखो। कुरान में भी आयतों के लिखने का संकेत मिलता है।[2] कुछ लोगों का कहना है कि लगभग 42 व्यक्ति पैगम्बर के पास लेखक के रूप में रहते थे।[3]

उपर्युक्त कथनों से यही सिद्ध होता है कि कुरान के अधिकांश भाग असंगठित रूप में लिखे हुए थे और कुछ अंशों का संरक्षण स्मृति के रूप में ही रहा है। वास्तव में पैगम्बर के जीवन काल में ही कुरान को कंठस्थ कर लिया गया था और वह उसी क्रम से कंठस्थ किया गया था जिस क्रम में हम आज कुरान को देख रहे हैं।[4]

स्मृति से कुरान की सुरक्षा इसलिए भी अधिक संभव है कि मुहम्मद साहब ने स्वयं इस बात पर बल दिया था। यही नहीं धार्मिक ग्रंथ मानकर तथा ईश्वर द्वारा उतरी हुई जानकर इसको कंठस्थ करना लोगों ने अपना धर्म मान लिया था। कुरान को याद कर लेना और लोगों को बताना भी आवश्यक समझा गया था, इसीलिए स्मृति द्वारा इसकी सुरक्षा समझी जा सकती है। यह इसलिए भी संभव है कि कुरान का अवतरण या प्रकाशन तेईस वर्षों के अन्तर्गत क्रमशः हुआ था अतः लोगों को याद करने का समय पूर्णरूप से प्राप्त हुआ होगा। स्वयं मुहम्मद साहब को कुरान याद था जिससे उन्होंने लोगों के समक्ष याद करने का उदाहरण उपस्थित कर दिया था। यह भी प्रमाण मिलता है कि प्रार्थना की दृष्टि से व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में कुरान का याद होना आवश्यक था। बुखारी से पता चलता है कि अनेक व्यक्ति ऐसे थे जिन्हें कुरान पूर्ण रूप से कंठस्थ था। कंठस्थीकरण में यह शंका नहीं की जा सकती कि कुरान में कुछ अपनी तरफ से जोड़ दिया गया हो। क्योंकि स्वयं पैगम्बर

---

1. मुहम्मद जफरुल्ला खाँ—रिलीजस परस्पैक्टिव वालूम सात, इस्लाम इट्स मीनिंग फार माडर्न मैन, पृष्ठ 84
2. कुरान, 29 : 49।
3. मौलाना मुहम्मद अली—अनुवादक, द होली कुरान, भूमिका, पृष्ठ 37
4. मुहम्मद ज़फरुल्ला खाँ—इस्लाम, पृष्ठ 83

ने यह संकेत दे दिया था कि कौन-सी आयत किस आयत के पहले और बाद में होगी। और इसी के आधार पर कुरान का सम्पादन किया गया। यद्यपि इसमें काल क्रम नहीं है फिर भी इसे कुछ अंशों में विश्वसनीय कहा जा सकता है।[1]

क्योंकि देखने से पता चलता है कि मुसलमानों की स्मृति-परम्परा किसी अर्थ में कम न थी। अधिकांश व्यक्तियों को कुरान कंठस्थ था। पूरा कुरान उतारने में यद्यपि अधिक समय लगा, परन्तु जो आयतें उतरती थीं उन्हें लोग याद कर लिया करते थे और उसी आधार पर बाद में कुरान का संकलन एवं सम्पादन हुआ।[2]

हदीस—पैगम्बर के जीवन के विषय में जानने का दूसरा साधन हदीस है। इसमें उनके समय का पूरा इतिहास चित्रित है। हदीस में पैगम्वर की क्रियाओं और कथनों का चित्रण मिलता है। यद्यपि कुरान से मुहम्मद साहब की धार्मिक अनुभूतियों और चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है परन्तु उनके जीवन की अन्य बातें हदीस से ही ज्ञात होती हैं। हदीस इस दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है। परन्तु हदीस के संग्रह की ओर कई कारणों वश दूसरी शती हिजरी तक ध्यान न दिया जा सका। हदीस और कुछ नहीं पैगम्बर तथा उनके शिष्यों का कथन है। पैगम्बर जब तक जीवित थे तो उनके चारों ओर उनके अनुगामी घेरे रहते थे और उनसे जो कुछ सुनते या करते देखते उसको दूसरों तक पहुँचाते। इस तरह उनके जीवन का प्रत्येक पक्ष लोगों के सामने रहता था। परन्तु बात यह थी कि हदीस का बहुत कम बयान किया जाता था। स्वयं पैगम्बर का आदेश था कि हदीस का बहुत कम बयान किया जाय।[3] बहुत से अनुगामी इस भय से कि कहीं हदीस में गलती न हो जाय हदीसों के बयान से बचते थे। पैगम्बर ने हदीस को लिखने से सख्त मना कर दिया था और सचेत कर दिया था कि जिस किसी ने कुरान के अतिरिक्त कुछ लिखा हो उसे मिटा डाले। यद्यपि अबू होरैरा और अब्दुल्ला (अम्र के पुत्र) के विषय में यह प्रमाणित है कि वे जो कुछ उनसे सुनते थे लिख लिया करते थे। अबू शाह की प्रार्थना पर "खुतबए-यमन"[4] को जरूर लिखवाया गया था लेकिन इसके अतिरिक्त एक सामान्य आदेश यही था कि हदीस को न लिखा जाय। यदि जबानी किसी को सुना दिया जाय तो आपत्ति नहीं। पैगम्बर के इस आदेश के सही होने में किसी को इन्कार नहीं है। यह अवश्य है कि इसके मतलब में लोगों में मतभेद पाया जात है। जिससे कोई इसे विश्वासनीय मानता है और कोई इसको अनर्गल और झूठा मानता है। कुछ भी

1. जेम्स हास्टिंगस—एडीटर, इनसाक्लोपीडिया आफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स, वालूम 8, पृष्ठ 872
2. ए० एम० ए० शास्त्री—आउटलाइंस आफ इस्लामिक कल्चर, पृष्ठ 454-456
3. अब्दुल वहीद खाँ—तारीख अफकारों सयासियाते इस्लामी, पृष्ठ 230
4. एक भाषण जो यमन के लोगों के सामने पैगम्बर ने दिया था।

हो पैगम्बर का हदीस को न लिखने का आदेश सम्भवत: इसलिए रहा कि कहीं हदीस व कुरान आपस में एक दूसरे से मिल-जुल न जायँ।

कारण कुछ भी हो यह निश्चित है कि पैगम्बर की मृत्यु के समय मुसलमानों के निर्देशन के लिए सिर्फ कुरान एकमात्र पुस्तक थी और दूसरी ओर हदीस के रूप में पैगम्बर के कथन जो पुस्तक के रूप में संकलित नहीं थे। परन्तु ये कथन लोगों की स्मृति तथा व्यवहार में अवश्य थे।[1]

हजरत उमर ने भी हदीस बयान करने से मना किया। "सिवली" ने 'अन्नोमान" में 'जहवी' का यह कथन लिखा है कि हजरत उमर इस डर से कि हदीस बयान करने वाला पैगम्बर के बारे में कोई गलत बयान न कर दे; साहबा को आदेश देते थे कि हदीस का कम से कम बयान किया करें।[2] उमर ने हदीस के बयान करने का विरोध यहाँ तक किया कि यदि उनके पास कोई लिखित रूप में हदीस लाता था तो जलवा दिया करते थे।[3] परन्तु अन्ततोगत्वा ऐसी दशा बहुत दिनों तक न चली। बाद में चलकर हदीसों का बयान करने में अधिकता शुरू हो गयी और "बनूउमैया" के काल में हदीस की संख्या लाखों तक पहुँच गयी तथा लिखने का काम भी प्रारम्भ हो गया। "अब्बासिया" काल में हदीस का संग्रहपूर्ण रूप में होने लगा और हदीस के संग्रह का क्रम बराबर शुरू रहा। ऐसा समझा जाता है कि पुस्तकों की संख्या कई सौ तक पहुँची है। परन्तु इन सब में प्रमुख तीन पुस्तकें हैं।

(i) अलमौता—लेखक मालिक इब्ने अनास।
(ii) सही बुखारी—मुहम्मद पुत्र इस्माइल बुखारी।
(iii) सही मुसलिम—मुस्लिम पुत्र हज्जाज निसापुरी।

उपर्युक्त बयानों की दृष्टि से हदीस उतना विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता जितना कि कुरान, क्योंकि हदीस के बयान करने की आज्ञा न होने से उसका महत्व कम हो जाना स्वाभाविक कहा जा सकता है और जिन्हें उनकी स्मृति भी रही होगी उसमें हेर-फेर भी होना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से हदीस की विश्वसनीयता स्वल्प मात्रा में ही जान पड़ती है। अत: इसमें संदेह नहीं कि हदीस तथा कुरान विश्वसनीय तथा वैध माने जा सकते हैं। परन्तु मान्य श्रेणी के आधार पर इनकी विश्वसनीयता द्वितीय श्रेणी की ही मानी जा सकती है। क्योंकि अन्य धर्म ग्रन्थों की

---

1. वही, पृष्ठ 217
2. वही, पृष्ठ 218
3. तबकात इबनेसाद, पाचवाँ भाग, पृ. 140, तारीख अफकारों सयासियाते इस्लामी पृष्ठ 219 पर उद्धृत।

भाँति इसका संकलन मुहम्मद साहब के जीवन काल में नहीं हुआ, स्मृति के आधार पर ही इनको क्रम में रखकर बाद में संकलित किया गया।[1]

मुहम्मद साहब-जीवन परिचय

मुहम्मद साहब के जन्म के पहले उनकी माता अमीनाह ने उनके आगमन का सुखद समाचार स्वप्न में पाया था। कहा जाता है कि उनके बाबा अब्दमुतालिब ने भी ऐसा स्वप्न देखा था कि किसी महापुरुष की उत्पत्ति अवश्य होगी। स्वप्न के ही आधार पर उनका नामकरण मुहम्मद हुआ। 'मुहम्मद' उनके बाबा द्वारा दिया गया नाम और अहमद उनकी माता द्वारा।[2] उनके जन्म की अन्य घटनाएँ भी रहस्यमयता प्रकट करती हैं।[3] जन्म के विषय में जो भविष्य वाणियाँ इनके पहले महान पुरुषों द्वारा की गई हैं, वे भी रहस्यमयता प्रकट करती हैं। जिस प्रकार अन्य लोगों के विषय में भविष्यवाणियाँ मिलती हैं और सत्य सिद्ध होती हैं[4] उसी प्रकार मुहम्मद साहब के विषय में भविष्यवाणियाँ हुईं और सत्य भी सिद्ध हुई जान पड़ती हैं। ऐब्राहिम, मूसा, यशायाह तथा क्राइस्ट द्वारा की गई भविष्य वाणियाँ इसके उदाहरण के रूप में हैं।[5]

मुहम्मद साहब का प्रारम्भिक जीवन सद्‌गुणों से कितना सम्पन्न और व्यक्तित्व कितना संगठित रहा है, यह उनके तत्कालीन सहयोगियों से ज्ञात है उनकी असाधारण नैतिकता, सच्चाई, प्रेम, सौहार्द, सेवा-भाव, विश्वसनीयता, कथनी-करनी में एकता आदि गुण बचपन से ही विद्यमान थे। अबूतालिब ने इनके इन्हीं गुणों के कारण व्यापार में इन्हें अपने साथ लिया। खदीजा ने उनके इन्हीं गुणों के कारण अपने अतुल धन को इन्हें सौंपकर अपना कार्यकारी नियुक्ति किया और बाद में अपना प्रेम अर्पित कर दाम्पत्य जीवन स्वीकार किया।[6] इनके जीवन की असाधारणता इस बात में है कि सामान्य मनुष्यों में इस प्रकार के लक्षण बहुत कम प्राप्त होते हैं।

---

1. यद्यपि सम्पूर्ण कुरान पैगम्बर के सहयोगियों और शिष्यों को क्रम तथा व्यवस्थित रूप में कंठस्थ था, परन्तु लिखित रूप में उसका कोई संग्रह ऐसा नहीं था जो प्रामाणिक हो। मौलाना मुहम्मद अली-द होली कुरान, भूमिका पृष्ठ 50
2. मौलाना मुहम्मद अली, 'मुहम्मद, द ग्रेट प्राफेट' पृष्ठ 37
3. वही, पृष्ठ 38-39
4. धर्मशास्त्र, उत्पत्ति, 12 : 13, 17 : 20
5. कुरान, 2 : 124-129, प्राचीन धर्मशास्त्र—व्यवस्था, विवरण, 18 : 18; यशायाह 21 : 13-15, जान 14 : 15-17, 26-16 : 13-16।
6. मुहम्मद जफरुल्ला खाँ, इस्लाम, पृ० 20, तथा मौलाना मुहम्म दअली, मुहम्मद दी प्राफेट, पृष्ठ 42-48

परम सत्ता के सान्निध्य तथा मार्ग प्रदर्शन के लिए मुहम्मद साहब दिन में एक बार 'हीरा' नामक पहाड़ की गुफा में जो मक्का से कुछ मील दूर है, जाया करते हैं। यहाँ प्रार्थना तथा ध्यान में मग्न रहते थे। फल (खजूर) तथा पानी पर रात-दिन व्यतीत कर दिया करते थे। उन्होंने अपने धार्मिक अनुभवों को खदीजा से आकर बतलाया भी है। कुरान में भी उनके अनुभवों का वर्णन मिलता है।[1] उनका जीवन सतत् प्रार्थना में लीन था। वह रात्रि में कार्य करने के पश्चात् बहुत समय तक खड़े-खड़े प्रार्थना करते थे, यहाँ तक कि उनके पैरों में सूजन आ जाती थी।[2] कहा जाता है कि उनकी साधना सतत् बनी रहती थी। गुफा में निश्चित ध्यान के पश्चात् भी ईश्वर का चिन्तन निरन्तर करते रहते थे।

इस्लाम धर्म की मूलभूत विशेषताएँ

इस्लाम धर्म की अपनी कुछ मूलभूत विशेताएँ हैं, जिनसे उसकी मौलिकता का पता चलता है। इस धर्म पर यद्यपि यहूदी धर्म का प्रभाव स्पष्ट है, फिर भी इस धर्म की पहचान इसकी समग्रता में है। यह मानव जीवन के समग्र पहलुओं को अपने में समेटे हुए है। सिद्धान्त और व्यवहार अलग-अलग नहीं हैं। विश्वास के रूप में यह सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करता है। धर्म से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन को अलग नहीं किया जा सकता। यह सामाजिक विधान भी है और कर्म-काण्ड भी है। यह लौकिक जीवन की बात करता है और पारलौकिक जीवन की भी। धर्म-ग्रन्थ कुरान जो कुछ भी कहता है, वह मानव जीवन की यथार्थता से सम्बद्ध है। इस्लाम की मूलभूत विशेषताओं पर निम्नलिखित रूपों में प्रकाश डाला जा सकता है—

(1) **धार्मिक ग्रन्थ कुरान में आस्था**—इस्लाम धर्म का पवित्र धर्म-ग्रन्थ कुरान है। इस्लाम को इसकी पवित्रता, अधिकारिकता एवं प्रामाणिकता में पूर्ण विश्वास और आस्था है। इस्लाम का सम्पूर्ण ढाँचा इसी पर आधारित है। यह ईश्वर की वाणी है, जिसे ईश्वर ने देवदूत जिब्राइल द्वारा मुहम्मद साहब के पास भेजा था। यह अरबी भाषा में मौलिक रूप में सुरक्षित है। कुरान का शाब्दिक अर्थ है, 'उच्चरित होना', पूरा ग्रन्थ 114 सूरों में बँटा है और प्रत्येक सूरे को आयतों में बँटा है। इसमें धर्म के सभी विषयों तथा सामाजिक, आर्थिक जीवन से सम्बन्धित विचारों को विधिवत समझाया गया है; जैसे ईश्वर, आत्मा, नरक, स्वर्ग, पाप, पुण्य, दान, सम्पत्ति, विवाह तथा अन्य सामाजिक कर्तव्यों की चर्चा की गई है। किसी कर्तव्य-पालन में विवाद होने पर कुरान का देखा जाना अनिवार्य माना गया है। इसी से इस धर्म-ग्रन्थ की आधिकारिता और विश्वसनीयता की सिद्धि होती है। यह वह ग्रन्थ

1. कुरान, 42 : 51
2. मुहम्मद जफरुल्ला खाँ, इस्लाम, पृष्ठ 23, 25, 69, 107,

है जिसमें कोई सन्देह नहीं, कल्याण मार्गियों का मार्ग दर्शक है।' कुरान दैवी प्रकाशन है। ऐसा पवित्र ग्रन्थ मनुष्य और जिन मिलकर भी नहीं बना सकते, यद्यपि इसके अवतरण में इनका सहयोग रहा है। यह महान और अत्यन्त पवित्र ग्रन्थ है।

(2) **एकेश्वरवाद**—इस्लाम धर्म एक और केवल एक ईश्वर में विश्वास करता है—जिसे 'अल्लाह' कहता है, इसलिए यह एकेश्वरवाद में आस्था रखता है। कुरान में कहा गया है—'कह : ईश्वर एक है, ईश्वर निरपेक्ष है, वह न जनिता है न जन्य और न कोई उसके समान है।' इस्लाम एकेश्वरवाद पर उतना ही जोर देता है, जितना यहूदी धर्म में दिया गया है।

(3) **पैगम्बर में विश्वास**—इस्लाम में पैगम्बर में विश्वास करने को कहा गया है। पैगम्बर वह है जो ईश्वर के सन्देश (पैगाम) को लेकर मनुष्य तक पहुँचाए। अनेक पैगम्बर हो चुके हैं—जैसे इब्राहिम, मूसा, ईसा आदि, परन्तु मुहम्मद साहब अन्तिम और महान माने जाते हैं। कुरान में पैगम्बर मुहम्मद साहब द्वारा कहलवाया गया है कि 'कह : ऐ लोगों, मैं तुम सबकी ओर उस परमात्मा का भेजा हुआ हूँ, जिसका आकाशों एवं भूमि में आधिपत्य है। उसके अतिरिक्त कोई नियन्ता नहीं, वही जिलाता है, वही मारता है। सो श्रद्धा रखो परमात्मा पर और उसके भेजे हुए अनपढ़ सन्देष्टा पर, जो परमात्मा पर और उसकी वाणी पर श्रद्धा रखता है और तुम उसका अनुसरण करो, जिससे कि तुम्हें मार्ग प्राप्त हो।' (352-1 कुरान-सार, विनोबा)

(4) **स्वर्गदूत तथा अन्य आत्माओं में विश्वास**—इस्लाम धर्म स्वर्गदूत या फरिश्तों तथा अन्य आत्माओं में भी विश्वास करता है। स्वर्गदूत सूक्ष्म शरीर से अस्तित्व में रहते हैं। ईश्वर ने इनकी रचना ज्योति से की है। इनमें स्त्री-पुरुष का भेद नहीं होता और न ये कुछ खाते-पीते ही हैं। इनका कार्य ईश्वर की स्तुति करना तथा उसकी आज्ञा का पालन करना बताया जाता है। ऐसे चार स्वर्गदूतों की चर्चा की गई है। इनमें 'जिब्राइल' का प्रमुख स्थान है, इनके द्वारा ईश्वर का सन्देश पैगम्बर तक पहुँचता है। इनके 'मीकाईल' का नाम मुख्य है, इनका कार्य है आयु पूर्ण होने पर मृत्यु देना। यही आत्मा को शरीर के मृत होने पर अलग करते हैं। 'इसताफील' महाप्रलय की सूचना तुरही बजाकर देते हैं। 'करामत' मनुष्य के शुभ कर्मों को लिखने वाले तथा 'कातिबीन' मनुष्य के अशुभ कर्मों का लेखा रखने वाले स्वर्गदूत हैं। कुरान में 'जिन' का भी नाम आता है। 'जिन' मनुष्य तथा फरिश्तों के बीच के जीव कहे जाते हैं। इनमें कुछ 'शुभ' हैं और कुछ 'अशुभ'।

मनुष्य को अशुभ कर्मों की ओर ले जाने वाले कुछ ऐसे प्राणी भी हैं जो स्वर्गदूत की तरह सब जगह चलते-फिरते पाये जाते हैं। इन्हें 'शैतान' की संज्ञा दी गई है। शैतान का प्रमुख सरदार 'इब्लिस' कहा गया है। शैतान ईश्वर की अवज्ञा करने के कारण स्वर्ग से बाहर कर दिया गया। कुरान में मनुष्य को शैतान से बचने

के लिए आदेश दिया गया है। शैतान से बचने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए।

(5) **न्याय-दिवस, स्वर्ग-नरक तथा पुनरुत्थान (Resurrection) में विश्वास**—इस्लाम धर्म में मृत्यु के पश्चात् के जीवन में विश्वास प्रकट किया गया है। कुरान में न्याय-दिवस की बात कही गई है, जिस दिन मनुष्य के किये गये कर्मों के अनुसार ईश्वर न्याय करता है और उसे उसका अच्छा-बुरा परिणाम देता है। अच्छे कर्म वाले को स्वर्ग तथा बुरे कर्म करने वाले को नरक में डाल दिया जाता है। कुरान में कहा गया है कि न्याय-दिवस के दिन तुरही फूँकी जायगी, मुर्दे जिन्दा हो जायेंगे, यही पुनरुत्थान है। इस अवस्था की बात यहूदी और ईसाई धर्मों में भी कही गई है। सभी धर्मों की तरह इस्लाम धर्म में भी स्वर्ग-नरक की चर्चा मिलती है। शुभ या अशुभ कर्म करने वाले को क्रमशः स्वर्ग या नरक में स्थाई स्थान मिलता है। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म को इस्लाम में स्वीकार नहीं किया गया है।

(6) **बहुदेववाद तथा मूर्ति-पूजा में अविश्वास**—इस्लाम धर्म की यह भी विशेषता है कि यह बहुदेववाद तथा मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करता। हजरत मुहम्मद साहब के पूर्व अरब में मूर्ति-पूजा तथा अनेक देवताओं की मान्यता, नर-बलि, व्यभिचार आदि बुराइयाँ प्रचलित थीं। इनके विरोध में ही इस्लाम ने एकेश्वरवाद की स्थापना की।

(7) **भाग्यवाद और पूर्व नियतिवाद में विश्वास**—इस्लाम धर्म चूँकि ईश्वर को सर्वोच्च स्थान देता है, इसलिए ईश्वर ही कर्ता माना गया है। 'वही हँसता है, वही रुलाता है। वही मारता है, वही जिलाता है। उसी ने नर और नारी का जोड़ा बनाया है। वही समृद्ध करता है और वही परितृप्ति देता है।' (कुरान सार—370-5-8)

इस प्रकार विश्व में जो भी कार्य होता है, ईश्वर द्वारा ही सम्पन्न कराया जाता है। मनुष्य के जीवन में भी ईश्वर की इच्छा से ही कार्य होता है। इस प्रकार कुरान भाग्यवाद तथा पहले से निर्धारित (पूर्व नियतिवाद) कार्य में विश्वास की बात करता है। कुरान में पूर्व-नियतिवाद में आस्था अवश्य व्यक्त की गई है, परन्तु स्थान-स्थान पर मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की भी चर्चा मिलती है। उदाहरण के लिए कहा गया है कि 'जो मार्ग पर चलता है, वह अपने ही कल्याण के लिए चलता है और जो पथ-भ्रष्ट हुआ, वह अपने ही अकल्याण के लिए पथ-भ्रष्ट हुआ। कोई बोझ ढोने वाला दूसरे का बोझ नहीं ढोता।' (17-15) इससे यही सिद्ध होता है कि स्वतन्त्र इच्छा तथा मानव उत्तरदायित्व का इस्लाम में पूर्णतया विरोध नहीं किया गया है।

(8) **इस्लाम धर्म नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और मानववादी शिक्षा देता है**—इस्लाम धर्म की विशेषता यह है कि यह केवल धर्म के सैद्धान्तिक पहलू पर ही

जोर नहीं देता वरन् इसमें मनुष्य जीवन के लिए सामाजिक तथा नैतिक नियमों को भी निर्धारित किया गया है। इस्लाम समग्रता का धर्म है। इसमें परम शुद्धता, बन्धुत्व तथा मानवता की शिक्षा दी गई है।

(9) **इस्लाम धर्म प्रार्थना (नमाज), उपवास (रोजा) तथा जकात की शिक्षा देता है**—इस्लाम में कुछ ऐसे धार्मिक कर्तव्य हैं जिन्हें करना अनिवार्य है। जिस प्रकार शरीर भोजन से पुष्ट होता है, उसी प्रकार आत्मा ईश्वर की प्रार्थना से पुष्ट होती है। मनुष्य प्रार्थना से शुद्ध होता है, आध्यात्मिकता आती है, ईश्वर तक पहुँचता है, हृदय की शुद्धि होती है। इस्लाम में प्रार्थना वह अभ्यास है जिससे आध्यात्मिक, बौद्धिक, भावात्मक, नैतिक, सामाजिक और शारीरिक शक्ति मिलती है। बुराइयों से बचने की प्रार्थना की जाती है तथा साथ ही ईश्वर का आश्रय माँगा जाता है। मार्ग दर्शन की याचना ईश्वर से की जाती है। विशेष रूप से शुक्रवार की प्रार्थना महत्व-पूर्ण है। कुरान की यह प्रार्थना महत्वपूर्ण है—'आकाशों तथा भूमि के स्रष्टा ! तू ही इहलोक एवं परलोक में मेरा संरक्षक मित्र है। मुझे शरणावस्था में मृत्यु दे और मुझे सन्तों में सम्मिलित कर'। (कुरान सार, 12-101)

प्रार्थना के अतिरिक्त रमजान के महीने में उपवास करना एक आध्यात्मिक व्यायाम कहा जा सकता है। सामाजिक दृष्टि से गरीबों और अनाथों की भावनाओं के साथ अन्तर्सम्बन्ध कायम करना है तथा मुसलमानों में एकता और समानता प्रदर्शित करना है। यह एक नैतिक व्यायाम इसलिये माना जा सकता है कि इससे मनुष्य की इच्छा (संकल्प) और आत्म-नियन्त्रण को बल मिलता है। यह शारीरिक व्यायाम भी है क्योंकि उपवास से भूख और प्यास को सहन करने की आदत बनती है। सबसे बड़ी बात उपवास से यह सिद्ध होती है कि व्यक्ति ईश्वर के अधिक निकट होता है। उसकी आज्ञा का पालन करता है। रमजान के महीने में कुरान का अवतरण हुआ था, इसलिए इस महीने में उपवास रखकर व्यक्ति ईश्वर के आदेश का पालन भी करता है, क्षमा भी माँगता है। (II-185)

अन्य धर्मों की तरह इस्लाम में भी दान (जकात) के लिए कहा गया है। जकात करना प्रार्थना (नमाज) के समान ही आवश्यक है। कुरान में कहा गया है कि अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को दान में देना चाहिए 'तुम नेकी को कदापि न कर सकोगे, जब तक कि तुम अपनी प्यारी चीज को ईश्वर के मार्ग में दान न करो।' (3-92) गरीबों, असहायों और अनाथों को दान देना इस्लाम धर्म की विशेषता है। अपनी आय का ढाई से पाँच प्रतिशत तक जकात का आदेश दिया गया है।

(10) **हज (तीर्थ) और जेहाद (धर्म-युद्ध)**—पवित्र काबा (अरब का प्राचीन मन्दिर) मक्का में स्थित है। इसका जीवन में एक बार दर्शन करना मुसलमान के लिए आवश्यक है। विश्व के सभी देशों से मुसलमान यहाँ एकत्रित होते हैं। यह

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मिलन है। इसका आधार आध्यात्म और पूजा है। जीवन के अन्तिम वर्षों में व्यक्ति पूर्णतया अपना समर्पण ईश्वर को करता है। हज करने पर हाजी किसी अनैतिक कार्य से, लोभ और अन्याय से बचता है।

जेहाद का अर्थ 'धर्म युद्ध' माना जा सकता है। ईश्वर के मार्ग में प्रत्येक मुसलमान अपनी सम्पत्ति और जीवन का बलिदान कर सकता है। साराँश यह है कि अविश्वासियों के द्वारा यदि धर्म संकट उत्पन्न किया जाता है, तो रक्षा के लिए धर्म-युद्ध स्वीकार किया जा सकता है। धर्म की रक्षा, स्वतन्त्रता तथा महत्ता के लिए जेहाद आवश्यक है।

इस्लाम धर्म में ईश्वर-विचार

एकेश्वरवाद—इस्लाम धर्म में ईश्वर को (अल्लाह) कहा जाता है। अल्लाह को छोड़कर किसी देवता की सत्ता इस्लाम में नहीं मानी जाती। यही इस्लाम का एकेश्वरवाद है। कुरान में बार-बार यह दुहराया गया है कि 'अल्लाह के सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और मुहम्मद साहब उसके पैगम्बर हैं।' (ला इला ह इलल्ला आदि) अल्लाह एक और केवल एक है, दूसरा कोई नहीं। वह पूर्ण है। यदि ईश्वर एक के अतिरिक्त दो होगा तो उसकी पूर्णता खंडित हो जाएगी क्योंकि एक दूसरे को सीमित कर देगा। इसी अर्थ में एक ईश्वर और उसकी पूर्णता की सिद्धि होती है। अतः इस्लाम का ईश्वर-विचार एकेश्वरवाद को सिद्ध करता है। कुरान के इन पदों से एकेश्वरवाद की पुष्टि होती है—"कह : ईश्वर एक है, ईश्वर निरपेक्ष है। वह न जनिता है, न जन्य, और न कोई उसके समान है। (112-1-4), इस्लाम ने ईश्वर की एकमात्र सत्ता की सिद्धि के लिए ईसाई धर्म की त्रिमूर्ति (Trinity) की धारणा को भी अस्वीकार कर दिया है। 'निस्सन्देह, ईशू ख्रीष्ट मरियम का बेटा परमात्मा का प्रेषित है और उसका शब्द है, जिसे उसने मरियम की ओर भेजा और परमात्मा की ओर से संचरित प्राण है। सो परमात्मा और उसके प्रेषितों पर श्रद्धा रखो और न कहो कि 'तीन' हैं। इससे परावृत्त हो जाओ। तुम्हारे लिए ठीक होगा। निस्संदेह परमात्मा ही एकमेव भजनीय है। वह पवित्र है, इससे परे है कि उसको पुत्र हो।" (4-171)

कुरान में कहा गया है कि ईश्वर ही एकमात्र प्रत्येक वस्तु की रचना करता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस्लाम में अनेकेश्वरवाद को स्थान नहीं दिया गया है। एक तरह इस्लाम अनेकेश्वरवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप एकेश्वरवाद की स्थापना करता है। मुहम्मद साहब के पहले अरब में अनेक देवताओं की पूजा का प्रचलन था। मूर्ति पूजा का प्रचार था। यहूदी धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप प्रबल रूप से इस्लाम में एकेश्वरवाद को मान्यता दी गयी है। पहले सूर्य और चन्द्रमा की पूजा प्रचलित थी परन्तु कुरान में स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि—"प्रणियात न करो सूर्य

को और न चन्द्र को, अपितु प्रणिपात करो परमात्मा को, जिसने उन्हें उत्पन्न किया, यदि तुम परमात्मा की ही भक्ति करते हो।' (41-37) अर्थात् सूर्य, चन्द्रा आदि शक्तियाँ एक ही शक्ति (ईश्वर) का समर्थन करती हैं। इस्लाम में अनेक देवता (अनेकेश्वरवाद) का खंडन किया गया है और कहा गया है कि 'परमात्मा ने किसी को पुत्र नहीं ठहराया और न उसके साथ कोई अन्य भजनीय हैं।' देवता कोई रचना नहीं कर सकते। उनकी इतनी भी शक्ति नहीं है कि वे मक्खी भी उड़ा सकें। कहा गया कि 'परमात्मा के अतिरिक्त तुम जिन्हें पुकारते हो, वे कदापि एक मक्खी भी नहीं बना सकेंगे, यद्यपि उसके लिए सब इकट्ठा हो जायँ, और यदि मक्खी उनसे कुछ छीन ले जाय तो वे उसको उससे छुड़ा नहीं सकते।' (22-73)

ईश्वर का स्वरूप और गुण—(1) **कुरान में ईश्वर परम और अनिवार्य सत्ता के रूप में वर्णित है**—ईश्वर की सत्ता अनिवार्य है। वह सार-रूप है। वह स्वयम् है। उसकी सत्ता अपने से है। ईश्वर किसी के द्वारा अस्तित्व में नहीं लाया गया है। ईश्वर वह सत्ता है, जिसने ब्रह्माण्ड को अस्तित्व प्रदान किया है। ईश्वर को अस्तित्व में लाने वाला कोई दूसरा नहीं क्योंकि यदि ईश्वर को कोई दूसरी सत्ता अस्तित्व में ले आती तो उसे भी कोई दूसरी सत्ता अस्तित्व में ले खाती और फिर तीसरी सत्ता भी होती जो दूसरी को अस्तित्व में आती। इस प्रकार अनवस्ता दोष उत्पन्न होगा। अतः ईश्वर परम सत्ता, सार तत्व है। वह अपने से हैं। वह महान रचनाकार है। उसका अस्तित्व अनिवार्य है। सारा विश्व उसके अधिकार में है। (7-103)

(2) **ईश्वर (अल्लाह) सनातन है**—अर्थात् ईश्वर सदैव से अस्तित्ववान है। वह सृष्टि के पहले से है और सृष्टि के विनाश के पश्चात् भी अस्तित्ववान रहेगा। वह प्रथम और अन्तिम है, वह प्रत्यक्ष और अन्तर्यामी है। वह प्रत्येक वस्तु का ज्ञाता है। (57-3)

(3) **ईश्वर अनन्त है**—अल्लाह किसी समय और स्थान से आबद्ध नहीं है। वह चतुर्दिक है। वह किसी विशेष स्थान में नहीं है और कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ वह न हो। मनुष्य जहाँ भी है, ईश्वर उसके साथ है।

(4) **सर्वज्ञता**—ईश्वर सर्वज्ञाता है। गूढ़ से गूढ़ रहस्य को वह जानता है। उससे कुछ भी छिपा नहीं है। वह अन्तःकरण के रहस्यों को जानता है। कुरान में कहा गया है कि 'भूमि पर चलने वाला कोई ऐसा नहीं, जिसकी जीविका ईश्वर के अधीन न हो। वह जानता है उसके निवास का स्थान और उसके विश्राम का स्थान। वह सर्व कर्म साक्षी है।' निस्सन्देह है ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वविद है।' 'वह अव्यक्त व्यक्त का ज्ञाता; सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च है। ईश्वर मनुष्य के भीतर उत्पन्न होने वाले विचारों को जानता है। 'उसे दृष्टि नहीं पाती पर वह दृष्टि को पा लेता है। वह सूक्ष्मदर्शी, सावधान है। (6-103, 50-16, 13=8-10)

(5) **दयालुता और क्षमाशीलता**—इस्लाम में ईश्वर को दयावान, क्षमाशील, न्यायी और पालन कर्त्ता बताया गया है। ईश्वर शक्तिशाली है। 'वह क्षमावान, प्रेम मर्य है।' जो चाहता है, सो करता है। ईश्वर मनुष्य का भार हल्का करने वाला है। अज्ञान से बुराई करने पर यदि पश्चाताप किया जाय तथा अपने सुधार का यदि प्रयास करे तो ईश्वर क्षमा करता है, क्योंकि वह करुणावान है। (6-54) ईश्वर एक ओर जहाँ दयालु है वहीं दूसरी ओर कठोर दण्ड भी देने वाला है। यह कठोरता उसकी न्याय प्रियता सिद्ध करती है। कहा गया है कि 'निस्सन्देह प्रभु लोगों को उनके अत्याचारों के होते हुए क्षमा करने वाला है और यह भी निश्चित है कि प्रभु कठोर दण्ड देने वाला है।' परन्तु क्षमा की सीमा यह है कि दुष्कर्म अज्ञान में हो जाय और शीघ्र ही पश्चाताप भी किया जाय, तभी ईश्वर क्षमा करता है। जान-बूझ कर दुष्कर्म करने वाले को दण्ड मिलना अनिवार्य है। श्रद्धाहीन के लिए क्षमा नहीं है। (13-6, 4-17-18)

(6) **सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता, संहारकर्त्ता**—सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाला ईश्वर है। कुरान में बार-बार ईश्वर को नियन्ता बताया गया है। ईश्वर महान सर्जक है। उसने व्यवस्थित विश्व की सर्जना की है। उसने आकाश, पृथ्वी, वृक्षों, नदियों, समुद्री, पहाड़ों, देव दूतों आदि का सृजन किया है। जीवन और मृत्यु का, रात और दिन का, मेघ और पानी का निर्माण किया है। ईश्वर ही सर्व-कर्म-समर्थ है। 'भला किसने निर्माण किया आकाशों को और भूमि को और तुम्हारे लिए पानी उतारा, क्या ईश्वर के अतिरिक्त कोई और नियन्ता है? किसने भूमि को स्थल बनाया और उसके बीच में नदियाँ बनाई और उसके लिए पर्वत बनाये और दो समुद्रों के बीच सीमा-रेखा रखी। क्या ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य नियन्ता है? भला कौन सुनता है आर्त की जब वह उसे पुकारता है तथा संकट दूर कर देता है और तुम्हें भूमि पर विश्वस्त बनाता है? क्या ईश्वर के साथ कोई अन्य नियन्ता है? कौन भेजता है वायु को अपनी कृपा के आगे, मंगलवाहक बनाकर, क्या कोई नियन्ता है ईश्वर के अतिरिक्त?' ईश्वर विकास-कर्त्ता भी है। 'वह जीवित को मृत से निकालता है। वह मृत को जीवित से निकालने वाला है। यह है ईश्वर 'वह उषा की किरणों को प्रस्फुटित करता है। उसी ने रात बनाय है विश्राम के लिए और सूर्य-चन्द्र गणित के लिए।' (6=95-99)

ईश्वर, पालनकर्त्ता है। वह सब को जीविका देता है। 'भला कौन पहली बार पैदा करता है फिर दोबारा करेगा, और कौन उन्हें आकाश से और भूमि में जीविका देता है? क्या है कोई और नियन्ता ईश्वर के अतिरिक्त?

अन्त में पुरुत्थान के दिन सारी भूमि उसकी एक मुट्ठी में होगी। आकाश उसके दाहिने हाथ में लिपटा होगा। वह पवित्र, निराला एवं सर्वोच्च है।'(39|67)

(7) **ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञाता एवं सर्वव्यापक है**—ईश्वर असीमित सत्ता है। इस्लाम का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। उसमें इच्छा निहित है। वह शाश्वत, अनादि तथा अनन्त है। वह सर्वशक्तिमान है। मनुष्य उसका दास है। ईश्वर स्वामी है। अन्य सम्बन्धों जैसे पुत्र, भाई, माता, पिता से परे हैं। उसकी सर्वशक्तिमत्ता इससे सिद्ध होती है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाला है। वह अद्वय है। उसके समान कोई नहीं है। उसके हाथों में प्रत्येक वस्तु की अधिसत्ता है। वह सर्वज्ञाता है, क्योंकि वह जानता है, कि पृथ्वी और स्वर्ग में क्या है। मनुष्य के मन में और मन के बाहर की प्रत्येक बात को जानता है। (57|2)। ईश्वर सर्वव्यापी है। ईश्वर की अधिसत्ता है आकाशों में और भूमि में। जो चाहता है सो उत्पन्न करता है। (42=49-50) वह इच्छा-समर्थ है—ईश्वरीय इच्छा सार्वभौम है। 'वैभव निश्चय ही ईश्वर के हाथ में है, जिसे चाहे दे। ईश्वर सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है। (3|73)।

सारांश में कुरान में (59=20-24) ईश्वर के गुण और स्वरूप को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'वही ईश्वर है, जिसके अतिरिक्त कोई नियन्सा नही। अव्यक्त व्यक्त का ज्ञाता, वह बहुत कृपालु और अतीव करुणावान है। वह सर्वसत्ताधीश है। पवित्रतम है। शरण्य, शान्तिदाता, संरक्षक, सर्वजित, बलवान एवं महत्तम है। ईश्वर पवित्र है, निराला है। वही ईश्वर है, कर्ता, भर्ता, स्वरूप दाता, सारे सुन्दर नाथ उसी के लिए है। (कुरान सार-विनोवा पृ० 104) अन्त में ईश्वर सत्य है। अन्य वस्तुएँ अनित्य है। (31=30)

मानव की महत्ता और पापविहीनता

इस्लाम में मानव को मूल्य प्रदान किया गया है। ईश्वर की रचना में मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि ईश्वर ने स्वयं कहा है कि 'हे इब्लिस (मनुष्य को) मैंने दोनों हाथों से बनाया है। (38=75) पुनः कहा गया है कि 'मनुष्य को खून के कतरों से बनाया है' (96=1) सुन्दर सृष्टि में मनुष्य सर्वोच्च माना गया है। ईश्वर का कहना है कि 'वस्तुतः हमने मनुष्य को सर्वोच्च बनाया।' फिर भी मनुष्य तीन श्रेणी के हैं—हीन, माध्यम, उत्तम। 'कुछ लोग ऐसे हैं जो स्वयं पर अत्याचार करने वाले हैं और कुछ उनमें से मध्यम गति वाले हैं और कुछ उनमें ईश्वर की सत्कृतियों में सबसे आगे बढ़ जाने वाले हैं।' (95=4-5) प्रश्न है, मनुष्य के जन्म का कारण क्या है? इसके विषय में कहा गया है कि मनुष्य-जन्म का हेतु आध्यात्मिक है। ईश्वर ने मनुष्य को अपनी भक्ति के लिये उत्पन्न किया है। स्पष्टतः कहा गया है कि—'मैंने जिन' और मनुष्यों को इसलिये उत्पन्न किया है कि वे मेरी भक्ति करें।' मैं उनसे कोई जीविका नहीं चाहता हूँ कि वे मुझे खिलाएँ' 'ईश्वर ही सबको जीविका देने वाला, बलशाली एवं सर्वशक्तिमान है' (51=56-58) इन कथनों से यही प्रतीत होता है कि इस्लाम में मनुष्य का अपना अलग अस्तित्व है, परन्तु मानव

ईश्वर की रचना है। ईश्वर से महान् और उसके तुल्य मनुष्य नहीं माना जा सकता। मनुष्य ईश्वर का दास है, ईश्वर स्वामी है। ईश्वर की भक्ति के लिए ही मनुष्य का अवतरण हुआ है। अतः ईश्वर के समक्ष मनुष्य का महत्व कुछ नहीं है। मनुष्य स्वयं ईश्वर को समर्पित करके उसका अनुग्रह स्वीकार करे। ईश्वर के प्रति उसके कर्तव्य हैं, उनका पालन करना ही उसके लिए आवश्यक है। उसका कोई अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि ईश्वर से प्रार्थना (नमाज) करते समय मनुष्य केवल उसकी कृपा की आकांक्षा कर सकता है। उसके निर्देश और उसकी कृपा की बड़ाई कर सकता है, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए किसी वस्तु की याचना नहीं कर सकता।

जहाँ तक मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा का सम्बन्ध है, इस्लाम में दोनों बातें कही गयी हैं। कहीं तो मनुष्य को अपनी इच्छा से किए गए कर्यों के प्रति उतरदायी माना गया है और कहीं यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कियाएँ तथा उसका भाग्य ईश्वर द्वारा पहले से ही निर्धारित कर दिया गया है। कुरान का यह पद मनुष्य के उत्तरदायित्व तथा ईश्वर-तन्यता दोनों की पुष्टि करता है—'तेरा जो कल्याण होता है, वह ईश्वर की ओर से होता है और जो कष्ट तुझे पहुँचता है, वह तेरी वासना की ओर से पहुँचता है' (4 = 79) मनुष्य अपनी वासनाओं या लालच के कारण अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रख पाता इसलिए अशुभ की ओर प्रेरित हो जाता है और उसका फल पाने के लिए उत्तरदायी कहा जा सकता है। परन्तु मनुष्य पर कृपा या शुभ की प्राप्ति तो ईश्वर से ही होती है। कुछ विचारक इसी-लिए इस्लाम में मनुष्य की एच्छा को न तो पूर्णतया स्वतन्त्र ही मानते हैं और न ही पूर्णतया नियत ही मानते हैं। मु० जगाली ने तर्क देते हुए पूर्ण नियतिवाद तथा पूर्णस्वतन्त्रता का खंडन करते हुए मत प्रस्तुत किया है कि 'सच्चा मुसलमान ईश्वर के पूर्ण न्याय में विश्वास करता है। ईश्वर सर्वज्ञाता है और न्याय के दिन सच्चा न्याय करता है, इसमें भी विश्वास करता है। इनका दूसरा तर्क है कि ईश्वर ने मनुष्य सहित इस विश्व की रचना नियमों के अनुसार की है। इन नियमों में विकास का नियम भी समाहित है तथा उसने मनुष्य को ध्यानपूर्वक देखने की योग्यता प्रदान की है, जिससे मनुष्य उन नियमों की खोज करे और उनसे परिचित हो। तीसरा तर्क है कि ईश्वर ने मनुष्य के पास सन्देशवाहक, पैगम्बर, नेता तथा बुद्धिमानों को भेजा जो उसे इन नियमों को समझने में सहायता करें, जिससे कि वह (मनुष्य) इन नियमों को शुभ के कार्यों के लिए काम में लाए और इन नियमों से मनुष्य तथा ईश्वर यहाँ तक कि सम्पूर्ण मानव जाति के मध्य सम्बन्धों को नियमित करे। ईश्वर द्वारा भेजे गए लोगों ने मनुष्य की सहायता शुभ और अशुभ के बीच भेद करने में भी की है। कुरान में कहा गया है कि 'निश्चित रूप से हमने उसे (मनुष्य) मार्ग दिखा दिया है, वह कृतज्ञ हो या कृतघ्न (76 = 3) पवित्र कुरान में पुनः कहा गया है कि 'क्या हमने उसे (मनुष्य को) दो आँखें, जिह्वा, दो ओठ नहीं दिया है और दो प्रमुख मार्गों के लिए संकेत नहीं किया है? (8 = 10)

मु० जमाली का यह भी तर्क है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता समानुपातिक रूप में उसके ज्ञान तथा विश्व में दैवी नियम की अनुरूपता से बढ़ जाती है। इतना ही नहीं पैगम्बर द्वारा दिए गए निर्देश के कारण भी आनुपातिक रूप में मनुष्य की स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है। मनुष्य के उत्तरदायित्व का माप ईश्वर द्वारा उसे (मनुष्य) दी हुयी बुद्धि तथा समझ की मात्रा के आधार पर किया जा सकता है। साथ ही इस आधार पर भी किया जा सकता है कि वह उस बुद्धि का उपयोग किस संभावना तक कर सकता है। लेखक का यह भी कहना है कि 'स्वतन्त्रता' और 'उत्तरदायित्व' एक दूसरे के साथ बन्धे हुए हैं। मानव मास्तिष्क के विकास के साथ ही साथ स्वतन्त्रता का भी विकास होता है और स्वतन्त्रता के विकास के साथ उत्तरदायित्व का भी विकास होता है। यहाँ तक कि स्वतन्त्रता के साथ उत्तर-दायित्व बढ़ता जाता है। मनुष्य उस स्वतन्त्रता का चाहे तो सदुपयोग कर सकता है या दुरुपयोग और उनमें उपयोग के साथ ही मनुष्य इहलोक या परलोक में या दोनों में, ईश्वर के समक्ष जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। इसीलिए कहा गया है कि जो एक कण भी शुभ या अशुभ कार्य करेगा उसके परिणाम को प्राप्त करेगा। (7=8)। मनुष्य ने भौतिक प्रगति तो अवश्य कर ली है परन्तु उसे अभी आत्मा सम्बन्धी अथवा दैवी निर्देशन सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति करनी है। ईश्वर का निर्देश सही दिशा में हो रहा है, इसे पहचानने की शक्ति उसे प्रांप्त करनी है। ईश्वर सम्पूर्ण शुभत्व, प्रेम तथा दया का स्रोत है। आवश्यकता है ईश्वर द्वारा दी गयी बुद्धि तथा समझ से उसके निर्देश को पहचानना, समझना और उसके अनुसार कार्य करना, जिससे शुभ की प्राप्ति हो' अब यह मनुष्य का उत्तर दायित्व है कि वह क्या करे और क्या न करे।[1]

अब यहीं से पाप तथा पुण्य के प्रश्न का प्रारम्भ होता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उसके उत्तरदायित्व का भार बढ़ जाता है। इस्लाम में पाप की धारणा को वंशानुक्रम के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। इसमें तो पाप को नैतिक अपराध माना गया है। इस्लाम में 'पाप' कुरान, ईश्वर, तथा पैगम्बर साहब में तथा उनके वचनों में अविश्वास करने से होता है। इसी 'पाप' से अहंकार उत्पन्न होता है और ईश्वर से विरोध भी होता है। ईश्वर से विरोध का ही अर्थ निरश्विर-वादी होना, बहुदेववादी होना अथवा अधार्मिक होना है। इसीलिए कुरान में बार-बार यह दुहराया गया है कि 'ईश्वर में पवित्र ग्रन्थ में विश्वास करो।' 'यह वह ग्रन्थ है, जिसमें कोई सन्देह नहीं। कल्याण मार्गियों का मार्गदर्शक है।' जो लोग इन वचनों को सुनते हैं और उनमें से सर्वोत्तम पर चलते हैं, उन्हीं को परमात्मा ने मार्ग दिखाया है और वे ही लोग बुद्धिमान हैं।' (3=7, 39=18)

---

1. लेटर्स ऑन इस्लाम पृ० 94-95

इस्लाम में छोटे-बड़े अन्य पापों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए निरीश्वरवाद का समर्थन, कुरान में अविश्वास, बहुदेववाद का समर्थन, हत्या, चोरी, व्यभिचार, प्रार्थना और उपवास न करना आदि तो बड़े पाप माने जाते हैं तथा कुछ अन्य कार्य जैसे झूठी गवाही देना, जूआ, शराब, ब्याज लेना, छल करना, माता-पिता की आज्ञा न मानना आदि भी बड़े पाप कहे जाते हैं। दैनिक जीवन की नैतिकता सम्बन्धी बातें जिनका पालन करना आवश्यक है, यदि जान-बूझ कर उनकी अवहेलना की जाती है तो वह भी बड़े पाप माने जाते हैं। पाप की मात्रा का निर्णय कि कौन पाप अधिक है और कौन कम, व्यक्ति के दृष्टिकोण, ज्ञान तथा अज्ञान पर निर्भर है। यदि छोटा भी अनैतिक कार्य जान-बूझ कर किया जाता है तो वह बड़ा पाप माना जाता है। यदि अज्ञान या गलती और असावधानी से कोई गलत कार्य हो जाता है तो वह क्षमा के योग्य होता है।

पाप विहीनता या पाप विमोचन—अब प्रश्न है कि पाप से मुक्ति कैसे मिले या पाप विमोचन किस प्रकार हो? यह प्रश्न मानव की परमागति से जुड़ा हुआ है। यदि पाप से छुटकारा नहीं मिला तो नरक की स्थिति प्राप्त होगी तो क्या यह जीवन की सार्थकता मानी जा सकती है। यह प्रश्न सभी धर्मों से जुड़ा हुआ है। मानव की नियति इसी उहा पोह में उलझी हुयी है। इस्लाम में इस प्रश्न पर पवित्र कुरान की यह घोषणा है कि यदि गलती से अनजान में कोई पाप हो जाता है तो पश्चात्ताप करते हुए ईश्वर से क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करने पर पाप मुक्ति मिल सकती है। पाप से मुक्ति के लिए इस्लाम में कुछ ऐसे भी उपाय बताये गये हैं जिनके करने से व्यक्ति की शुद्धि हो सकती है। ये उपाय धार्मिक कर्मकाण्ड हैं, जैसे जकात की क्रिया, प्रार्थना के समय शुद्ध तथा तीर्थ (हज्ज) करना। सर्वोपरि धर्म-परायण होना पाप से मुक्ति का सर्वोत्तम साधन माना गया है। पवित्र कुरान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'आगे से वह बचाया जायगा जो बहुत धर्म-परायण है, जो अपना धन ईश्वर के मार्ग में देता है, जिससे कि वह विशुद्ध हो जाय।' (92-1-21) इस्लाम धर्म में ईश्वर ही सब कुछ माना गया है। उसे धार्मिक कर्मों को करके प्रसन्न किया जा सकता है और ईश्वर के प्रसन्न होने पर सारे पाप नष्ट हो सकते हैं। पाप नष्ट हो जाने के बाद मनुष्य का जीवन मृत्यु के पश्चात् कैसा होगा, इस्लाम में इस पर भी बहुत कुछ बताया गया है।

मृत्यु के परे का जीवन

अन्य धर्मों की तरह इस्लाम में भी मृत्यु के पश्चात् के जीवन के बारे में धारणा मिलती है। इस्लाम का विश्वास है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन पहला और अन्तिम है। मनुष्य का जीवन मृत्यु के पश्चात् समाप्त नहीं हो जाता। कहा जाता है कि वर्तमान जीवन के समाप्त होने पर मनुष्य का शरीर कब्र में डाल दिया जाता है और वह तब तक वहीं रहता है जब तक 'कयामत' (प्रलय) नहीं आ जाता। कब्र में

पड़े रहने से लेकर कयामत के दिन के समय को 'बर्जख' कहते हैं। बर्जख के समय सूक्ष्म रूप में आत्मा जीवित रहती है और मन की वृत्तियों के अनुसार बिना शरीर के काम करती रहती है। वह कयामत के दिन कब्र से निकल कर ईश्वर के समक्ष उपस्थित होती है। कुरान में कयामत के दिन की स्थिति का वर्णन मिलता है। कयामत के दिन तुरही की आवाज होगी। यह दिन न्याय का दिन भी कहा जाता है। इस दिन सभी मृत व्यक्ति अपनी-अपनी कब्र से उठेंगे और उनकी आत्माएँ पुनः शरीर में प्रविष्ट होंगी तथा देवदूत उनको ईश्वर के समक्ष प्रस्तुत करेंगे और वहाँ उनके संसार के किये गये कर्मों की छान-बीन की जायगी। जिनके शुभ कर्म होंगे उन्हें ईश्वर अपने साथ स्वर्ग में स्थान देगा और जिनके अशुभ कर्म होंगे उन्हें नरक में स्थान दिया जायगा। स्वर्ग और नरक की प्राप्ति मनुष्य के शुभ और अशुभ कर्मों की तुलना से ही होगी। जिनके कार्य शुभ की अपेक्षा अशुभ अधिक होंगे उन्हें निश्चित रूप से नरक में डाला जायगा। शुभ-अशुभ कर्मों को तौलने का कार्य 'जिब्राइल' करेंगे।

कुरान में स्वर्ग और नरक की स्थिति का वृहत रूप में चित्रण किया गया है। स्वर्ग का मनोहारी चित्रण करते हुए कहा गया है कि स्वर्ग सातवें आसमान पर स्थित है। वहाँ सुन्दर उपवन है, वहाँ जल-प्रपात तथा दूध और मधु की नदियाँ बहती हैं। (47=15) स्वर्ण के धड़ वाले वृक्ष हैं जिनमें स्वादपूर्ण फल हैं। बड़ी-बड़ी और काली आँखों वाली युवतियाँ हैं। सेवा के लिए 'गिलमा' सुन्दर लड़के हैं।

इसी तरह कुरान में नरक की भयानक स्थिति का भी वर्णन है। नरक ऐसा स्थान है जो अत्यन्त भयानक और पीड़ादायक है। वहाँ दहकनी आग, गरम हवा की लपटें, धुआँ, खौलता हुआ पानी, काँटे बिछे हुए हैं। बेड़ियाँ, तौक और दहकती आग तैयार रखी हैं। (76=4)

ईश्वर द्वारा निर्णय हो जाने पर मनुष्य अपने कर्मों के पाप-पुण्य के आधार पर या तो नरक में जाता है या स्वर्ग में। मनुष्य जाते समय 'अल-सिरात' पुल से पार करता है। जो नरक में जाते हैं उनके लिए पुल तलवार की धार के समान हो जाता है, जिससे कि न चल पाने के कारण वह नरक में जा गिरता है। परन्तु जो मनुष्य स्वर्ग का भागी होता है उसके लिए पुल चौड़ा हो जाता है, जिससे कि वह सीधा स्वर्ग में पहुँच जाय।

इस प्रकार इस्लाम में मनुष्य के कर्मों के आधार पर स्वर्ग-नरक का स्थान निर्धारित किया गया है। इस्लाम का ईश्वर एक ओर निरंकुश प्रतीत होता है, परन्तु दूसरी ओर निष्पक्ष न्यायी बताया गया है। मनुष्य को मृत्यु के बाद का जीवन यह सिद्ध करता है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार या तो स्वर्ग में सुख तथा शान्ति की

प्राप्ति करेगा या तो वह यातना के कुण्ड में डाल दिया जायगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मनुष्य धर्म का पालन भय के कारण करता है, जबकि धर्म की स्थिति भय और स्वार्थ से परे की होनी चाहिए। धर्म मनुष्य के विवेक से सम्पन्न होना चाहिए। स्वर्ग-नरक की धारणा को यदि विकास की अवस्था मान ली जाय तो यह तर्क संगत होगी, क्योंकि मनुष्य के विकास की एक अवस्था स्वर्गिक कही जा सकती है, जो विकास की चरम सीमा मानी जा सकती है और नरक की स्थिति अविकसित अवस्था है, जिसे पार करके मनुष्य अपनी परमागति की प्राप्ति कर सकता है।

मानव की परमागति (Human Destiny)

इस्लाम धर्म के स्वर्ग-नरक की स्थिति को देखने से पता चलता है कि सृष्टि और मानव की परमागति स्वर्ग की प्राप्ति है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य यही है कि पुनरुत्थान के पश्चात् न्याय दिवस पर वह अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक की स्थिति को प्राप्त करे। यदि उसने ईश्वर की आज्ञा का पालन नहीं किया है, उचित कर्म-काण्ड का पालन नहीं किया है तो उसे नरक की प्राप्ति होगी, अन्यथा वह ईश्वर के साथ स्वर्ग का आनन्द लेगा। ईश्वर की सृष्टि-रचना का उद्देश्य ही यही है कि मनुष्य अपने श्रेष्ठ पद को प्राप्त करे। ईश्वर मनुष्य के प्रति दयावान है, इस लिए उसने सृष्टि-रचना की है। यदि मनुष्य ईश्वर की इच्छा की पूर्ति करेगा तो उसे परम गति की प्राप्ति होगी। इस्लाम धर्म में मानव की परमागति के सम्बन्ध में कुछ बातें महत्वपूर्ण हैं। प्रथम यह कि, मानव जीवन का प्रारम्भ किसी काल विशेष में होता है। उसके पूर्व और पश्चात् नहीं। ऐसा मान लेने पर यह मत अन्य धर्मों से विशेष रूप से जैन तथा हिन्दू धर्म से भिन्न हो जाता है, क्योंकि अन्य मतों में आत्मा को नित्य माना गया है। दूसरी बात यह कि, मानव का पुनर्जन्म नहीं होता, यह मत भी अन्य धर्मों से भिन्न है। कुरान में एक समय ऐसा बताया गया है जिसे 'बर्जख' कहा जाता है, जिसमें मनुष्य पुनरुत्थान तक रहता है। न्याय दिवस पर बर्जख से उसे पुनः जीवित किया जाता है, परन्तु उसे कौन-सा शरीर प्राप्त होता है, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। जो भी हो यह उस तरह का पुनर्जन्म नहीं कहा जा सकता जैसा कि अन्य धर्मों में स्वीकार किया गया है। तीसरी बात भी महत्वपूर्ण है, जिससे यह पता चलता है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार जब स्वर्ग की प्राप्ति कर लेता है तो वह स्वर्ग का भोग तो करेगा, ईश्वर का दर्शन भी करेगा, परन्तु ईश्वर में न तो विलीन होगा और न ही ईसाई धर्म की तरह ईश्वर के बराबर बैठाया जायगा। इस्लाम धर्म में ईश्वर क्षमाशील, न्यायी, दयावान तो माना गया है परन्तु वह मनुष्य के बराबर नहीं है। मनुष्य ईश्वर की श्रेष्ठ रचना अवश्य है, परन्तु मनुष्य से नितान्त भिन्न और अलग है। ईश्वर पूर्ण है, मानव अपूर्ण है। मानव ईश्वर की रचना है, वह उसके समान नहीं हो सकता। चौथी बात यह भी स्पष्ट है

कि मनुष्य को अमरत्व पाने के लिए व्यक्तिगत प्रयास करना पड़ेगा। अमरत्व को स्वर्ग-प्राप्ति के साथ जोड़ा गया है। नरक की स्थिति यदि स्थायी हो जाती है तो मनुष्य को सुधार करने का अवसर फिर नहीं मिलता। जब पुनः जन्म नहीं होता तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि नरक स्थायी निवास नहीं है, केवल सुधार के लिए एक विधि है। इस्लाम में मानव की परमागति की स्थिति ऐसी द्वन्द्वात्मक है कि मनुष्य को प्रत्येक स्थिति में अच्छा होना ही है। इससे धर्म की अनिवार्यता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। यदि परमागति प्राप्त करनी है तो मनुष्य को धार्मिक होना ही है। उसे ईश्वर की आज्ञा का पालन करना ही है, धार्मिक कर्म-काण्ड को सम्पन्न करना है। ईश्वर का अनुग्रह मानना है, क्योंकि पुनः जीवन और कर्मों के सुधार का अवसर यहाँ नहीं है। किसी अर्थ में धार्मिकता का इससे बढ़कर कोई दूसरा अच्छा आधार नहीं माना जा सकता। इसीलिए इस्लाम में सामाजिक और नैतिक जीवन भी धर्म से कभी भी अलग नहीं किया जा सकता। इस्लाम के नैतिक कर्तव्य धार्मिक कर्तव्य ही हैं।

इस्लाम और नैतिक जीवन—मानव एकता

मु० जमाली ने इस मत को जड़ और तना माना है। पूजा तथा कर्म उस धर्म रूपी वृक्ष के भोजन और पानी के रूप में हैं। इसकी शाखाएँ और पत्तियाँ सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं और नैतिकता इसका फल है। बात सर्वांश रूप में सत्य प्रतीत होती है कि किसी धर्म का अन्तिम फल नैतिकता ही है। यदि मनुष्य धर्म का पालन करके नैतिक जीवन को सम्पन्न नहीं करता तो उसका धार्मिक जीवन ही नहीं सामाजिक जीवन भी निरर्थक सिद्ध हो जाता है। किसी भी धर्म में यदि नैतिकता की प्राप्ति नहीं होती, लोग यदि नैतिकता को महत्व नहीं देते तो वह धर्म मृत प्राय हो जाता है। इस्लाम धर्म में नैतिक जीवन धर्म से तनिक भी अलग नहीं है। इसी नैतिकता से इस्लाम मानव-एकता को उजागर करता है। इस्लाम निम्नलिखित रूपों में नैतिकता से सम्बन्धित विचारों को प्रकट करता है—

(1) **इस्लाम नैतिकता को प्रथम स्थान देता है**—इस्लाम नैतिक जीवन को (शुभ कार्यों को) प्रथम स्तर पर रखता है। कुरान इस सम्बन्ध में बार-बार याद दिलाता है—

'जिनको विश्वास है और जो शुभ कार्य करते हैं, उनको सुख और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। नैतिक जीवन का फल शुभ होता है।' (13=31)

'मनुष्य निश्चित रूप में नुकसान उठायेगा यदि शुभ नहीं करेगा और जो शुभ कार्य करेगा वह लाभ में रहेगा। जो ईश्वर का कहना मानेगा वह निश्चित रूप से उच्च चरित्र को प्राप्त करेगा।' इस्लाम सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के लिए चरित्र और नैतिक जीवन को महत्व देता है।

(2) **इस्लाम में नैतिकता का उद्देश्य**—इस्लाम का नैतिक जीवन जीने का उद्देश्य है और वह है व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को अधिक से अधिक सुख प्रदान करना। नैतिक जीवन से इस वर्तमान जीवन और भविष्य जीवन दोनों में लाभ, सुख तथा शान्ति मिलती है। कहा गया है कि 'जो इस संसार में शुभ करते हैं, वे शुभ ही पायेंगे। निश्चित रूप से उन्हें यहाँ के बाद भी अच्छा घर (स्वर्ग) मिलेगा।'

इस्लाम मानवता का सन्देश देता है। ईश्वर का आदेश शुभ का आदेश है, जो सारी मानवता के शुभ के लिए है। जो व्यक्ति इस्लाम के आदर्श के प्रकाश से निर्देशित होता है वही ईमानदार और शुभ है। वह इस जन्म तथा अगले जन्म में सुखी रहेगा। इस्लाम की नैतिकता का यही आदर्श है।

(3) **व्यक्ति का नैतिक विकास और उसका उत्तरदायित्व**—इस्लाम के अनुसार मनुष्य शुद्ध और सरल, भोला-भाला उत्पन्न होता है। उसे कुछ भी भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता। ईश्वर ही उसे देखने, सुनने तथा समझने की शक्ति देता है। माता के गर्भ से उत्पन्न करता है। (16=78)

मनुष्य ज्ञानेन्द्रिनों तथा मनस का उपयोग करके विकास करता है। यदि उसका मनस ईश्वर से निर्देशित होता है तो वह शुभ-अशुभ में भेद करना सीख लेता है। यदि ईश्वर से निर्देशित नहीं होता तो वह शुभ के मार्ग पर नहीं चलता। फिर तो उसके जीवन में हानि ही होती है। इस प्रकार ईश्वर का निर्देश तथा उसकी दया ही वह आधार है जिससे वह शुभ के पथ पर चल सकता है और नैतिक कार्य कर सकता है।

यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि ईश्वर ने मनुष्य को मनस दिया है तथा भले-बुरे में चुनाव करने का विवेक दिया है। यदि वह अपना मार्ग चुनकर सद्मार्ग से (नैतिकता का पालन करते हुए) चलता है तो बच जाता है और यदि असद् मार्ग से चलता है तो नष्ट हो जाता है। कुरान में कहा गया है कि 'क्या हमने तुम्हें दो आँखें, दो ओठ तथा जीभ नहीं दिया है?' यह मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह ईश्वर के आदेश का पालन करके कृतज्ञ हो सकता है या कृतघ्न। अतः इस प्रकार मनुष्य का नैतिक विकास अपने उत्तरदायित्व को समझ लेने तक हो जाता है फिर नैतिकता का पालन मनुष्य का धर्म और कर्त्तव्य दोनों हो जाता है। फिर मनुष्य यह भी समझने लगता है कि ईश्वर मनुष्य के प्रति न्याय करता है और मनुष्य अपने प्रति अन्याय करता है यदि ईश्वर की आज्ञा का पालन नहीं करता।

(4) **शुभ-अशुभ शक्तियों का द्वन्द्व मनुष्य की आत्मा में होता है**—इस्लाम में ईश्वर ने एक ओर तो मनुष्य को निर्देश दिया है, मनस और बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं और दूसरी ओर शैतान (या अशुभ) को प्रयुक्त किया है जो मनुष्य को लालच

में डालता है, अवज्ञा कराता है तथा पाप उत्पन्न करता है। परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को सचेत कर दिया है कि वह अशुभ से बचे। यह उसकी (मनुष्य) जिम्मेदारी है। ईश्वर की आज्ञा के अनुसार मनुष्य को अविश्वास, झगड़ा-लड़ाई, अज्ञान, निर्दयता तथा अन्य कमजोरियों से बचना चाहिए। बुराइयाँ मनुष्य को गलत मार्ग पर ले जाती हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है कि वह ईश्वर के आदेश का पालन करे, प्रार्थना करे या सद्मार्ग पर चले। परन्तु मनुष्य लोभ में ईश्वर के आदेश को भूल जाता है और अशुभ मार्ग पर चलने लगता है। इस प्रकार मनुष्य के भीतर शुभ तथा अशुभ की शक्तियों में द्वन्द्व चलता रहता है। ऐसी स्थिति में वही मनुष्य ईश्वर की कृपा पा सकता है जो ईश्वर में विश्वास करते हुए उनके आदेश का पालन (नैतिक कर्तव्य) करता है।

कुरान में कहा गया है कि 'शैतान उनमें (मनुष्य में) कलह के वीज डालता है, वास्तविकता यह है कि शैतान मनुष्य का स्पष्ट शत्रु है।' 'इस जगत में बखेड़ा न मचाओ, जबकि उसका (जगत्) सुधार हो चुका है, और उसी को पुकारो, भय एवं आशा के साथ। ईश्वर की करुणा सद्कर्म करने वालों के निकट है।' 'वाहरी और भीतरी पाप छोड़ दो। जो लोग पाप कमाते हैं, उन्हें उनकी उस करतूत का फल अवश्य दिया जायगा।' 'निःसन्देह सफल हुआ वह व्यक्ति, जिसने पवित्रता धारण की, प्रभु का नाम लिया, प्रार्थना की।'

नैतिक गुण तथा अनैतिक कार्य

वैसे तो सभी धर्मों में नैतिकता की ऐसी शिक्षाएँ मिलती हैं, जो कि सार्वभौमिक होती हैं और मानव जाति के लिए उपयोगी तथा आवश्यक सिद्ध होती हैं, परन्तु इस्लाम धर्म में मानव के लिए बन्धुत्व का पाठ पढ़ाने तथा मानव-एकता के लिए बहुत सारी बातें मिलती हैं। विश्व-बन्धुत्व की भावना इस्लाम में मिलती है। सत्यनिष्ठा, कृतज्ञता, न्याय आदि नैतिक गुण किसी एक जाति और देश के लोगों के लिए नहीं है। इस्लाम में कुछ ऐसे नैतिक गुण हैं जिनका पालन करना या जीवन में उन्हें उतारना आवश्यक माना गया है। सर्वप्रथम, इस्लाम धर्मनिष्ठा पर बल देता है। कुरान में कहा गया है कि—'तुममें से जो विश्वास करता है, ध्यानपूर्वक ईश्वर के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करो, उसके निकट पहुँचने का उपाय करो और उसके मार्ग के लिए इतना कठिन श्रम तथा उपाय करो कि तुम सफल हो जाओ।' (5=38) माता-पिता के प्रति कर्तव्य का पालन करना चाहिए। जो भी शुभ कार्य करोगे उसे ईश्वर जानता है। धैर्य से ईश्वरीय मार्ग पर चलते रहना चाहिए।'

विश्व-प्रेम—इस्लाम विश्व-प्रेम तथा मानव एकता पर बल देता है। कुरान में बार-बार कहा गया है कि उदारतापूर्वक जिस वस्तु से तुम प्रेम करते हो उसका दान करो, लोगों से प्रेम करो। सत्य प्रेम जो ईश्वर में विश्वास करते हैं, उनका

कर्तव्य है कि वे सत्य से लगाव और प्रेम रखें। अपने दायित्व का बोध होना भी आवश्यक है। मनुष्य को अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करनी चाहिए। इस्लाम में न्याय पर बल देते हुए कहा गया है कि न्याय कहना और करना मनुष्य का कर्तव्य है। न्याय के लिए सब को प्रेरित करना चाहिए। न्याय करना धर्म-निष्ठा है। दया और सहानुभूति अपने भाइयों और मनुष्य जाति के साथ करना परम कर्तव्य है। क्रोध पर विजय और क्षमा—कहा गया है कि जो परोपकार करते हैं, सीधे रास्ते पर चलते हैं, अपने क्रोध को वश में करते हैं तथा मनुष्यों को क्षमादान करते हैं, उन्हें ईश्वर का प्रेम मिलता है। ईश्वर शुभ करने वाले को जानता है। मानव जाति के लिए कुरान में सहयोग पर बल देते हुए कहा गया है कि 'तुम्हें एक दूसरे का सहयोग करना चाहिए। शुभ तथा धर्म-निष्ठा में सहयोग करो परन्तु पाप और आक्रमण (लड़ाई) में असहयोग करो।' कर्म करते रहना तथा कठिन श्रम और प्रयास सद्मार्ग के लिए आवश्यक बताया गया है। कहा गया है कि धर्म के मार्ग में अपने तन-धन से प्रयास करना चाहिए। कुरान में बन्धुत्व तथा एकता के विषय में कहा गया है कि जो ईश्वर में विश्वास करते हैं वह तुम्हारे भाई हैं। सब में एकता होनी चाहिए। नमाज के समय सामूहिक प्रार्थना में यह एकता देखी जा सकती है। धर्म के क्षेत्र में यह एकता मानव-जाति की एकता मानी जानी चाहिए। कुरान का यही अर्थ लगाना श्रेयस्कर है। नम्रता और सन्तोष जीवन के लिए महत्वपूर्ण बताया गया है। इन नैतिक गुणों के विषय में कुरान में कहा गया है कि 'ईश्वर का सेवक वह है जो जमीन पर नम्रतापूर्वक चले। यह संसार सर्वशक्तिमान ईश्वर की रचना है। वह सब को पर्याप्त साधन देता है। जीविका सबको मिलती है। सन्तोषपूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिए। अन्त में शुद्धता तथा ईश्वर पर भरोसा रखना आवश्यक है। ईश्वर हमारा रक्षक है। उसका भरोसा रखें और अपनी बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धता का ध्यान रखते हुए ईश्वर के मार्ग पर चलें।

इस्लाम धर्म में कुछ ऐसे दुर्गुणों तथा कार्यों को बताया गया है, जिनका विरोध करना और उनसे बचना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। जैसे बहुदेववाद में विश्वास न रखना और अन्याय न करना, क्योंकि अन्यायी का कोई साथी नहीं होता। अन्यायी को ईश्वर का साथ नहीं हो सकता। उसका कोई सहायक भी नहीं होता। अभिमान, उदण्डता तथा ढकोसला की इस्लाम धर्म में निन्दा की गयी है। ईश्वर के मार्ग में बनावटी, झूठी बातें, ढकोसलेबाजी, झूठा अभिमान तथा उदण्डता करना बुरा है। इन अवगुणों से व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों जीवन को हानि होती है। ईश्वर को न तो अभिमानी और न ही ढकोसला करने वाला प्रिय हो सकता है। सामाजिक बुराइयों में भ्रष्टाचार का प्रमुख स्थान है। व्यक्ति के भ्रष्ट आचरण से स्वयं उसकी हानि होती है और समाज भी बिगड़ जाता है। ईश्वर भ्रष्टाचारी को कभी स्वीकार नहीं करता। नियम का उल्लंघन करना, अत्याचार

करना, कत्ल करना आदि सभी पाप कर्म हैं। इन्हें करने वाला ईश्वर के मार्ग पर नहीं जा सकता। इसी प्रकार मिलावट करना, गबन करना, नाप-तौल में धोखा देना, झूठ बोलना और झूठी गवाही देना नैतिक जीवन के लिए और धर्म के लिए भी उचित नहीं है। इन कर्मों से स्वर्ग का राज्य कदापि नहीं मिल सकता। सन्देह करना व्यर्थ की बातों की जासूसी करना, चुगली करना या पीठ पीछे किसी की बुराई करना आदि निषिद्ध कर्म है। स्त्रियों के विषय में अमर्यादित भाषा का बोलना अशुभ माना गया है। किसी से ईर्ष्या करना उचित नहीं है। बातचीत करते समय किसी व्यक्ति के हृदय को कष्ट पहुँचाने वाली बात या डंक मारने जैसी बात न करें। फिजूल खर्च करने के विषय में कहा गया है कि 'निस्सन्देह फिजूल खर्च लोग शैतान के भाई हैं और शैतान अपने प्रभु का बड़ा कृतघ्न है। अधिक खर्च करने वाले तथा कंजूसी करने वाले, दोनों की निन्दा की गयी है। पवित्र कुरान में बताया गया है कि—'न तो तू अपना हाथ गले से बाँध रख (अर्थात् कंजूस बन) और न तो सर्वथा खुला फैला दे (अर्थात् अतिव्यय कर) कि तू निन्दित एवं कंगाल बन कर बैठा रह'। ऐसे ही जीव हत्या के विषय में कहा गया है कि 'उस जीव की हत्या न करो, जिसकी हत्या निषिद्ध की गयी है' सिवा न्याय के साथ, और जो अन्याय से मारा गया, तो उसके उत्तराधिकारी को अधिकार दिया है।

इस प्रकार इस्लाम के स्वीकारात्मक और निषेधात्मक नैतिक गुणों की गणना से यह सिद्ध होता है कि इसमें मानवता की रक्षा और मर्यादा के लिए पर्याप्त प्रयास किया गया है। 'दिनकर' ने अपनी कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' में ठीक ही लिखा है कि ''संसार के धर्मों में इस्लाम ही ऐसा धर्म है जिसका विषय केवल व्यक्ति नहीं सारा समाज है अथवा जो व्यक्ति के सभी आचारों का निर्धारण करता है। कुरान में केवल वैयक्तिक धर्म की ही बातें नहीं हैं, प्रत्युत, उसमें मनुष्य-मनुष्य के विविध सम्बन्ध राजनैतिक वर्ताव, न्याय, शासन, सेना-संगठन, विवाह, तलाक, शांति, युद्ध, कर्ज, सूदखोरी, दान आदि के सम्बन्ध में भी धार्मिक उपदेश हैं, जिनका पालन धार्मिक नियमों के समान ही आवश्यक माना जाता है।' (पृ० 285)

इस्लाम के धार्मिक कर्म

इस्लाम धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों की कोई विशेष विभाजक रेखा नहीं देखी जा सकती। धार्मिक कर्मकाण्ड भी व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है। इस्लाम के धार्मिक कर्मों की चर्चा पहले की जा चुकी है। जैसे—1. मत का उच्चारण करना, अल्लाह के सिवाय कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और मुहम्मद साहब उसके देवदूत हैं, 2. प्रतिदिन की प्रार्थना (नमाज अदा करना), 3. जकात देना—गरीबों को दान देना, 4. उपवास करना, 5. तीर्थ-यात्रा करना (हज करना) कुरान की सम्पूर्ण शिक्षाएँ और मत तथा नैतिक और धार्मिक कर्तव्य निम्नलिखित आयत में भली-भाँति दिग्दर्शित किये गए हैं—

'धार्मिकता यह नहीं है कि तुम अपना मुंह पूर्व की ओर करो या पश्चिम की ओर, अपितु धार्मिकता यह है कि कोई व्यक्ति श्रद्धा रखे ईश्वर पर, अन्तिम दिन पर (न्याय के दिन), देवदूतों पर और ईश्वरीय ग्रन्थों पर (कुरान) और प्रेषितों पर तथा ईश्वर के प्रेम से धन दे, सगे-सम्बन्धियों को, अनाथों को, वंचितों को, प्रवासियों को तथा याचकों को और किसी वन्दी की मुक्ति के लिए और नित्य नियमित प्रार्थना करे, नियत दान दे और वे जब अभिवचन दें, तो अभिवचन पूरा करें और तंगी, कठिन समय, संकट और आपत्ति में धीरज रखें। ये हैं सत्य प्रिय लोग और यही हैं ईश्वर-परायण। (कुरान सार 2-177)

इस्लाम के सम्प्रदाय

(1) **शिया और सुन्नी सम्प्रदाय**—मुहम्मद साहब के दामाद के पुत्र इमाम हुसेन के अनुगामी शिया के नाम से प्रचलित हैं। शिया का अर्थ है वह जो अल्ली सम्प्रदाय को मानने वाले हैं। इसके विपरीत जो खलीफा के अनुयायी होते हैं वह 'सुन्नी' कहलाते हैं। सुन्नी मत को मानने वाले संख्या में अधिक हैं। शिया और सुन्नी सम्प्रदायों में इस्लाम के मौलिक सिद्धान्त को लेकर कोई विशेष विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों ही मुहम्मद साहब, तथा उनके वचन पवित्र कुरान में आस्था रखते हैं। फिर भी इनमें विरोध होता रहा, जिसके फलस्वरूप शिया सम्प्रदाय के लोग सुन्नी सम्प्रदाय से अलग अपनी बैठकें करने लगे और उसमें चुपचाप भाग लेना शुरू किया। सुन्नी सम्प्रदाय के लोग परम्परावादी माने जाते हैं और इस्लाम जगत में उनकी संख्या अधिक है। अरब, अफ्रीका के देशों के मुसलमान तथा टर्की के लोग मुख्य रूप से सुन्नी सम्प्रदाय के हैं और परसिया, मेसोपोटामिया तथा पाकिस्तान के मुसलमान शिया सम्प्रदाय के माने जाते हैं। इनमें अनेक विषयों जैसे भाग्यवाद, खलीफा, आत्मा की स्वतन्त्रता आदि धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर आगे चलकर विरोध उत्पन्न हुआ। इसी बीच संत दार्शनिक तथा रहस्यवादी महापुरुष अल-गजाली का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी रहस्यवादात्मक अनुभूति के आधार पर सह बताया कि धर्म-विवाद का विषय नहीं होना चाहिए। यह तो अनुभूति का विषय है।

(2) **इस्माइलिया सम्प्रदाय**—शिया सम्प्रदाय का पुनः विभिन्न भागों में बँटवारा हो गया। उनमें से एक प्रमुख सम्प्रदाय इस्माइलिया के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस्माइली सातवें इमाम के अनुयायी हैं। इनका विश्वास है कि यह संसार बिना किसी इमाम के नहीं रहा। इनकी अपनी एक दार्शनिक दृष्टि विश्व की रचना और उसके पालन के सम्बन्ध में है। इस्माइली एक वैश्विक प्रज्ञा मानते हैं। यहाँ वैश्विक आत्मा के रूप में होती है। कभी यह विश्वात्मा मनुष्य के रूप में अवतरित होती है और इमाम ही अवतार के रूप में आते हैं।

(3) **जैदी सम्प्रदाय**—शिया का एक सम्प्रदाय जैदी के रूप में है। इनकी

यमन में अधिकता है । इनकी धारणा के अनुसार इमाम अति प्राकृतिक शक्तियों से युक्त नहीं होते ।

(4) **वहाबी सम्प्रदाय**—वहाबी आन्दोलन के प्रवर्तक मुहम्मद इब्ब अब्दुल वहाब थे । यह सम्प्रदाय इस्लाम के पतन, रूढ़ियों तथा अन्ध-विश्वास के कारण उभर कर आया । मुहम्मद वहाब ने जीवन के भीतरी विलास की निन्दा की । पीरों, औलियों एवं उनकी कब्रों की पूजा का विरोध किया । कुरान के काल्पनिक अर्थ लगाने वालों का विरोध किया । मौलिक कुरान को ही वैध ठहराया ।

(5). **अहमदिया सम्प्रदाय**—इसके प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद थे । यह भारतीय मिर्जा अहमद स्वयं को दैवी प्रकाशन से युक्त मानते थे जिन्हें पृथ्वी पर अपना सन्देश देने के लिए भेजा गया था । इस मत की उत्पत्ति भारतीय धर्मों के प्रभाव से हुयी मानी जाती है । अफ्रीका और यूरोप में भी इनके सन्देश-वाहक भेजे गये थे ।

(6) **सूफी सम्प्रदाय**—सूफी मत इस्लाम के रहस्यवादी पक्ष को प्रस्तुत करता है । 'सूफी' शब्द अरबी के सूफ (SUF) से बना है, जिसका अर्थ ऊन (Wool) होता है । मुसलमान संतों को सूफी इसलिए कहा जाने लगा कि वे ऊन के बिना रंगे कोरे कपड़े पहनते थे । ये वस्त्र उनके वैराग्य और सांसारिक सुखों के त्याग के प्रतीक थे । आगे चलकर 'सूफी' नाम मुसलमान रहस्यवादियों के साथ जुड़ गया । इन मुसलमान रहस्यवादियों की विशेषताएँ अन्य धर्म के रहस्यवादियों के समान ही थीं । उनके मत से भी सर्वेश्वरवादी अद्वैत का सिद्धान्त प्रकट होता है । इन रहस्यवादियों का लक्ष्य है आत्मा का परमात्मा से एकाकार होना । इस लक्ष्य को लेकर 'सूफीवाद' प्रचलित हुआ । सूफीवाद वेदान्त के मत से मिलता-जुलता है । आत्मा और परमात्मा की एकाकारता की बात यद्यपि इस्लाम के मत से नहीं मिलती क्योंकि इस्लाम के अनुसार आत्मा ईश्वर के बराबर नहीं हो सकती । परन्तु सूफी सन्तों ने ईश्वर-प्रेम तथा आत्मा-ईश्वर के मिलन की ही बात की है । सूफियों ने प्रेम की पीर को सर्वोपरि महत्व दिया । स्पष्ट रूप से सूफी मत पर भारतीय संतों तथा वेदान्त मत का प्रभाव दिखायी पड़ता है । इस्लाम से सूफी मत का मेल नहीं बैठता फिर भी परसियन ईश्वरशास्त्री दार्शनिक तथा रहस्यवादी अल-गजाली ने इस्लाम तथा सूफीवाद में समन्वय करने का सफल प्रयास किया है । अन्य अनेक सूफीवादी संतों ने भी इसी भाव की उन्मत्त अवस्था में ईश्वर के साथ एकाकारता का अनुभव किया है । अल-हल्लाज की रहस्यवादी अभिव्यक्तियों में वेदान्त तथा ईसाई मत दोनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है । जैसे—'जिसे मैं प्यार करता हूँ वह मैं हूँ' यह कथन 'तत्वमसि' का बोध कराता है और 'जो मुझे देखता है, वह उसे देखता है' 'जो उसे देखता है, हम दोनों को देखता है'; ये दोनों अभिव्यक्तियाँ ईसाई धर्म के त्र्येक ईश्वर (Trinity) की विचारधारा को प्रकट करती है ।

---

8 | सिक्ख धर्म

गुरुनानक तथा 'गुरु ग्रन्थ साहिब'

सिक्ख धर्म के संस्थापक—गुरुनानक 1469-1539) की गणना महान् युग पुरुषों में की जाती है। इनकी धार्मिक अनुभूतियाँ आदि 'श्री गुरू ग्रंथ साहिब' में संगृहीत हैं। सिक्ख धर्म में इस ग्रंथ का वही स्थान है जो कि विभिन्न मतों में वेद, त्रिपिटक, बाइबिल तथा कुरान का है।

अन्य पूज्य ग्रंथों की भाँति 'गुरु ग्रन्थ साहिब' का भी संकलन किया गया है। इसमें मुख्यतः नानक की रचनाएँ हैं। साथ ही साथ अन्य नौ गुरुओं की वाणी का भी संग्रह है। यही नहीं इसमें कुछ अन्य सम्प्रदाय के हिन्दू सन्तों और भाटों के भी वचन संगृहीत हैं। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ का संग्रह सर्वप्रथम पाँचवें गुरु अर्जुन ने किया।[1]

प्रश्न यह है कि ग्रंथ कहाँ तक प्रमाणित या विश्वसनीय है? जितने धार्मिक महापुरुष हुए हैं उनके वचन 'स्मृति' परम्परा के अनुसार ही सुरक्षित किये गये और उनका बाद में संग्रह किया गया। यही बात 'गुरु ग्रंथ साहिब' के विषय में भी है।

गुरुनानक जी यद्यपि पढ़े-लिखे नहीं थे परन्तु उनकी वाणी में लोगों की हार्दिक तन्मयता होती है। उनकी अनुभूतियाँ उच्चकोटि की हैं, जिसे देखकर-असाधारणता का बोध होता है। एक आकस्मिक लगाव पैदा होता है। इस प्रसिद्ध ग्रंथ को 'आदि ग्रन्थ' भी कहते हैं, जो सिक्खों के 'बाइबिल' के रूप में है और यह उसी रूप में हमारे सामने है, जिस रूप में उसका संग्रह गुरु ने किया था।[2]

---

1. मालकम स्केच–पृष्ठ 30, परम्परा तथा लेखकों की धारणा के अनुसार परम गुरु ग्रन्थ गुरु अर्जुन द्वारा तैयार किया गया था। यद्यपि नानक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का रक्षण गुरु अंगद ने किया। फारेस्टर ने (ट्रैवेल्स भाग 1 पृ० 297) लिखा है कि रामदास ने अपने पूर्ववर्तियों का इतिहास एवं उनके सिद्धांतों को क्रमबद्ध कर गुरु ग्रंथ की टिप्पणी प्रस्तुत की है। उसी ने (ट्रैवेल्स भाग 1, पृष्ठ 296 में) यह भी स्वीकार किया है कि गुरु ग्रन्थ का संग्रह गुरु अंगद ने ही किया है।

   जे० डी० कनिंघम—सिक्खों का इतिहास–पृष्ठ 41 पर उद्धृत।
2. एम० मैकालिफ इत्यादि—द सिक्ख रिलिजन, ए सिम्पोजियम सिक्खिज्म, पृष्ठ 77-79।

'आदि ग्रन्थ' के शोधी विद्वान डॉ० जयराम मिश्र ने अपने प्रबन्ध में ग्रंथ के संकलन के विषय में ट्रम्प, मैकालिफ तथा साहिब सिंह के मतों का उल्लेख करते हुए आदि ग्रन्थ की विश्वसनीयता पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। इनके दृष्टिकोण से गुरुनानक वाणी परम्परा के अनुसार गुरुओं के ही पास थी और अर्जुन ने उसका संकलन किया था।[1] इस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कुछ तर्क दिये जा सकते हैं; परन्तु यदि सूक्ष्म रूप में देखा जाय तो इन तर्कों का कोई आधार नहीं रह जाता। गुरु नानक की वाणी सम्पूर्ण ग्रन्थ में कितनी है, इसका पता नहीं चलता। क्योंकि सभी पदों में नानक शब्द लगा हुआ है। इससे यही ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ नानक की ही वाणी से पूर्ण है, परन्तु कहा जाता है कि इसमें अन्य गुरुओं तथा सन्तों की भी वाणियाँ हैं। इस आधार पर ग्रन्थ के विषय में शुद्धता का दावा नहीं किया जा सकता।

इस तर्क के लिए दो उत्तर दिये जा सकते हैं जो समीचीन तथा स्वाभाविक भी ज्ञात होते हैं। गुरुनानक की वाणियों के अतिरिक्त जो पद नानक नाम से प्राप्त हैं वे उन सिक्ख गुरुओं के हैं, जो सीधे गुरुनानक देव की शिष्य-परम्परा में आते हैं तथा जिनमें क्रमशः उन्हीं की "ज्योति का प्रतिरूप" रहने के कारण 'नानक' संज्ञा द्वारा अभिहित करने की परिपाटी भी चली आई है।[2]

दूसरा उत्तर यह है कि गुरुओं की वाणी अलग करने के लिए संकलनकर्त्ता, ने सोचा कि नानक नाम के प्रयोग के कारण अन्य गुरुओं की वाणी में विभिन्नता लाना असम्भव होगा। इसलिये पहले गुरु के लिए 'महला-पहला' दूसरे गुरु के लिए 'महला दूजा', तीसरे गुरु के लिए 'महला तीजा' चौथे गुरु के लिए 'महला बचौथा' का प्रयोग किया तथा पाँचवें गुरु के लिए 'महला पंजवां' का प्रयोग किया। भक्तों की वाणी को पृथक् करने के लिए उनके नाम लिख दिये गये। सभी वाणियों के संग्रह के पश्चात् गुरुअर्जुन देव ने समस्त सिक्ख मण्डली को आदेश दिया कि वे उस संग्रह को ही मानें। बाहर की अन्य वाणियाँ चाहे नानक के ही नाम से क्यों न हों अस्वीकृत कर दें।[3] इस प्रकार गुरु अर्जुन ने विश्वस्त होकर नानक की वाणियों का संग्रह किया है।

इसके विषय में ट्रम्प का भी यह मत है कि एक बार सिक्खों ने एकत्र होकर अपने पाँचवें गुरु अर्जुनदेव से निवेदन किया कि गुरुनानक के पदों में तन्मयता

1. डॉ० जयराम मिश्र—श्री गुरु-ग्रंथ दर्शन—पृष्ठ 9-11
2. डॉ० जयराम मिश्र, श्री गुरु ग्रंथ दर्शन, भूमिका—परशुराम चतुर्वेदी द्वारा, पृष्ठ 78।
3. वही, (आदि ग्रंथ) ट्रम्प (अर्नेस्ट) भूमिका, पृष्ठ 80-81; पृष्ठ 9-10 पर उद्धृत।

लाने की अपूर्व शक्ति है। आजकल स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ के निमित्त अनेक पद बाबा नानक के नाम पर प्रचलित कर दिये हैं। इन पदों में अहंकार व सांसारिक भावों की प्रधानता है। अतएव यह आवश्यक है कि गुरु महराज के पद ऐसे पदों से पृथक् कर दिये जायँ ताकि उनकी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रहे।[1] इसी सम्बन्ध में मैकॉलिफ का मत मिलता है कि गुरु अर्जुन को बिना किसी के कहे स्वतः इसकी अनुभूति हुई कि सिक्खों के नित्य धार्मिक कृत्यों के लिए गुरुओं की वाणियों का संग्रह आवश्यक है और इसलिए भी कि 'प्रीथिया' अपने पदों को गुरुनानक तथा उनके अन्य उत्तराधिकारी गुरुओं के नाम से संग्रह कर रहा था इसलिए गुरु अर्जुन इस कार्य में लीन हुए।[2]

स्वयं गुरु अर्जुन ने जिन वाणियों को निश्चित कर दिया था उन्हीं के भाई; गुरु दास जी द्वारा लिखवाया गया और वाणियों को बोलने वाले गुरु अर्जुन ही थे। यह कार्य बड़े परिश्रम से हुआ है। कहा जाता है कि यह कार्य सन् 1604 ई० में पूर्ण हुआ।[3]

"गुरु ग्रंथ साहिब" के विश्वसनीय होने का सबसे प्रबल प्रमाण यह मिलता है कि गुरुनानक तथा अन्य गुरुओं की वाणियाँ कहीं अन्यत्र नहीं फैली हुई थीं, वरन् गुरुनानक को स्वम् अपनी वाणियों के संग्रह का ध्यान था। उनकी वाणियाँ संचित रूप में थी और उनकी मृत्यु के पश्चात् गुरु परम्परा ने उनकी तथा अन्य गुरुओं की वाणियाँ बाबा मोहन (सिक्खों के तीसरे गुरु, अमरदास जी के पुत्र थे) के पास सुरक्षित थी।

यद्यपि मैकालिफ के अनुसार, गुरु वाणियाँ बाबा मोहन के पास थीं, परन्तु साहब सिंह जी के मतानुसार परम्परा से संचित थीं, ये दो मत मिलते हैं। परन्तु डॉ० जयराम मिश्र के शब्दों में साहब सिंह जी के मत में अभी विद्वानों के परीक्षण की अधिक आवश्यकता है। अभी तक यह मत मान्य नहीं हो सका है। अतः इन दोनों के बीच हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि गुरुनानक की वाणियों को एकत्रित करने का कोई प्रलोभन नहीं रहा होगा। क्योंकि इस प्रकार के रहस्यवादियों के समक्ष शिष्य वर्ग सदैव उपस्थित रहता है और उसके उपदेश सुनकर ग्रहण करता है। गुरुनानक ने, पढ़े लिखे न होने के कारण स्वयं न लिखा होगा। शिष्यों ने ही संकलन किया होगा। हो सकता है कि कुछ संकलन मोहन दास के पास रहे हों और बाद में अर्जुन ने सब को एक स्थान पर संकलित किया हो। अतः इतना तो निर्विवाद

---

1. वही, पृष्ठ 1-10
2. वही, पृष्ठ 10।
3. मैकालिफ—द सिक्ख रिलीजन, भाग 3, पृष्ठ 60-61।

रूप से सिद्ध है कि गुरु ग्रंथ में नानक की वाणियाँ जो यत्र-तत्र बिखरी थीं, संकलित हैं। साथ ही यह भी सिद्ध है कि गुरु ग्रंथ में नानक की वाणियों का संग्रह गुरु अर्जुन ने बाद में किया। अतः इस ग्रंथ की विश्वसनीयता को द्वितीय श्रेणी में रख सकते हैं। क्योंकि नानक की वाणियाँ उन्हीं के जीवन काल में प्रत्यक्ष रूप में संकलित नहीं जान पड़तीं। कुछ समय बाद संकलन होने से ग्रंथ की विश्वसनीयता प्रथम को कोटि में नहीं रख सकते।

गुरु नानक का प्रारम्भिक जीवन अन्य रहस्यवादियों की ही भांति अस्वाभाविक तथा असाधारण रहा। कहा जाता है कि एक वर्ष में ही उनको दाँत निकल आये, वे खड़े होकर चलने लगे और जहाँ बैठते पद्मासन ही लगाकर बैठते थे। उनके असाधारण व्यवहारों को देखकर 'मासी' ने कहा कि "यह तो पागल होगा।" गुरु नानक ने भी भविष्यवाणी की कि 'मासी' को भी ऐसा ही एक पागल उत्पन्न होगा। हुआ भी ऐसा। मासी को रामारत्न नामक पुत्र हुआ' जो बड़ा ही विख्यात हुआ। विद्यारम्भ के विषय में उल्लेखनीय है कि उन्होंने भी बुद्ध की तरह सांसारिक दृष्टिकोण से नहीं पढ़ा। अपने अलौकिक ज्ञान से गुरुओं की वाणियों का आध्यात्मिक अर्थ लगाकर बताना और चमत्कृत कर देना उनकी आध्यात्मिकता तथा असाधारण व्यवहार को प्रकट करता है। पढ़ते समय उनकी यही उक्ति रही कि "मैं तो परमेश्वर का नाम पढ़ने आया हूँ।" यज्ञोपवीत संस्कार के समय जनेऊ न धारण कर जाति बन्धन से निर्मुक्त रहने का परिचय दिया। व्यापार के लिए घर से रुपया ले जाना और उसको गरीबों और अनाथों में बाँट देना अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है। यही नहीं साधु सन्तों से बचपन से ही मिलकर वार्तालाप करना उनकी आध्यात्मिकता को प्रकट करता है।[1]

गुरुनानक का जीवन साधना-काल से गुजरा है। उनको एकान्त अधिक अच्छा लगता था और बाहर जाकर जंगल में ईश्वर गुणानुवाद करते थे। ध्यान-मग्न रहते थे। कहीं कब्रिस्तान में भी आसन लगाकर बैठ जाते थे या कहीं साधु-सन्तों के साथ ईश्वर का गुणानुवाद किया करते थे। समय मिलने पर एकान्त में चले जाना और ईश्वर-चिन्तन करना उनके लिए स्वाभाविक रहा है।[2]

सिक्ख धर्म की मूलभूत विशेषताएं

विश्व के प्रमुख धर्मों में सिक्ख धर्म आधुनिकतम माना जाता है। सिक्ख धर्म का प्रादुर्भाव हिन्दू तथा इस्लाम धर्म के समन्वयकर्त्ता के रूप में हुआ है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि यह धर्म दोनों (हिन्दू-इस्लाम) धर्मों के प्रति प्रतिक्रिया के

---

1. गोविन्द सिंह, इतिहास गुरु खालसा, पृष्ठ 80-86,
2. गोविन्द सिंह, इतिहास गुरु खालसा, पृष्ठ 86-88,

फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यह एक बिल्कुल भिन्न और नया धर्म है, जिसकी अपनी अलग विशेषताएँ हैं। इसके विधि-विधान, परम्पराएँ तथा शिक्षाएँ भी हिन्दू-इस्लाम धर्म से भिन्न हैं। फिर भी विरोध में एकता भी प्रकट होती है। सिक्ख धर्म नया धर्म होते हुए भी इन दोनों धर्मों से प्रभावित अवश्य है। प्रभावित होते हुए भी इसकी अपनी मान्यताएँ और विशेषताएँ हैं। संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में इस पर प्रकाश डाल सकते हैं—

(1) **सिक्ख धर्म विशुद्ध रूप में एकतत्ववादी है**—सिक्ख गुरुओं ने अपनी अनुभूतियों के आधार पर एक स्वर में एकेश्वरवाद की स्थापना की है। फिर भी यह एकेश्वरवाद एक ओर तो इस्लाम के एकेश्वरवाद से प्रभावित जान पड़ता है और दूसरी ओर उपनिषदों की विचारधारा से भी उसका साम्य है।

(2) **सृष्टि निर्माण**—सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में सिक्ख धर्म में बताया गया है कि सृष्टि की रचना ईश्वर ने अपने-आप बिना किसी बाहरी उपादान की सहायता से की है। यह सृष्टि ईश्वर का आत्म प्रकाशन है। ईश्वर ने स्वयं को जगत् के रूप में प्रकट किया है। गुरुनानक के अनुसार, सृष्टि का रचना-काल निश्चित नहीं है।

(3) **विश्व में व्याप्त तथा विश्वातीत ईश्वर**—सिक्ख धर्म के अनुसार ईश्वर विश्व में व्याप्त भी है और विश्व से परे भी है। सृष्टि और ईश्वर के बीच अभिन्नता के रूप में ईश्वर जगत् में समाया हुआ है। फिर जगत् की रचना करने वाले की दृष्टि से वह जगत् के परे भी है।

(4) **ईश्वर जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है**—सिक्ख धर्म में ईश्वर को विश्व की सृष्टि करने वाला तो माना ही गया है और साथ-ही-साथ उसे पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता भी माना गया है। वैसे हिन्दू धर्म में ब्रह्मा को सृष्टि-कर्त्ता, विष्णु को पालनकर्त्ता तथा शिव को संहारकर्त्ता कहा गया है। सिक्ख धर्म में भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश को स्थान है, परन्तु इन्हें ईश्वर की ही रचना माना गया है। इनको (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) इस धर्म में स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है।

(5) **सृष्टि की यथार्थता**—सिक्ख धर्म में सृष्टि को यथार्थ माना गया है मिथ्या नहीं। यदि ईश्वर सत्य है तथा यह सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है तो यह सृष्टि भी सत्य है, मिथ्या नहीं है। इस्लाम में भी सृष्टि को सत्य माना गया है। यहाँ इस्लाम का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अद्वैत वेदान्त की तरह गुरुनानक ने माया का भी उल्लेख किया है। परन्तु माया को स्वतन्त्र न मानकर परमात्मा के अधीन माना है। माया से बचने के लिए अनेक उपाय भी बताये हैं।

(6) **सिक्ख धर्म प्रवृत्तिमूलक है**—सिक्ख धर्म इस संसार को ऐसा स्थान नहीं मानता जहाँ से मनुष्य को भाग जाने की कोशिश करनी चाहिए। इसके विपरीत

यह संसार ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य को सक्रिय रूप से पवित्र और धर्ममय जीवन यापन में लीन रहना चाहिए। इस प्रकार सिक्ख धर्म निवृत्ति-मूलक नहीं वरन् प्रवृत्ति-मूलक है। सांसारिक जीवन मनुष्य को यह अवसर देता है कि वह पवित्र कार्यों को निष्ठापूर्वक करे और अपने जीवन को सुधारे। इस जीवन का यही यथार्थ उपयोग मानना चाहिए।

(7) **सिक्ख धर्म मनुष्य योनि को श्रेष्ठ मानता है**—मनुष्य को इस धर्म में आत्मिक सत्ता के रूप में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य योनि अत्यन्त दुर्लभ है। गुरुओं की वाणी में कहा गया है कि 'माणसु जनमु गुरमुखि पाइआ (1/1/3) 'वडै भाग इहु सरीर पाइआ' (5/7/21) मनुष्य योनि की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है। अनेक जन्मों के पुण्यों से इस योनि की प्राप्ति होती है। परन्तु मनुष्य इस संसार में अपने को अनेक अशुभ वासनाओं से पतित कर लेता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को 'हउमै' अर्थात् अहंकार और स्वार्थी प्रवृत्ति से ग्रसित होकर भूल जाता है और नाना प्रकार के वाह्याडम्बर, लड़ाई-झगड़े और संकर्णता में लीन होकर नष्ट हो जाता है।

(8) **हउमै (अहंकार) से निवृत्ति**—सिक्ख धर्म में यह आवश्यक माना गया है कि मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करे। इसके लिए हउमै या अशुभ वासनाओं से छुटकारा पाना और अपने को पवित्र करना आवश्यक है। बिना इसके मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(9) **कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास**—सिक्ख धर्म भी हिन्दू धर्म की तरह कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म में विश्वास करता है। 'जैसा जो करेगा वैसा भरेगा' या 'जो बोयेगा सो काटेगा' के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जैसा कर्म करेगा उसका वैसा फल भी प्राप्त करेगा। यदि बुरे कर्म करेगा तो उसके परिणामस्वरूप पुनः जन्म लेकर उसका परिणाम प्राप्त करेगा। जो मनुष्य भले कार्य करेगा और ईश्वर-भक्ति में लीन रहेगा वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जायेगा तथा मोक्षावस्था की प्राप्ति कर आनन्द की स्थिति में हो जायेगा।

(10) **मोक्ष**—सिक्ख धर्म आत्मोपलब्धि अर्थात् मोक्ष में विश्वास करता है, मोक्ष का अर्थ है—आवागमन अर्थात् जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाना या दूसरे शब्दों में मोक्ष का अर्थ आत्मा का परमात्मा से एकाकार होना।

(11) **मोक्ष के साधन**—सिक्ख धर्म में मनुष्य की मानसिक स्थिति, संस्कार और क्षमता को ध्यान में रखते हुए मोक्ष के विभिन्न साधन बतलाये गये हैं। जैसे कर्म मार्ग, योग मार्ग, ज्ञान मार्ग तथा भक्ति मार्ग। सिक्ख धर्म के गुरुओं ने इन मार्गों में समन्वय करने का प्रयास किया है। ज्ञान और भक्ति पूर्वक कर्म करते हुए जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। 'नाम सिमरन' (प्रभु-नाम-स्मरण) भजन तथा कीर्तन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

(12) **गुरु का महत्व और कृपा**—सिक्ख धर्म वास्तविक अर्थ में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को ही प्रकट करता है। इसमें गुरु का उच्चतम महत्व स्वीकारा गया है। शिष्य का अपभ्रंश 'सिख' शब्द है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह वह धर्म है जिसे गुरुओं द्वारा चलाया गया तथा शिष्यों ने उसे स्वीकार किया। इस प्रकार यह धर्म गुरु-शिष्य के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है। इस धर्म के दस गुरु[1] हुए हैं। प्रथम गुरु बाला नामक देव हुए (1469-1539)। इन्हीं को इस धर्म का जनक माना जाता है। आदि ग्रन्थ में कहा गया है कि—'गुरु परमेसरु एको जाणु' अर्थात् गुरु और परमेश्वर को एक ही समझो। सद्‌गुरु की कृपा तथा परमेश्वर की कृपा मोक्ष के लिए आवश्यक है। गुरु आत्मा तथा परमात्मा के बीच मध्यस्थता का कार्य करता है। गुरु के द्वारा ही मोक्ष का मार्ग मिलता है। 'बिनु गुरु दाते कोई न पाये। लख कोटी जे करम कमाए।'

दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने मृत्यु के पूर्व कहा कि 'मेरे बाद कोई सिख गुरु नहीं होगा'। उन्होंने गुरु के स्थान पर 'आदि ग्रन्थ' को गुरु के रूप में माना और कहा कि 'केवल गुरु ग्रन्थ साहिब ही गुरु होंगे'। अतः दसवें गुरु के पश्चात् गुरु ग्रन्थ साहिब की ही पूजा होती है। यद्यपि सिक्ख धर्म में मूर्तिपूजा का खंडन किया गया है, परन्तु ग्रन्थ की पूजा ने ही मूर्तिपूजा का रूप ग्रहण कर लिया। गुरुद्वारे में ग्रन्थ साहिब का प्रमुख स्थान होता है, जहाँ सिक्ख सर्वप्रथम नमन करते हैं।

(13) **आन्तरिक शुद्धि**—सभी धर्मों में शुद्धि को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। यह वाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की होती है। परन्तु वाह्य शुद्धि पर अधिकांश रूप में बल दिया जाने लगता है। अतः वाह्याडम्बर तथा ढकोसला मात्र धर्म में शेष रह जाता है। सिक्ख धर्म ने वाह्याडम्बर का विरोध किया और आन्तरिक शुद्धि पर अधिक बल दिया। इसीलिए इसमें तीर्थ यात्रा, पवित्र नदियों में स्नान, मूर्तिपूजा तथा अन्य वाह्य क्रियाओं का बहिष्कार किया गया। ये वाह्य क्रियाएँ केवल यान्त्रिक होती हैं। अतः आन्तरिक शुद्धि मन और हृदय की शुद्धि आवश्यक मानी गयी। नाम स्मरण तथा कीर्तन भजन भी वाह्याडम्बर हो सकते हैं यदि उनको हृदय की आन्तरिकता से नहीं किया जाता।

(14) **वर्ण व्यवस्था का खंडन**—सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था का खंडन करता है। गुरु ग्रन्थ में कहा गया कि किसी को जाति का गर्व नहीं करना चाहिए। जो ईश्वर को जानता है वही ब्राह्मण है। जाति का अभिमान करने वाले मूर्ख हैं। इस अभिमान से अनेक पाप होते हैं।'

1—1. गुरुनानक, 2. गुरु अंगद, 3. गुरु अमरदास, 4. गुरु रामदास, 5. गुरु अर्जुनदेव, 6. गुरु हरगोविन्द, 7. गुरु हरराय, 8. गुरु हरकृष्ण, 9. गुरु तेग बहादुर, और 10. गुरु गोविन्द सिंह।

(15) **सिक्ख धर्म के पाँच चिन्ह**—सिक्ख धर्म में दीक्षित व्यक्ति को पाँच वस्तुएँ चिन्ह के रूप में धारण करनी पड़ती हैं—केश, कंघी, कृपाण, कड़ा और कच्छा। इन्हीं पाँचों चिन्हों को 'पंचककार' कहा जाता है।

कहा जाता है कि आदि गुरु नानक ने वेश-भूषा से अधिक आन्तरिकता को धर्म के लिए आवश्यक माना था, परन्तु सिक्ख समाज का वर्तमान संगठन गुरु गोविन्द सिंह का दिया हुआ है। पाँच ककार और पगड़ी बाँधने की प्रथा उन्हीं के द्वारा चलायी गयी। सिक्ख समाज दो सम्प्रदायों में बँटा—एक सहजधारी और दूसरा खालसा सिंह। सहजधारी लम्बे केश धारण नहीं करते और खालसा लम्बे बाल रखते हैं और कृपाण धारण करते हैं और नाम में 'सिंह' शब्द जोड़ते हैं। इन्हें ही खालसा अर्थात् शुद्ध कहा गया। अधिक सिक्ख 'सालसा' कहे जाते हैं। 'सहजधारी' संख्या में कम हैं। ये लोग ककार धरणा नहीं करते।

वैसे तो सिक्ख धर्म हिन्दू और इस्लाम धर्म से प्रभावित हैं और अधिकांश प्रभाव हिन्दू धर्म का ही उस पर देखा जा सकता है, परन्तु गुरु अर्जुन ने अपने को हिन्दू और मुसलमानों से अलग मानने की घोषणा की है। तीर्थ यात्रा का निषेध, वर्ण का निषेध—मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद, हिन्दू धारणाओं का निषेध सिक्ख धर्म में अवश्य किया गया है, परन्तु जैसा कि दिनकर जी ने कहा है, 'सिक्ख धर्म को हिन्दुत्व की बाँह कह सकते हैं' ठीक ही है। 'उनका सृष्टि-विकास का सिद्धान्त वेदान्त का सिद्धान्त है। वे कर्म को मानते हैं, पुनर्जन्म को मानते हैं, निर्वाण और माया को मानते हैं एवं ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) के त्रिदेवत्व में विश्वास करते हैं इसके सिवा नाम, जप, ध्यान, समाधि और राजयोग का भी उनके यहाँ बहुत महत्व है।' अन्त में उन्होंने यहाँ तक कहा है कि सिक्ख धर्म और हिन्दुत्व, ये दो नहीं, एक ही धर्म हैं। गुरु गोविन्द ने वीरता की उमंग में आकर 'किसु-विसुन' के अस्तित्व से इन्कार तो कर दिया, किन्तु चंडी की स्तुति करना वे नहीं भूले और उन्होंने रामकथा पर भी सुन्दर खंड-काव्य लिखा। सिक्ख-गुरु अवतार तथा हिन्दू देवी-देवताओं पर काफी श्रद्धा रखते थे। सिक्ख धर्म-ग्रन्थ में लिखा है—

रामकथा जुग-जुग अटल जो कोई गावे नेत'
स्वर्गवास रघुवर कियो सगली पुरी समेत।,

'यही नहीं, हिन्दू समाज की कुरीतियाँ भी सिक्ख समाज में कम नहीं है। सिक्खों में भी जात-पाँत है, छुआ-छूत है और विवाह-सम्बन्धों पर बहुत कुछ वैसे ही नियन्त्रण है, जैसे हिन्दुओं के यहाँ। सिक्ख जाट, सिक्ख माली, सिक्ख कुम्हार और सिक्ख चमार ये नाम ही बतलाते हैं कि सिक्ख सम्प्रदाय में भी हिन्दुत्व ही एक नया उपसर्ग लगाकर जी रहा है।'

बात सही भी है। अंग्रेजों ने फूट डालने की भावना से मैकालिफ से सिक्ख धर्म पर बहुत कुछ लिखवाया। उसने सिक्ख धर्म को हिंदुत्व से बिल्कुल भिन्न धर्म

प्रमाणित करने का प्रयास किया है। परन्तु बात तो यह सही है जैसा कि दिनकर जी ने लिखा है कि 'सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म के धड़ से वीर-बाँह की तरह निकला था। ......फिर भी, आज हिन्दू और सिक्ख परस्पर लड़ते हैं, क्योंकि उनकी लिपियाँ दो हैं। इसे बुद्धि का दिवाला नहीं तो और क्या कहा जाय?''[1]

सिक्ख धर्म में ईश्वर की धारणा

सिक्ख धर्म में गुरुनानक तथा अन्य गुरुओं ने भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए तर्क-वितर्क का सहारा नहीं लिया है। गुरु सन्त थे। उन्हें ईश्वर की साक्षात् अनुभूति थी। उनका सर्वात्म भाव था। ईश्वर के दर्शन उन्हें सर्वत्र होते थे— 'जहँ-जहँ देखा तह तह सोई'। गुरु नानक ने अपने मूलमन्त्र या बीजमन्त्र में ईश्वर के स्वरूप की इस प्रकार व्याख्या की है—

"1 ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि"।

इस मूलमन्त्र की व्याख्या मोहन सिंह जी ने इस प्रकार की है—'वह एक है, शब्द अथवा वाणी है और इसी द्वारा सृष्टि रचता है। वह सत्य है, नाम है। उसके अस्तित्व का वाचक नाम केवल सत्य है और शेष जितने नाम हैं, उसके गुणों के वाचक हैं। उसके प्रत्यक्ष गुण ये हैं—कर्तार है, पुरियों का निर्माण करके उनके बीच निवास करने वाला है। महान् पौरुष और महान् शक्तियुक्त है। समस्त शक्तियों का स्वामी है।'' परमात्मा के निषेधात्मक गुण हैं—'वह भय से रहित है, वैर से रहित हैं, मूर्तिमान् है, काल से रहित है, योनि के अन्तर्गत नहीं आता। त्रिपुटी से परे है।'' 'वह स्वयंभू (अपने आप होने वाला) है। वह प्राप्त होने वाला है और उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा से होती है।'[2]

शोधी विद्वान डॉ० जयराम मिश्र ने इस बीजमन्त्र में सिक्ख धर्म के ईश्वर सम्बन्धी विचार के लिए उल्लिखित शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है—

(1) **ईश्वर को '1' कहा गया** है—'यह '1' ईश्वर के एकत्व पर बल देता है। यह '1' सर्वव्यापी, अव्यक्त और अमृततत्व है। यही '1' चर-अचर सृष्टि का मूल है। यह वेदान्त का परब्रह्म अक्षर 'एक' है। उसका नाश नहीं होता। यह अगम और अगोचर है—'अगम अगोचरु अनाथु अजोनी गुरमति एकै जानिआ।' डॉ० मिश्र ने इसकी तुलना उपनिषदों के 'नेह नानास्ति किंचन' और 'एकमेवा-द्वितीयम्' से की है।[3]

---

1. संस्कृति के चार अध्याय—पृ० 398-406
2. डॉ० जयराम मिश्र—श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन, पृ० 61 पर उद्धृत।
3. वही, पृ० 62।

(2) **ईश्वर का प्रतीक 'ओंकार' शब्द**—ग्रन्थ में 'एकंकार' और 'ओंकार' एक ही हैं। यह ईश्वर का गुणवाचक शब्द है। 'ओंकार' में 'एक' विशेषण लग गया है। योगसूत्र में जिसे 'प्रणव' या ओंकार माना गया है, वही सिक्ख धर्म में 'ओंकार' है। गुरुनानक तथा अर्जुन ने ईश्वर के प्रतीक इसी ओंकार से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। यह ओंकार या ईश्वर ही अनेक रूपों में व्याप्त है। यही सृष्टि का मूल है—

'एकंकार एक पसारा, एकै अपट अपारा'

(3) **ईश्वर सत्य (सतिनामु)** है—बीजमन्त्र में तीसरा शब्द 'सतिनामु' है। यह ईश्वर का वाचक शब्द है। इसका अर्थ 'सत्य' से है अर्थात् ईश्वर सत्य है। ईश्वर सत्य है अर्थात् सत्य वह है जिसका कभी अभाव न हो। गुरुनानक 'सत्य पुरुष' का स्थान सत्य मानते हैं। उन्होंने ईश्वर को 'सतिनामु' कहा है। उपनिषदों में भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म' कहा गया है। इसी 'सतिनामु' ईश्वर को अर्जुनदेव ने कहा है—

'प्रीति लगी तिसु सच सिउ मरै न आवै जाइ।
ना बेछोड़िआ बिछुड़ै सभ महि रहिआ समाइ।।

अर्थात् 'मेरी प्रीति उस सत्य पुरुष से लगी हुयी है, जो अमर है, वह न जन्म लेता है, न मरता है। वह किसी भी भाँति पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सब में समान रूप से व्याप्त है।''[1]

(4) **ईश्वर कर्त्ता (करता)** है—सिक्ख धर्म का ईश्वर निर्गुण, निरंकार होते हुए भी सर्वगुण सम्पन्न है। वह पूर्ण है, वह विरोधी गुणों से भी पूर्ण है। अतः वह अलख, अगोचर होते हुए भी कर्त्ता है। गुरु ग्रन्थ के अनुसार ईश्वर अकेला बिना किसी की सहायता के सृष्टि की रचना करता है। उसी कर्त्ता पुरुष ने ब्रह्मा, विष्णु महेश सभी की रचना की है—

'ब्रह्मा विसुन महेसु इक मूरति आपे करता कारी'

(5) **ईश्वर सर्वज्ञ पुरुष** (पुरखु) है—सिक्ख धर्म में ईश्वर को पुरुष (पुरखु) कहा गया है। यह पुरुष एक है उसमें अनेकता नहीं है। गुरुओं ने पुरुष को अनादि और एक कहा है। वह अद्वितीय कर्त्ता है, वह अपार है, सभी में व्याप्त है। उसे ग्रन्थ में अरूप, अरेख, अदृष्ट, अगोचर, अलक्ष आदि कहा गया है। वह सत्य है, परमेश्वर है, शाश्वत है और अविनाशी है। सारे गुणों का निधान है। उससे बड़ा कोई नहीं है। 'तू आदि पुरखु अपरंपरु करता तेरा पारु न जाइआ जीउ'।'

गीता तथा उपनिषदों में भी ईश्वर को पुरुष तथा कर्त्ता कहा गया है। (गीता—15/17, मुण्डक—3, 1–1)

---

1. वही, पृ० 65।

(6) **ईश्वर निर्भय (निरभउ) है**—जिस प्रकार उपनिषदों में ईश्वर को 'अभय' कहा गया है, उसी प्रकार गुरु ग्रन्थ में गुरुनानक तथा अर्जुन की वाणी में ईश्वर को निर्भय (निरभउ) कहा गया है। नानक कहते हैं कि ईश्वर ही निरंकार सत्य, एक और भय से रहित है—'नानक निरभउ निरंकारु सचु एकु'। गुरु अर्जुन ने बतलाया है कि किस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि 'निरभउ' के भय से भयभीत होकर मर्यादा पूर्वक बनी रहती है।

(7) **ईश्वर निर्वैर (निरवैरु) है**—यदि ईश्वर सर्वव्यापक, साक्षी और निर्लिप्त है तो वह किसी से वैर क्यों करे? उसके लिए ऊँच, नीच, राजा, रंक सब एक समान हैं। ग्रन्थ में 'निरवैरु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैसे 'निरभउ निरंकास निरवैरु पूरन जोति समाई', 'निरहारी केसव निरवैरा' आदि।

(8) **ईश्वर कालरहित (अकाल मूरति) है**—सिक्ख धर्म में ईश्वर को अविनाशी माना गया है। वह युगों के प्रारम्भ के पूर्व भी था और युगों के बीतने में भी था। वर्तमान में है और भविष्य में वह रहेगा। ईश्वर तीनों कालों में समान रूप से व्याप्त है। वह कालों का द्रष्टा है, ज्ञाता और साक्षी है। तीनों काल ईश्वर में निहित हैं। गुरुनानक कहते हैं—

'आदि सचु, जुगादि सचु।
है भी सचु, नानक होसी भी सचु॥ (जपु जी, पृ० 1)

अतः ईश्वर पर काल का कोई प्रभाव नहीं। वह अकाल मूर्ति है (अकाल मूरति)।

(9) **ईश्वर अजन्मा (अजूनी, अयोनि) है**—अयोनि का अर्थ अजन्मा है, अर्थात् जो जन्म नहीं लेता। ईश्वर अजन्मा है, क्योंकि जो वस्तु जन्म लेती है, वह मरती भी है, परन्तु यदि ईश्वर सर्वव्यापक, अकाल मूरति, सत्य, कर्त्ता, निर्वैर है तो वह मर कैसे सकता है? उसके मरने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वह अजन्मा है। मरता वह है जो जन्म लेता है। इसलिए गुरुओं ने ईश्वर को 'अयोनि' कहा है। ग्रंथ में कहा गया है कि 'जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु भाउ न भरमा।' 'पारब्रह्म आजोनी संभउ सरब थान घट बीठा' आदि।

(10) **ईश्वर स्वयंभू (सैभं) है**—ईश्वर को स्वयंभू कहा गया है। स्वयंभू का तात्पर्य है, वह जो स्वयं ही हो। उसका कोई निर्माता न हो। ईश्वर सब की रचना करता है। उसकी रचना करने वाला कोई नहीं है। ईश्वर स्वयं अपने को रचने वाला है। उपनिषदों में भी ईश्वर को स्वयंभू कहा गया है। गुरु ग्रन्थ में यह विशेषण स्थान-स्थान पर मिलता है 'अकाल मूरति अजोनी संभौ।' 'जाति अजाति अजोनी संभउ।' आदि।

(11) **ईश्वर गुरु का प्रसाद (गुरु प्रसादि) है**—सिक्ख धर्म में ईश्वर की प्राप्ति गुरु की कृपा से होती है, इसलिए गुरु-प्रसाद को भी ईश्वर ही कहा गया है। गुरु

मिलाना, और अपना दर्शन कराना, यह ईश्वर का गुण है। इसीलिए ईश्वर को 'गुरु प्रसादि' कहा गया है। बिना गुरु की कृपा के न तो ज्ञान ही मिलता है, न दुःख से छुटकारा ही होता है। बाहरी साधन काम नहीं आते। गुरु ही कृपा करता है तो नाम जप होता है, भ्रम और संशय दूर होते हैं। उपनिषदों में भी गुरु कृपा का महत्व बताया गया है।

(12) **ईश्वर निर्गुण, सगुण और सगुण-निर्गुण तीनों है**—सिक्ख धर्म में ईश्वर के स्वरूप का निरूपण उपासक के भेद के अनुसार या उपासक की आन्तरिक वृत्ति के अनुकूल तीन प्रकार का मिलता है—

(अ) **ईश्वर निर्गुण है**—गुरुनानक ने ईश्वर के निर्गुण रूप का चित्रण करते हुए कहा है कि 'ईश्वर के सम्बन्ध में लाखों बार प्रयास करके भी सोचते नहीं बनता।' ईश्वर का निरूपण स्वीकारात्मक और नकारात्मक दो ढंगों से किया जाता है। गुरुओं ने इन दोनों विधियों का उपयोग किया है। निर्गुण के लिए नकारात्मक शैली का उपयोग किया है और सगुण के लिए स्वीकारात्मक शैली का। निर्गुण के निरूपण में प्रतीत होता है कि गुरुओं ने प्रत्यक्षानुभूति का सहारा लिया है। गुरु-नानक ने नकारात्मक ढंग से ईश्वर का निरूपण किया है। गुरु अर्जुन ने निर्गुण की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—'निराकार, अदृश्य, अवर्ण, अरेख, अविनाशी, अव्यक्त, अगोचर' निरंजन, निरंकार, अछेद, अभेद आदि। धर्म के इतिहास में अनेक रहस्यवादियों ने इसी प्रणाली से ईश्वर का निरूपण किया है। उपनिषदों में ऐसे कथनों की बहुलता है। निर्गुण के सम्बन्ध में गुरुनानक का कहना है कि निर्गुण के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कही जा सकती। यदि कोई कहने का प्रयास करता है तो उसे पछताना होता है, क्योंकि कुछ कहा तो जाही नहीं सकता—'जो को कहै पिछे पछुताइ।'

(ब) **ईश्वर सगुण है**—सिक्ख धर्म में माया को परमात्मा रचित माना गया है। निर्गुण बिना किसी अवलम्बन के सगुण रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार निर्गुण हरि ही सगुण बन गया—'निरगुन हरिआ सरगुन धरीआ।' सिक्ख धर्म में ईश्वर के सगुण रूप का वर्णन दो प्रकार से मिलता है—एक तो विराट् स्वरूप का वर्णन, दूसरे ईश्वर के अन्य गुणों का वर्णन।

(1) **ईश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन**—गुरुओं ने अनेक स्थानों पर ग्रंथ में सगुण ईश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन किया है। जैसे—'सभी भूतों में परमात्मा स्वयं ही बरत रहा है। विश्व के सभी नेत्रों से परमात्मा ही देखता है। अनन्त ब्रह्माण्डों की सारी सामग्रियाँ (जड़ और चेतन) उस विराट् स्वरूप का शरीर हैं। माया भी उसकी आज्ञाकारिणी है।'[1] इस सगुण ईश्वर के विराट् स्वरूप को भी

1. वही, पृ० 81

निर्गुण की तरह अकथनीय माना गया है। गुरुनानक कहते हैं—उस ईश्वर के विराट् स्वरूप का कोई अन्त न पा सका, उसकी कोई सीमा नहीं है। उसका कोई अन्त नहीं पा सकता। जितना ही कथन करते जाइये, उतना ही उसका विस्तार होता जाता है—'बहुता कहिए बहुता होइ।'

(2) **ईश्वर के अन्य गुण**—सगुण ईश्वर के कुछ अन्य गुणों का गुरुओं की वाणी में उल्लेख मिलता है। ऐसे गुण ही धर्म की दृष्टि से उपासना के क्षेत्र में महत्व-पूर्ण हैं। अन्य धर्मों में ईश्वर के इन्हीं गुणों की चर्चा मिलती है—

(अ) **ईश्वर सर्वव्यापी है**—'आदि ग्रंथ' में ईश्वर के सर्वव्यापी होने का वर्णन मिलता है। कहा गया है कि ईश्वर जड़, चेतन, स्थूल, सूक्ष्म सभी में व्याप्त है। चौदह भुवनों और चारों दिशाओं में वही व्याप्त है। सारांश में ईश्वर आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सर्वत्र व्याप्त हैं, वैसे ही ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। 'आदि अंति मधि प्रभु सोई।'

(ब) **ईश्वर सर्वान्तर्यामी है**—ईश्वर चेतन्यमय है। उसमें ज्ञान और शक्ति है। वह सब के भीतर तथा बाहर रहकर सभी रहस्यों को जानता है। वह अत्यन्त समीप है। उससे कुछ भी छिपा नहीं है। कहा गया है कि 'बिन बकने बिन कहिन कहावन, अन्तरजामी जानै।'

(स) **ईश्वर सर्वशक्तिमान है**—सर्वव्यापी और अन्तर्यामी ईश्वर सर्वशक्तिमान भी है। उसी शक्तिमान के करने से ही कुछ होता है, अन्यथा कुछ नहीं। 'करण कारण समरथ प्रभु जो करे सो होई।' वह अनहोनी को होनी बना देता है। वही मारता है, वही जिलाता है। वह सर्व नियामक शक्ति है।

(द) **ईश्वर सूत्रधार है**—सूत्रधार का अर्थ है चलाने वाला। उसकी ही शक्ति से सारा संसार चलायमान है। वही मणि है, वही सूत है। सारा संसार (मणि) उसी में पिरोया हुआ है। वह सूत्रधार या चालक के रूप में यदि सूत खींच ले तो सारी मणियाँ अस्तव्यस्त हो जायँ।

(य) **ईश्वर न्यायी है**—गुरुओं ने ईश्वर को न्यायी कहा है, क्योंकि वही कर्मों के अनुसार परिणाम देता है। पापियों को दण्ड तथा पुण्य-कर्मियों को बड़प्पन देता है। बिना तराजू के सारे संसार को तौलता रहता है (न्याय करता है)। 'बिन तिकड़ी तौले संसारा।'

(र) **ईश्वर दाता है**—'सभना दाता एक है दूजा नाहीं कोई' अर्थात् ईश्वर से बढ़कर कोई दूसरा दाता नहीं है। उसने सब जीवों की सृष्टि करके सबके भरण-पोषण का भार लिया है। संसार की अन्य शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब याचक हैं। वह सबका दाता है।

(ल) ईश्वर पालक और रक्षक है—धर्म में भक्ति की भावना आवश्यक है। धर्म गुरुओं ने ईश्वर को रक्षक तथा पालनकर्त्ता मानकर धर्म को भक्ति की भावना से भर दिया है। गुरुओं ने बताया कि ईश्वर जीवों की रक्षा माता के गर्भ से ही करता है। इहलोक और परलोक में ईश्वर का ही भरोसा है। वही पालक और रक्षक है। ईश्वर गुणहीन का भी पालन करता है।

(व) ईश्वर क्षमाशील है—ईश्वरवादी धर्मों में ईश्वर को क्षमाशील कहा गया है। सिक्ख धर्म में भी ईश्वर को जहाँ न्यायी कहा गया है, वहीं क्षमाशील भी कहा गया है। जो अनन्य भाव से अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित करता है, उसे ईश्वर (अवगुणों के लिए) क्षमा कर देता है। इससे ईश्वर की दयालुता का गुण प्रकट होता है। क्षमाशील होना ईश्वर का स्वभाव है। इसी स्वभाव के कारण वह जीव के पापों को क्षमा करता है। 'नानक सगले दोष उतारिअन, प्रभुपार ब्रह्म बखसिंद' अर्थात् नानक कहते हैं कि प्रभु क्षमाशील स्वभाव के कारण ही जीव के सारे दोषों को क्षमा कर देते हैं।

(श) ईश्वर माता-पिता हैं—ईश्वर से माता-पिता का सम्बन्ध जोड़कर सिक्ख धर्म में भक्ति मार्ग को प्रतिष्ठित किया गया है। भक्ति में भक्त ईश्वर को माता-पिता मानकर निश्चिन्तता कर अनुभव करता है। अपना सारा भार जैसे माता-पिता पर डाल कर बालक निश्चिन्त हो जाता है वैसे ही सिक्ख धर्म में ईश्वर को माता-पिता मानकर गुरुओं ने भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है और निश्चिन्तता का अनुभव किया है—'नानक पिता माता है हरि प्रभु, बारिक हरि प्रतिपारे।'

(स) ईश्वर भक्त-वत्सल और पतियों का उद्धारकर्ता है—सिक्ख धर्म में ईश्वर को पतितों का उद्धारकर्त्ता और भक्तवत्सल माना गया है। परम्परा से भी ईश्वर को भक्त वत्सल माना गया है और सिक्ख गुरुओं ने इसका पालन किया है। ईश्वर ही उनका सब कुछ है—'तू मेरा परबतु तू मेरा ओला। तू मेरा मीतु, साजनु मेरा सुआमी। तुध बिन अवरु न जानणिआ।'

सिक्ख धर्म में ईश्वर के इन गुणों के वर्णन के बावजूद यह ध्यान देने की बात है कि इसमें अवतारवाद का खंडन किया गया है तथा एकेश्वरवाद की स्थापना की गयी है।

(3) ईश्वर निर्गुण भी है और सगुण भी है—सिक्ख धर्म में ईश्वर के सम्बन्ध में एक तीसरा रूप भी मिलता है, जिसमें गुरुओं ने ईश्वर को दोनों रूपों में माना है—निर्गुण भी तथा सगुण भी। वह दोनों एक साथ है। गुरु नानक ने कहा है, कि ईश्वर ने अव्यक्त निर्गुण से सगुण ब्रह्म को उत्पन्न किया और वह दोनों आप ही हैं।' गुरु अमरदास ने भी यही कहा है—ईश्वर निर्गुण और सगुण स्वरूप अपने आप ही

है, जो इसे जानता है, वही वास्तविक पंडित है—निरगुण सरगुण आपे सोई।' गुरु अर्जुन ने कहा 'तू निरगुन तूँ सरगुनी' निरगुन सरगुण एक।[1]

सिक्ख धर्म में जगत विचार

सिक्ख धर्म के अनुसार ईश्वर ने जगत की रचना की। जगत की रचना ईश्वर ने न तो शून्य से की और न ही जगत के बाहर की किसी सामग्री से। सिक्ख धर्म के अनुसार सम्पूर्ण जगत की रचना ईश्वर की इच्छा या आदेश 'हुकम' से हुयी। सारांश में आदि गुरूनानक के अनुसार एक ऐसा समय था जब जगत का नाम-निशान तक नहीं था। "अगणित युगों पर्यन्त महान् अन्धकार था। न तो पृथ्वी थी और न आकाश था। प्रभु का अपार 'हुकम' मात्र था। न दिन था, न रात थी। न तो चन्द्रमा था, न सूर्य। केवल शून्य मात्र था।······वेद-पुराण, स्मृति-शास्त्र कुछ भी न थे। पाठ-पुराण तथा सूर्योदय और सूर्यास्त भी न थे। वह अगोचर वह अलख स्वयं अपने को प्रदर्शित कर रहा था।"[2] ऐसी ही विचारधारा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (10, 129 सूक्त) में मिलती है। परम सत्ता ही अपने में पर्याप्त है। इसी को गुरु नानक ने कहीं-कहीं 'शून्य' की संज्ञा दी है और इसी को सम्पूर्ण जगत का कारण माना है। कहा है कि 'सुंन कला अपरंपरि धारी। आपि निरालमु अपर अपारी।।' 'श्री गुरू ग्रन्थ दर्शन' के रचयिता ने 'शून्य' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'इस 'शून्य' का अर्थ 'कुछ नहीं' नहीं है। शून्यावस्था का तात्पर्य उस स्थिति से है, जब संसार की उत्पत्ति के पूर्व सारी शक्तियाँ एकमात्र परमात्मा में केन्द्रीभूत थीं, जब न रूप था, न रेखा थी और न जाति थी।"[3]

गुरू अर्जुन देव ने भी इस परम सत्ता को 'ओंकार' की संज्ञा दी है। इसी से सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुयी है। गुरूओं के मतानुसार जगत की एक अनारम्भ अवस्था थी। ईश्वर ने ही निर्गुण स्वरूप से सगुण स्वरूप धारण करके सृष्टि की रचना की है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ईश्वर ही सृष्टि का कर्त्ता और कारण है। गुरूओं ने इसी ईश्वर को जगत का निमित्त और उपादान कारण माना है—'करण कारण प्रभु एक है दूसरा नहीं कोई'। ईश्वर ही जगत के रूप में प्रकट हुआ है।

सिक्ख धर्म के जगत सम्बन्धी विचारों की निम्नलिखित विशेषताओं को बताया जा सकता है—

(1) **जगत की उत्पत्ति ईश्वर के 'हुकम' से हुयी है**—गुरुओं का यह सिद्धान्त है कि जगत की उत्पत्ति ईश्वर के 'हुकम' से हुयी है। 'हुकम' का अर्थ कुछ लोगों ने

---

1. वही, पृ० 94-95,
2. वही, पृ० 96,
3. वही, पृ० 99,

'ईश्वरीय इच्छा' माना है और कुछ लोगों ने 'सृष्टि विधान' माना है। गुरुनानक ने कहा है 'सारे आकार ईश्वर के हुकम से होते हैं। उसके सम्बन्ध में कोई कुछ भी नहीं कह सकता—'हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाइ'। इसी प्रकार गुरु अर्जुन ने कहा है कि 'हुकम से सारी सृष्टि की रचना करके बिना किसी शारीरिक सहारे के ही रहता है। समस्त सृष्टि ईश्वर के हुकम से होती है और उसी के हुकम से कम हो जाती है—

'हुकमे धारि ऊधर रहावै।
हुकमे उपजे हुकमि समावै ॥

(2) **जगत-रचना का समय अनिश्चित और अज्ञात है**—जगत की रचना कब हुयी, इसका ज्ञान मनुष्य की जानकारी से परे है। रचनाकार को ही इसके बारे में जानकारी हो सकती है, मनुष्य के वश की बात नहीं है। गुरू नानक ने स्पष्ट कहा है 'कवणु सु बेला वखतु कवणु कवण थिति कवणु वारु'।......थिति वारु ना जोगी जाणै रुति माहु ना कोई'। गुरू अर्जुन देव ने कहा है कि ईश्वर ही सृष्टि की रचना का काल जानता है—'नानक करते की जाने करता रचना।' निरंकार तो तब भी था। उसका वास सभी स्थानों पर समान रूप से था।

(3) **सृष्टि-निर्माण का क्रम**—गुरुग्रन्थ साहिब में विभिन्न स्थानों पर सृष्टि-क्रम का उल्लेख मिलता है। इस क्रम से सांख्य, और वेदान्त की धारणा से तुलना की जा सकती है, परन्तु साम्य होते हुए भी सिक्ख धर्म की इस सम्बन्ध में अपनी मौलिकता है। गुरुओं के अनुसार सृष्टि क्रम इस प्रकार है—"चरम सत्य परमात्मा की निर्गुणावस्था है। उसी निर्गुणावस्था को 'अकुर' ब्रह्म भी कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ 'अकुर' का अर्थ अभाव समझना भूल होगी। 'अकुर' शब्द से केवल नाम रूपात्मक व्यक्त स्वरूप या अवस्था का अभाव ही अपेक्षित है।"[1] ईश्वर की इच्छा से इसी निर्गुण या 'अकुर' ब्रह्म में 'हुकम' अवस्था का प्रादुर्भाव होता है—'हुकमे आवै हुकमे जावै हुकमे रहे समाई।' 'श्री गुरू ग्रन्थ दर्शनकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'हुकम' अवस्था का परमात्मा निर्गुण, निरंकार अथवा 'अंकुर' ब्रह्म नहीं रह जाता। इसी 'हुकम' अवस्था में क्रियाशीलता होती है, सभी पदार्थों तथा सभी जीवों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के अनन्त विस्तार उसके एक वाक्य (हुकम) से होते हैं। उसी के 'सबद' से उत्पत्ति और प्रलय होता है और प्रलय के पश्चात् फिर उत्पत्ति होती है। पुनः ज्यों ही 'हुकम' की उत्पत्ति होती है, त्यों ही 'हउमै' (अहंकार) की उत्पत्ति होती है। यही अहंकार जगत की उत्पत्ति का मुख्य कारण है।"[2] सारांश में सिक्ख धर्म के सृष्टि क्रम को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—सर्वप्रथम अकुर

---

1. श्री गुरू ग्रन्थ दर्शन—डॉ० जयराम मिश्र, पृ० 106
2. वही, पृ० 107;

ब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) फिर क्रमशः सकुर ब्रह्म (सगुण ब्रह्म), हउमैं (अहंकार), जीव (आत्मा), प्रकृति और उसके बीस विकार, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच महाभूत। यही सृष्टि निर्माण का क्रम है।

(4) **सृष्टि के गुण—**

(अ) सृष्टि अनन्त है—सिक्ख गुरूओं के अनुसार सृष्टि अनन्त है। गुरू नानक कहते हैं सृष्टि अनन्त है, असंख्य नाम हैं, असंख्य स्थान हैं। असंख्य लोक हैं, जो दृश्य और अदृश्य भी हैं।

(ब) जगत की विभिन्नता में एकता है—जगत विभिन्नता का ही नाम है। यदि विभिन्नता नहीं तो जगत का क्या महत्व ? जीवन-मरण, सुख-दुख, पाप-पुण्य प्रकाश-अन्धकार एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। परन्तु इन विरोधों के बीच भी एक ही सत्ता विद्यमान रहती है। सिक्ख गुरूओं ने इस सिद्धान्त को महत्व दिया है। गुरू अमरदास ने कहा कि 'खोटों और खरों' की रचना ईश्वर ने ही की है—

'खोटे खरे तुधु आपि उपाए'।

(स) जगत को अनादि माना है—जगत की रचना के सम्बन्ध में गुरुओं का कहना है कि इसका क्रम चलता रहता है। इसका क्रम अनादि है। जगत की रचना एक बार नहीं अनेक बार हुयी है। गुरू ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि 'कई बार पसारिओ पसार। सदा सदा इकु एकंकार' रचना अनन्त बार हुयी परन्तु ओंकार (ईश्वर) शाश्वत और अपरिवर्तनशील है।

(द) जगत सत्य है—सिक्ख धर्म में जगत को वेदान्तियों की तरह मिथ्या और भ्रम नहीं कहा है। इनके अनुसार जगत सत्य है। यदि ईश्वर सत्य है तो उसकी रची हुयी रचना भी सत्य है। कारण से कार्य उत्पन्न होता है। कारण ही कार्य में प्रकट होता है। यदि ईश्वर सत्य है तो उससे उत्पन्न जगत भी सत्य है।

कहीं-कहीं गुरूओं ने जगत को पानी का बुदबुदा, स्वप्नवत्, बालू की भीति आदि के समान भी माना है और कहीं-कहीं झूठा तथा मिथ्या भी कहा है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि संसार का अस्तित्व ही नहीं है। इन विशेषणों का तात्पर्य नश्वरता या संसार की क्षण-भंगुरता से है। गुरुओं ने तो संसार को प्रभु का घर माना है। कुछ लोगों ने तो इसे साक्षात् परमात्मा ही माना है—'एहु हरि का रूपु है।'

(य) जगत का अन्त है—सिक्ख गुरुओं ने जगत का अन्त स्वीकार किया है, परन्तु जगत का अन्त कब होगा, इसका कोई निश्चित समय नहीं निर्धारित है। इसके अन्तकाल को केवल ईश्वर ही जान सकता है। गुरुओं ने इस ओर संकेत अवश्य किया है कि ईश्वर अपनी इच्छा के अनुसार जगत को अपने में लीन भी कर लेता है—

'जिसते उपजै तिसते विनसै' या 'प्रभु ते होये प्रभ माहि समाति'।

(र) जगत सोद्देश्य है—सिक्ख धर्म में जगत को सोद्देश्य माना गया है। ऐसा नहीं है कि जगत की गति अंधकार में है। इसका एक निश्चित उद्देश्य है। मनुष्य को जगत का उद्देश्य नहीं ज्ञात है, क्योंकि वह 'हउमैं' (अहंकार) में स्थित है। जब वह अहंकार से निवृत्ति प्राप्त कर लेगा तो वह अपने वास्तविक स्वरूप या जगत के उद्देश्य को पहचान लेगा। जगत के उद्देश्य का अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर की कोई इच्छा है जिसे वह पूर्ण करना चाहता है। ईश्वर तो पूर्ण है उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं है।

सिक्ख धर्म में मनुष्य की अवधारणा

सिक्ख धर्म में मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है—सिक्ख धर्म में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। ईश्वर की विशिष्ट चेतनता मनुष्य में सर्वोत्कृष्ट रूप में पायी जाती है। गुरुओं ने मनुष्य योनि को सर्वोत्कृष्ट योनि माना है। यह योनि बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। यह अनेक जन्मों का फल है। 'माणसु जनम गुरमुखि पाइआ।' चूंकि यह जन्म बार-बार नहीं मिलता। अतः इसके प्राप्त होने पर मनुष्य को मुक्ति का प्रयास अवश्य करना चाहिए। यही योनि मुक्ति की सीढ़ी मानी गयी है। 'मानस देह बहुरि नहिं पावहि कछु उपाउ मुकुति का करूरे।'

गुरूनानक ने मानव जीवन को विभिन्न अवस्थाओं में बाँट कर बताया है कि मनुष्य की आयु व्यर्थ में न जाय। उसे मुक्ति का उपाय करना चाहिए। अवस्थाएं छः बतायी गयी हैं—गर्भावस्था, बाल्यावस्था। यदि मनुष्य अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर लेता तो ये सारी अवस्थाएँ व्यर्थ हो जाती हैं और अन्त में यह सिद्ध हो जाता है कि यह संसार धुएँ के समान नश्वर है।

मनुष्य की प्रकृति—मनुष्य में जड़ और चेतन दोनों तत्वों का योग है। मनुष्य जड़ तत्व से बन्धन में आता है और चेतन तत्व से मुक्ति को प्राप्त करता है। गुरुनानक ने इसे एक रूपक से समझाया है—कमल और मेढक दोनों निर्मल जल में रहते हैं और इनके साथ सिवार भी है, परन्तु मेढक सिवार खाता है जब कि कमल सिवार से निर्लिप्त रहता है। यह वृत्ति पर निर्भर है। मेढक की तमस वृत्ति है। कमल सिवार के संग दोष से कभी प्रभावित नहीं होता, जबकि मेढक तमोगुण का आश्रय लेता है। इस प्रकार मनुष्य की प्रकृति में ही ईश्वर के वियोग और मिलन के उपादान हैं।

मनुष्य ईश्वर से विलग क्यों है—मनुष्य ईश्वर से अलग क्यों है, इसके क्या-क्या कारण हैं? इस पर गुरुओं ने अपना निर्णय अनुभूति के आधार पर दिया है। साथ ही आडम्बरपूर्ण परम्पराओं को भी दोषी ठहराया है।

'मनमुख' और 'साकत' के अहंभाव वाले कर्म ही मनुष्य को ईश्वर से अलग करते हैं। 'मनमुख' मनुष्य वह है जो अहंकारयुक्त तथा मायासक्त मन से कर्म करते हैं।

मन के दो रूप हैं, एक अहंकार से युक्त मन और दूसरा 'ज्योतिर्मय मन'। जो मनुष्य 'ज्योतिर्मय' मन से कर्म करता है वह 'मनमुख' नहीं होता। 'मनमुख' व्यक्ति काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार से ग्रसित रहता है। परम-हितैषी गुरु के 'सबद' में उनकी वृत्ति (सुरति) नहीं लगती। वे साधु-संगति का 'सहजानन्द' नहीं भोगते। वे अन्धकार में आँख बन्द करके चलते हैं। उन्हें अपना घर (आत्मा का घर) दिखाई नहीं देता। अन्त में यमराज से दण्ड पाते हैं और अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

'साकत' पुरुष भी अहंकार और माया से युक्त कर्म करते हैं। 'मनमुख' और 'साकत' में नाम का भेद है। 'साकत' भी मूर्ख तथा अज्ञानी है। 'साकत' मनुष्य ईश्वर से जो कुछ भी पाता है, उसके प्रति कृतज्ञ नहीं होता।

इस प्रकार ईश्वर से मनुष्य का अलग होना 'मनमुख' अथवा 'साकत', 'हउमै' (अहंकार) और माया के कारण होता है। मुख्य कारण 'मनमुख' होना ही है।

मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर सकता है—यद्यपि मनुष्य में प्रकाश और अन्धकार का मिश्रण है, फिर भी सिक्ख गुरुओं ने आशावादी दृष्टि व्यक्त करते हुए कहा है कि मनुष्य का शरीर अत्यन्त पवित्र है उसमें ईश्वर का वास रहता है। शर्त यह है कि मनुष्य 'गुरुमुख' हो जाय। 'गुरुमुख' 'मनमुख' के विपरीत है। गुरुमुख वह मनुष्य है जो गुरु के निर्देशन में कर्म करता है। उसकी आज्ञाओं का पालन करता है। गुरुमुख व्यक्ति सत्वगुणयुक्त हो जाता है। पाप वृत्तियाँ और अहंभाव नष्ट हो जाते हैं। जब मनुष्य को बोध हो जाता है कि ईश्वर उसके भीतर निवास करता है, तो उसकी पाप-वृत्ति नष्ट हो जाती है। फिर तो वह ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है।

मनुष्य का शरीर ईश्वर का मन्दिर है, शरीर में अमृत का वास है—गुरुओं ने मनुष्य के शरीर को ईश्वर का मन्दिर कहा है, इसमें ज्ञान रूपी रत्न है। जंगलों में ईश्वर को खोजने के बजाय अपने शरीर में ही ईश्वर को प्राप्त करो। शरीर में ही अमृत का वास है। ईश्वर ही वह अमृत है जो शरीर में है। वह अमृत है, अमर है। उसे पाने पर मनुष्य मरणशील नहीं रहता। गुरुओं ने ईश्वर को ज्योति माना है। शरीर में ईश्वर की ज्योति है। उस ज्योति को प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। गुरुओं ने यहाँ तक कहा कि इस शरीर के अन्तर्गत सब कुछ है। इसका अभिप्राय यह है कि इसके भीतर घट-घट में रमण करने वाले प्रभु राम हैं, उन्हें ही सत्य समझो। शरीर में अहंभाव नहीं रखना चाहिए, यह तो नश्वर है।

मनुष्य और ईश्वर अभिन्न हैं—वैसे तो मनुष्य ससीम, अल्पज्ञ, शक्तिहीन और गुणहीन है परन्तु जब वह ईश्वर से एकाकार की स्थिति प्राप्त कर लेता है, 'त्रिपुटी' (ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय) का भाव अथवा (ध्याता, ध्येय, ध्यान) का भाव मिट

जाता है तब वह साक्षात् परमात्मा का रूप हो जाता है। फिर ईश्वर और मनुष्य में अभेद हो जाता है।

'जिह घट सिमरनु राम को, सो नर मुकता जानु।
तिहि नरु हरि अंतरु नहीं, नानक सची मानु।।"

यह तभी संभव है जब मनुष्य 'मनमुख' से 'गुरुमुख' बन जाय। अशुभ की उत्पत्ति का कारण 'हउमै' है, इससे ही व्यक्ति 'मनमुख' होता है। इससे बचने से ही अशुभ से मुक्ति मिल सकती है।

मृत्यु से परे का जीवन

सिक्ख धर्म भी हिन्दू धर्म की भाँति कर्म के सिद्धान्त पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। इसमें भी यह मान्यता है कि मन अथवा आत्मा अमर है। यह शरीर नश्वर है। शरीर के नष्ट (मृत्यु) हो जाने पर मनुष्य अगले जन्म में अपने कर्मों के अनुसार दूसरे शरीर को धारण करता है। सिक्ख धर्म में इसका बहुत स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि किस कर्म से किस प्रकार का शरीर मिलता है, फिर भी इतना तो उल्लेख मिलता ही है कि कर्मों के अनुसार पुनः जन्म होता है। गुरु ग्रंथ में कहा गया है कि 'माया के वश में होकर जीव अनेक पापों को करता है। उसके पापों का भण्डाफोड़ हो जाता है और यमराज के दूत बाल पकड़कर कष्ट देते हैं। वह अनेक तमोगुणी योनियों में (पशु, प्रेम, ऊँट, गधे) पड़ता है—

'पसु परेत उसट गरधभु अनेक जोनी लेट।' जीव कभी वृक्ष, कभी पक्षियों की योनि में भी जाता है, फिर कभी सर्प की योनि में जाता है—

'केते रुख विरख हम चीने, केते पसू उपाए।
केते नाग कुली महि आए, केते पंख उड़ाए।।"

स्पष्ट है कि मनुष्य अपने बुरे कर्मों के कारण ही अनेक योनियों में जन्म लेता है और यदि धार्मिक कर्म करता है, वह आवागमन के चक्र से छूट जाता है तथा ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

सिक्ख धर्म में हिन्दू धर्म तथा ईसाई धर्म की तरह इसका भी उल्लेख मिलता है कि मृत्यु के बाद धर्मराज जीव के कर्मों का लेखा-जोखा भी करते हैं कि उसने कितने अच्छे या कितने बुरे कर्मों को किया है। उसी के अनुसार उसे छोड़ा जाता है या बन्धन में पुनः डाला जाता है। यमलोक का भी उल्लेख मिलता है। इसमें कर्मों के अनुसार ही नरक की यातना मिलती है। यहाँ यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि नरक कोई ऐसी जगह है, जहाँ जीव को सदैव के लिए रहना पड़ता है। या नरक की यातना पाने के बाद पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। चूँकि सिक्ख धर्म पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार करता है, इससे यही प्रतीत होता है कि जीव को कुछ समय

तक नरक में रहना पड़ता है और पुनः वह दूसरा जन्म धारण करता है। जो कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके किये गये कर्मों का फल मिलता ही है। यदि वह बुरे कर्म करता है तो दुःख पाता है, नरक की स्थिति का सामना करता है और यदि शुभ कार्य करता है तो आवागमन के चक्र से छुटकारा पाता है और ईश्वर से एकाकार की स्थिति को प्राप्त करता है।

सिक्ख धर्म में मानव की परमागति—आत्मोपलब्धि है

सिक्ख धर्म के अनुसार मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य या परमागति आत्मोपलब्धि है। यही परम पुरुषार्थ है, यही मोक्ष है। अर्थात् जीवन और मृत्यु बन्धन से छुटकारा प्राप्त करना है और ईश्वर से एकाकार की स्थिति प्राप्त करनी है। परन्तु ईश्वर से एकाकार की अवस्था क्या है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। इस सम्बन्ध में सिक्ख गुरुओं ने दो स्थितियों का उल्लेख किया है—एक तो ईश्वर के समान हो जाना कहा है और दूसरे ईश्वर में विलीन हो जाने की बात की है। 'समाना' के प्रयोग से आत्मा का ईश्वर में समहित होना भी स्पष्ट होता है और 'समान' होना भी माना जा सकता है। 'श्री गुरु ग्रन्थ दर्शन' में रचनाकार ने गुरुनानक के एक पद का अर्थ आत्मा का ईश्वर में विलीन होने से लगाया है और यही मोक्षावस्था है। यही मनुष्य की परमागति है। गुरुनानक के इस पद से आत्मा और परमात्मा के मिलन की बात इस प्रकार की गयी है—

'मिलि जलु जलहि खटाना राम।
संगि जोती जोति मिलाना राम ॥'

पद में आगे जो कहा गया है उसका भाव यह है कि "जिस प्रकार जल से जल मिलकर तदाकार हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा के अन्तर्गत परमात्मा की रखी हुयी वह ज्योति परमात्मा के साथ मिलकर तदाकार हो जाती है। नमक की डली समुद्र का थाह लेने के लिए जाती है, परन्तु वह समुद्र में मिलकर अपना नाम और रूप खो बैठती है और समुद्र रूप हो जाती है। भला बताइए वह समुद्र की बात किससे कहे? ठीक इसी भाँति साधक भी पूर्ण, कर्ता पुरुष के साथ मिलकर अपना नामरूप खो बैठता है। परमात्मा के इस मिलन की दशा को चाहे 'शून्य' के नाम से पुकारिये अथवा 'सहज समाधि' के नाम से वास्तव में है दोनों एक ही। वह स्वयं ही अपने को बतला सकता है। वह परमात्मा के साथ मिलकर एक हो जाता है, उसके सारे संशय, भ्रम तथा भय निवृत्त हो जाते हैं और तीनों गुण भी इसी पार रह जाते हैं। वह उनसे परे हो जाता है।"[1] सिक्ख धर्म में इस ओर भी संकेत किया गया है कि यदि मनुष्य वासनाओं और कामनाओं से छूट गया है। पवित्र हो जाता है तो आंशिक मुक्ति यहीं मिल जाती है और पूर्ण मुक्ति शरीरान्त के पश्चात्

1. वही, पृ० 253-54,

होती है—जब आत्मा ईश्वर में लीन हो जाती है। यह धारणा संदेह तथा विदेह मुक्ति से मिलती-जुलती है।

आत्मोपलब्धि या मोक्ष के उपाय (मार्ग)

मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने के लिए सिक्ख धर्म में अनेक मार्गों और उपायों की चर्चा की गयी है। इसके लिए सर्वप्रथम मनुष्य 'मन' को वश में करे अर्थात् 'मनोभारण' उपाय है। गुरुओं ने दो प्रकार के मन के विषय में बतलाया है, एक अहंकार युक्त मन दूसरा ज्योतिर्मय मन। ज्योतिर्मय मन में ही आध्यात्मिक निहित है। अहंकार युक्त मन मोहिनी भाषा से आच्छादित रहता है। इसी से व्यक्ति बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेता रहता है। यह चंचल है। इसमें काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार रहते हैं। इसी मन को जब तक वशीभूत नहीं कर लेंगे तब तक आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकते। यह मन जब तक नहीं मरता तब तक आगे नहीं बढ़ सकते—

'ना मनु मरै न कारज होइ'

ऐसे अहंकारयुक्त को मारना होगा। मनोमारण की अनेक विधियाँ बताई गयी हैं। जैसे—

(1) **अहंकारयुक्त मन को ज्योतिर्मय मन का स्वरूप समझा जाय**—अर्थात् अहंकारयुक्त मन को अपनी संकीर्णता, दु:खों, दोषों आदि का पूर्ण रूप से बोध हो जाय। फिर ज्योतिर्मय मन की पहचान होगी। वह ज्योतिर्मय मन जो अमृतकुण्ड है। यह अगम रूप का स्थान है।

(2) **मन से मन को मनवाना**—गुरुओं ने बताया है कि ज्योतिर्मय मन से अहंकारयुक्त मन वश में होता है। फिर अहंकारयुक्त मन ज्योतिर्मय मन में बदल जाता है। मन (अहंकारयुक्त) मन में (ज्योतिर्मय) में समा जाता है; अर्थात् मन से मन मानता है—'मन ही ते मनु मानिआ'।

(3) **सांसारिक विषयों में वैराग्य**—गुरुओं ने वैराग्य भावना को मनोमारण का महान साधन माना है।

(4) **दुष्ट की संगति का त्याग**—मनोमारण का उपाय है कि दुर्जन; दुष्ट लोगों का साथ छोड़ दिया जाय।

(5) **साधु-संगति**—जब साधु-संगति होती है तब मन के मोह, भ्रम, अज्ञान, क्रोध सभी मिट जाते हैं।

(6) **सत्य आचरण**—मन को समझाने के लिए सत्य आचरण आवश्यक है। गुरुओं ने कहा है—ऐ मन सदैव सत्य को ही सँभाल। इसी से तू ज्योतिर्मय मन में सुखपूर्वक बसेगा।

(7) **सतगुरु का महत्व**—अन्त में सद्‌गुरु की महत्ता यह है कि बिना गुरु के मन टिकता ही नहीं। गुरु के आदेश के अनुसार कार्य करने से मन भटकता नहीं। इसीलिए कहा गया है कि—'नाचु रे मन गुर के आगे' या कहा गया कि—'बिनु गुर मनुआ न टिकै, फिरि, फिर जूनी (योनि) पाइ'।

(8) **ईश्वर की शरण लेना**—गुरुनानक देव ने कहा है कि यदि मन ईश्वर की शरण नहीं लेता तो वह भटकता फिरता है। अत: उसे शान्ति पाने के लिए उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। ईश्वर-शरण ग्रहण करने का तात्पर्य गुरुओं ने ईश्वर के नाम की शरण लेने से माना है। मन ईश्वर के नाम बिना मछली, भ्रमर, हाथी दायुर के समान भटकता रहता है।

मनोमारण का परिणाम—मन निरोध या मन वश में करने का परिणाम यह होता है कि मन शान्त हो जाता है, ईश्वर की अनन्तता का साक्षात् प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह परमात्मा स्वरूप हो जाता है।

सिक्ख धर्म में मनोमारण से ईश्वर की प्राप्ति के उपाय के अतिरिक्त हिन्दू धर्म की तरह कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग तथा योग मार्ग को भी मोक्ष प्राप्त करने का उपाय बताया गया है।

कर्म मार्ग—मनुष्य अनेक दृष्टियों से अनेक प्रकार के कार्य करता है और उन कर्मों से अपने को बन्धन में ही डालता है, परन्तु कुछ कर्म सिक्ख गुरुओं के अनुसार ऐसे भी हैं जिन्हें मोक्षप्रद कर्म कहा जाता है। ये तीन प्रकार के कर्म हैं—हरि-कीरत कर्म, अध्यात्म कर्म, हुकम-रजाई कर्म।

हरि-कीरत कर्म—पिछले जन्म के कर्म (कीरत कर्म) का फल भोगना पड़ता है। पूर्व जन्मों का लेख मिटाने से भी नहीं मिटता। इसका फल भोगना ही पड़ता है। इससे मुक्ति गुरु ही दिला सकता है। इसकी दुरूहता मेटने में 'हरि कीरत कर्म' ही समर्थ है। ईश्वर के नाम का गुणगान ही 'कीरत कर्म' के मलों को धो सकता है।

अधि-आतम कर्म (अध्यात्म कर्म)—मोक्ष प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले सभी कर्म, उपासनाएँ, सभी आचार-व्यवहार अध्यात्मिक कर्म कहलाते हैं। इसमें स्नान, दान, कामादि को मारना, गुरु में विश्वास, जप, तप, सत्य आचरण जीवों के प्रति दया, सहज वृत्ति धारण करना, नाम कीर्तन करना आदि अध्यात्म कर्म के रूप में आते हैं।

हुकम-रजाई कर्म—मोक्ष प्राप्त करने के लिए हुकम रजाई कर्म करना चाहिए। ये वे कर्म होते हैं जो ईश्वर की आज्ञा, इच्छा या मर्जी से किये जाते हैं। शुद्ध हृदय वाले ईश्वर की आज्ञा अपने अन्त:करण में सुनते हैं और उसके अनुसार कार्य करते हैं। यह कर्म अपने से नहीं होता। इसके लिए गुरु की कृपा, ईश्वर की अनुकम्पा तथा साधक के हृदय की पवित्रता आवश्यक है।

हुकम-रजाई कर्म का रहस्य इस बात में है कि इसमें ईश्वर की 'रजा' (God's Will), मनुष्य की इच्छा (Man's freedom of the Will) तथा उसकी क्रियाशक्ति मिली हुयी है। यह कर्म-बन्धन कारक नहीं है। इससे मोक्ष का द्वार खुल जाता है। यह ज्ञान की उच्चावस्था है। यह 'ब्राह्मी स्थिति' है। यह स्थिति 'मन से राम और हाथ से काम' करने की स्थिति है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सिक्ख धर्म में 'कर्म त्याग' करने को नहीं कहा गया है। इसके विपरीत कर्मों को विधिवत करना है। इसका प्रमाण सिक्ख धर्म के गुरुओं के जीवन और कार्यों से मिलता है। यह कर्म ज्ञान, भक्ति का समन्वय है। इसमें भक्तिभावना निहित है। बिना भक्ति के हुकम रजाई कर्म सम्भव नहीं। फिर तो कर्म अहंकारयुक्त होंगे तथा पाखण्डपूर्ण भी। गुरु अर्जुन ने कर्म को महत्व देते हुए प्रबोधन दिया है कि—'हे प्राणी ! उद्यम करके कमाओ जीवन में सुख प्राप्त करो। प्रभु का ध्यान करो, उनका साक्षात्कार करो। इससे सारी चिन्ताएँ मिट जाएँगी—

'उदम करेदिआ जीउ तूं कमावदिआ सुखभुंचु।
घिआइदिआ तू प्रभु मिलु नानक उतरी चित ॥'

ज्ञान मार्ग—सिक्ख गुरुओं ने ज्ञान के दो भेद बताये हैं—एक वाचक या चंचु ज्ञान या मौखिक ज्ञान, दूसरा आत्म ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान या तत्व ज्ञान। केवल वाचक ज्ञान से ईश्वर का बोध नहीं होता। वाचक ज्ञानी के कार्य अहं बुद्धि से होते हैं। अतः ऐसे ज्ञान की निन्दा की गयी है। परन्तु ब्रह्म ज्ञान जो वास्तविक ज्ञान है उसकी गुरुओं ने प्रशंसा की है। सत्य ईश्वर में निरन्तर रमण करना ही ज्ञान है। इस ज्ञान से ज्योति में ज्योति अर्थात् आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। ज्ञान मार्ग से ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसके लिए गुरुओं ने निम्नलिखित साधन बतलाया है—विवेक, वैराग्य, श्रद्धा, श्रवण, मनन और निदिध्यासन, अहंकार त्याग, परमात्मा और गुरु की कृपा। गुरुओं ने विवेक का अर्थ बताया है कि अविनाशी ईश्वर में निष्ठा तथा सांसारिक विषयों की अनश्वरता की अनुभूति विवेक है। गृहस्थी छोड़कर भीख माँगना वैराग्य नहीं है। आन्तरिक त्याग ही वैराग्य है। वाह्य त्याग पाखण्ड है। इसकी गुरुओं ने भर्त्सना की है। सन्तों के प्रति, गुरु के प्रति तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए तभी ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। ज्ञान के लिए श्रवण भी आवश्यक है, अर्थात् ईश्वर के गुणों का श्रवण करना। ज्ञान, ध्यान तथा प्रभु के नाम में मन श्रवण से ही लगता है। श्रवण के पश्चात मनन एवं निदिध्यासन आता है। ब्रह्म का तदाकार भाव से चिन्तन करना ही मनन है और व्यवधान रहित ईश्वर का चिन्तन ही निदिध्यासन है। ईश्वर का नाम मनन करने से मोक्ष का मार्ग मिलता है। शरीर के भीतर ही आत्मा और परमात्मा दोनों का निवास है, परन्तु अहंकार के कारण दोनों का मिलन नहीं हो पाता। अतः आवश्यक है कि अहंकार का त्याग किया जाय और अन्त में गुरु तथा ईश्वर की कृपा भी मोक्ष

के लिए आवश्यक है। ज्ञान तभी प्राप्त होगा जब इन सभी साधनों से चलेंगे। ईश्वर ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य और ईश्वर में कोई भेद नहीं रह जाता—

'जिनी आतम चीनिया परमातमु सोई'।

फिर तो मनुष्य ब्रह्म ज्ञानी हो जाता है, वह कभी नहीं मरता। वह ब्रह्म ज्ञानी सभी जीवों का स्वामी होता है।

ब्रह्म ज्ञानी और प्रवृत्ति मार्ग—सिक्ख गुरुओं के अनुसार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् मनुष्य चाहे गृहस्थी के काम में रहे चाहे विरक्ति की स्थिति में रहे, दोनों में ही श्रेष्ठ होता है। गुरुओं के अनुसार ऐसा ब्रह्म ज्ञानी गृहस्थ धर्म का ऐसे ही पालन करता है जैसे कमल पानी में रहता है, परन्तु उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग में कोई विरोध नहीं है।

भक्ति मार्ग

सिक्ख धर्म में जहाँ एक ओर कर्म मार्ग तथा ज्ञान मार्ग को स्थान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर भक्तिमार्ग के विषय में बताया गया है कि बिना भक्ति के किसी भी मार्ग की साधना निष्प्राण होती है। गुरुओं ने रागात्मिका भक्ति (प्रेम भक्ति) को माना है परन्तु वैधी भक्ति का खण्डन किया है। अर्थात् विधि-विधान, तिलक, माला, प्रतिमा पूजन, धूप-दीप आदि की निस्सारता को प्रदर्शित किया है। इन्हें पाखण्डपूर्ण बताया है। प्रेमाभक्ति को महत्वपूर्ण माना है। प्रेमा भक्ति का अर्थ है ईश्वर के विषय में निरन्तर पढ़ना, लिखना, जपना, रात-दिन उन्हीं के गुणगान करना। मनसा-वाचा-कर्मणा उन्हीं का ध्यान करना, मन में बसाना ही प्रेमा भक्ति का लक्षण है। इसमें प्रेम और विरह दोनों का महत्व है। इसमें ईश्वर से कई रूपों में सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ईश्वर को माता-पिता समझना, अपने को ईश्वर का सेवक समझना, सखा, पत्नी आदि समझकर ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ना, प्रेमा भक्ति के उदाहरण हैं। गुरुओं ने इन सम्बन्धों से ईश्वर की भक्ति की है।

ईश्वर के विस्मरण से जीव की चूँकि अनेक दुर्दशाएँ होती हैं अतः जीव का लक्ष्य होना चाहिए कि वह ईश्वर से भक्ति करे। इसी से जीवन सार्थक होता है। ऐसी भक्ति के लिए गुरुओं ने निम्नलिखित साधनों को बताया है—1. सद्गुरू की प्राप्ति और उसकी कृपा प्राप्त करना तथा उसके उपदेशों का उपयोग करना। 2. नाम स्मरण-सिक्ख धर्म में ईश्वर नाम के स्मरण पर अत्यधिक बल दिया गया है। नाम निर्गुण रूप के भी हैं और विष्णु अवतार सम्बन्धी नाम भी पाए जाते हैं। 'वाहिगुरु' सिक्खों में खालसा के निर्माण के साथ प्रचलित हुआ। यह मन की एक विस्मय की अवस्था का द्योतक है। यह कोई संज्ञक नाम नहीं है। इनका जप करना सिक्खों में आवश्यक माना गया है। 3. सत्संगति और साधुसंग—सभी मार्गों में

सत्संगति का महत्व माना गया है। इससे मलों का और अहंकारों का नाश होता है। ईश्वर प्रेम बढ़ता है। सत्संगति और संतों तथा साधुओं की सेवा से भक्ति मिलती है। 4. ईश्वर का भय—गुरुओं ने ईश्वर के भय को संसार-सागर से पार जाने के लिए आवश्यक माना है। ईश्वर का भय सम्पूर्ण सृष्टि को है। ईश्वर का भय मानने से किसी और का भय मानने की आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ भय का अर्थ हौवा नहीं है। भय का अर्थ ईश्वर के शासन से है। ईश्वर का शासन स्वीकार करना पड़ेगा भय और भक्ति ईश्वर प्राप्ति के साधन हैं—'बिनु भै भगति तरनु कैसे।' 5. ईश्वर का हुकम—ईश्वर का 'हुकम' (इच्छा) मानने से ही मनुष्य का कल्याण संभव है। मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा समाहित कर दे फिर उसका अहंभाव मिट जाएगा, वासनाएँ शान्त हो जाएँगी। इसमें नियतिवाद और अनियतिवाद का समन्वय किया गया है। ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा मिला दे। 6. दृढ़ विश्वास—भक्ति का साधन है ईश्वर और उसकी इच्छा में दृढ़ विश्वास। सभी नाते, रिश्ते ईश्वर से हैं। ऐसे दृढ़ विश्वास से भक्ति बढ़ती है। विश्वास बढ़ने से केवल ईश्वर का सहारा रहता है। भक्तों की रक्षा भगवान् करता है। 7. दैन्यभाव–यह भावना हृदय की सरलता और निष्कपटता प्रकट करती है। अभिमान नष्ट होता है। भक्ति बढ़ती है। 8. आत्म-समर्पण—भक्ति का उपकरण आत्म-समर्पण भी है। बिना इसके भक्ति का रस नहीं मिलता। ईश्वर के ऊपर अपने को छोड़ देना या अपने को सौंप देना ही आत्म-समर्पण है। 9. ईश्वर का स्मरण और कीर्तन—स्मरण का अर्थ है सोते, उठते, बैठते, चलते ईश्वर का स्मरण करना चाहिए। इससे चिन्ता मिटती है। भक्ति दृढ़ होती है। क़ीर्तन ईश्वर का गुण-गान है। इससे हृदय उद्वेलित होता है। भक्ति प्राप्ति का अद्वितीय साधन है। 10. प्रभु-कृपा—ईश्वर की कृपा सभी साधनों में सर्वोपरि है। सभी साधन हो परन्तु ईश्वर की कृपा न हो तो सभी निरर्थक होते हैं। यही सभी साधनों की जननी है। वैराग्य, भक्ति, मुक्ति सभी ईश्वर की कृपा से मिलते हैं।

भक्ति प्राप्त होने पर सुन्दर परिणाम मिलता है। भक्ति की पराकाष्ठा प्रेमा-भक्ति है। यही सच्ची भक्ति है। एक सच्चे भक्त में और ब्रह्मज्ञानी, जीवन मुक्त और निष्काम कर्मयोगी में कोई भेद नहीं रह जाता। जीवन का लक्ष्य भक्ति से सुलभ हो जाता है।

योग मार्ग

मोक्ष की प्राप्ति के लिए योग मार्ग भी एक साधन के रूप में स्वीकृत है। सिक्ख धर्म में भी गुरुओं की वाणी में हठयोग के अनेक शब्द जैसे—'गगनि' 'अमृत धारि', 'दसम दुआरि', 'अनहद वाणी' आदि मिलते हैं। इससे कुछ सिक्ख आचार्यों ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सिक्ख-गुरुओं में योग की भावना पायी जाती है। परन्तु डॉ० जयराम मिश्र का विचार है कि "योग के प्रति गुरुओं की अपार

श्रद्धा है अवश्य पर उन्हें हठयोग की सारी प्रक्रियाएँ मान्य नहीं हैं। बिना भक्ति के हठयोग त्याज्य है। गुरुओं की दृष्टि में प्राणायाम, नेवली आदि कर्म बिना भक्ति के शारीरिक व्यायाम मात्र हैं। भक्तिहीन योग निष्प्राण और तत्वहीन है। बिना भक्ति के योग अहंकार-युक्त, पाखण्डपूर्ण और नीरस है। शरीर भाव की प्रधानता के कारण इसमें परमात्मा की प्राप्ति का विलक्षण आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। गुरुनानक ने योग की असार्थकता सिद्ध की है।"[1]

'राम नाम बिनु बिरथा सासु लीजै।'

लेखक ने यह सिद्ध किया है कि सिक्ख गुरुओं ने व्यवसाय पूर्ण और पाखण्ड-युक्त योग के प्रति विरोधी भाव व्यक्त किया है।

वास्तविक योग—गुरुनानक ने बताया है कि 'योग न तो कंथे में है, न दण्ड में, न भस्म रमाने में, न कानों में मुद्रा धारण करने में और न शृंगी बनाने में। वास्तविक योग तो यह है कि माया के बीच रहते हुए निर्लेय हरि में समाया रहे'।[2] निःसन्देह रूप में सिक्ख गुरुओं ने योग के प्रति आस्था व्यक्त की है, परन्तु जहाँ तक हटयोग की बात है, उसकी कठिन साधनाओं को गुरुओं ने महत्वपूर्ण नहीं माना है। हटयोग के स्थान पर सहजयोग को महत्व दिया है। गुरुनानक ने स्पष्ट रूप में घोषणा की कि बिना 'नाम' के योग की सिद्धि नहीं हो सकती। 'नामजप' से ही शून्य-समाधि, (असंप्रज्ञात समाधि) ब्राह्मी स्थिति, 'अनाहत शब्द की गूँज स्थिति आती है। तभी सहजावस्था आती है। यह गुरुओं की अनुभूति से सिद्ध होता है। इसके साधन है—सद्‌गुरु की प्राप्ति, ईश्वर की भक्ति तथा नाम जप।

सहज-योग—गुरुओं ने जिस वास्तविक योग की ओर संकेत किया है वह है सहज योग। सहज का अर्थ स्वाभाविक रूप में होने वाले को कहा जाता है। गुरु अर्जुन देव ने सहजयोग के विषय में बतलाया है कि 'सोना, जागना सहज ही भाव में होना चाहिए। सहज भाव से जो कुछ भी होता जाय, उसे होने दो, इसमें तनिक भी वृत्ति इधर-उधर न करनी चाहिए। सहज भाव का वैराग्य, सहज भाव का हँसना सहज भाव का मौन, सहज भाव का जप होना चाहिए। इसी प्रकार जीवन के सारे व्यवहार, सारे कर्म, सारी साधनाएँ, सारे आचार-विचार, सहज भाव में होने चाहिए।"[3]

सहज-योग के साधन—सहजावस्था की प्राप्ति के लिए गुरुओं ने प्रमुख साधनों को आवश्यक माना है। जैसे ईश्वर की प्रेमाभक्ति, सद्‌गुरू की कृपा और अपना

---

1. श्री गुरुग्रन्थ दर्शन, पृ० 235
2. वही, 238
3. वही, 250

प्रयास । पौरुष या अपना प्रयास इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति को गुरु की तलाश करनी पड़ती है तथा दुर्मति का त्याग करना पड़ता है। सबसे बड़ा साधन नाम में आस्था और जप । सारांश में नाम में आस्था और जप, सद्गुरु की प्राप्ति, गुरु की वाणी (सबद) के अनुसार आचरण, विषयों का त्याग और गुरु में श्रद्धा और विश्वास सहजावस्था की प्राप्ति के साधन हैं।

सहजयोग की प्राप्ति का परिणाम यह होता है कि इससे निर्वाण पद की प्राप्ति होती है। गुरुओं ने इसे मोक्ष पद, तुरीय पद, तत्व ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान आदि कहा है। सहजावस्था का आनन्द वर्णनातीत है। सिक्ख धर्म की साधना का यह चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है। इसमें सारे योग समाहित हैं।

सिक्ख धर्म पर विचार करने से इसके दो सर्वोपरि तत्वों पर दृष्टि जाती है, जिसे बताना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम सद्गुरु का महत्व और दूसरा ईश्वर नाम में निष्ठा। 'गुरुग्रंथ साहब' में सद्गुरु की महत्ता बतायी गयी है। यहाँ तक कि सद्गुरु और ईश्वर में अभिन्नता है। ईश्वर और जीव के बीच सम्बन्ध कराने वाला या मध्यस्थता कार्य सद्गुरु ही करता है। सद्गुरु की पहचान या उसके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—सद्गुरु वह है जिसने सत्य को पा लिया है। जिसके मिलने से तन, मन शीतल हो जाता है। सद्गुरु समान भाव रखता है। वह निन्दा और स्तुति में समान होता है। वह ब्रह्म विचार में निमग्न रहता है। ऐसा गुरु ईश्वर में दृढ़ निश्चय कराता है और सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह कि वह 'नाम' की प्राप्ति कराता है।

ऐसे सद्गुरु के लिए शिष्य का क्या कर्तव्य है, इसे भी बताया गया है। जैसे शिष्य-गुरु से सम्बन्ध पिता, माता, भाई, सखा, सहायक के रूप में रखे। सद्गुरु से शिष्य को कुछ छिपाना नहीं चाहिये। कहा गया है कि जिन्होंने गुरु से अपने को छिपाया है, वह बुरे हैं। उनको देखना वर्जित है, वे पापी हैं। सद्गुरु की वाणी (सबद) शिक्षा में विश्वास और उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। शिष्य को गुरु के प्रति आत्म-समर्पण करना चाहिए। ऐसे गुरु की विविध रूप में सेवा करनी चाहिये। गुरु की सेवा और उसमें विश्वास का फल यह होता है कि शिष्य को अमृत रस प्राप्त होता है। हृदय में नाथ का निवास होता है। अहंकार का नाश होता है। शाश्वत भक्ति प्राप्त होती है। निर्वाण की प्राप्ति होती है।

नाम महिमा—पवित्र ग्रंथ में ईश्वर-नाम की महिमा का भी वर्णन मिलता है। ग्रंथ में ईश्वर के तीन प्रकार के नाम मिलते हैं हिन्दू नाम, मुसलमानी नाम और नवीन नाम। हिन्दू नाम के निर्गुण और सगुण दोनों नाम मिलते हैं—जैसे अच्युत, निरंकार, निर्गुण, सर्वाधार, स्वयंभू, अकाल मूर्ति आदि निर्गुण नाम मिलते हैं और दामोदर, मधुसूदन, हरिमोहन, मुरारी, राम, श्रीधर, गोपाल, केशव आदि सगुण नाम भी मिलते हैं।

मुसलमानी नामों में करीम, रहीम, मौला, खुदा, पीर, शेख, अल्लाह आदि का प्रयोग मिलता है। नवीन नामों में मित्र, मीत, प्रीतम, सजण, यार आदि प्रेम सम्बन्ध व्यक्त करने वाले नाम मिलते हैं। वीर भाव को व्यक्त करने वाले नाम असिपाण, महानकाल, महालोह, सर्वकाल आदि नाम हैं।

सिक्खों में बहुत प्रचलित नाम 'वाहिगुरु' मिलता है। यह वैसे ही प्रचलित नाम है जैसे 'अल्लाह' या 'राम'। 'वाहिगुरु' ईश्वर साक्षात्कार के समय गुरु की आन्तरिक अवस्था का सूचक है। यही नाम गुरु के मुख से आश्चर्य में निकलने के कारण जप करने के लिए आवश्यक मान लिया गया। नाम जप तीन प्रकार से किया जाता है—साधारण जप, अजपा जप और लिवजप। साधारण जप जिह्वा जप है, अजपा जप श्वास प्रश्वास से होने लगता है। जिह्वा जप की आवश्यकता नहीं होती। पराकाष्ठा तब होती है जब लिव-जप होने लगे। यह सहज भाव से होता है। नाम की प्राप्ति सद्गुरु से होती है। निर्मल मन का होना भी आवश्यक है। 'नाम' से सांसारिक और परमार्थिक दोनों फल मिलते हैं।

सिक्ख धर्म के सम्प्रदाय

सिक्ख धर्म में मुख्य रूप से चार सम्प्रदाय मिलते हैं, नामधारी, अकाली, निरंकारी और नानक पंथी। नामधारी सिक्ख धर्म के मौलिक, धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करते हैं। परन्तु शुद्धि पर विशेष जोर देते हैं। धूम्रपान न करना, शराब न पीना, प्रातः स्नान करना तथा अन्य कर्मकाण्डों का निर्वाह करना आवश्यक मानते हैं। मांसाहार इनके यहाँ वर्जित है, जबकि गुरु गोविन्द सिंह द्वारा मांसाहार की स्वीकृति मिली थी। अकाली सम्प्रदाय मौलिक रूप से संघर्षशील तथा धर्म की रक्षा के लिए लड़ाई के सिद्धान्त का पालन करता है। इनका प्राचीन सिद्धान्तों से मतभेद है। आधुनिक काल में इसे राजनीतिक समूह माना जाता है। निरंकारी सिक्ख धर्म में एक विशिष्ट समूह है। इसके संगठनकर्ता गुर्बवचन सिंह बताए जाते हैं। इनको ईश्वर का सन्देश लाने वाला माना जाता है। इन्होंने अपने को गुरु घोषित किया। इन्हें निरंकारी बाबा कहा गया। यद्यपि दसवें गुरु ने यह घोषित किया था कि मेरे बाद कोई गुरु नहीं होगा केवल 'गुरु-ग्रन्थ साहेब' ही गुरु का स्थान ग्रहण करेगा। परन्तु निरंकारी बाबा ने इसका विरोध करते हुए अपने को गुरु के रूप में घोषित किया। अतः जो समूह इनके मत को मानता है वह निरंकारी कहलाता है। निरंकारी सम्प्रदाय का प्राचीन मत से बहुत अधिक विरोध है। नानक पंथी मत खालसा मत के सदस्य नहीं होते। इनको सिक्खों के पाँच चिन्ह (कंघा, कच्छा, केश कृपाण) नहीं धारण करना पड़ता। नानक पंथी केवल प्रथम गुरु नानक के मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। सिक्खों में बहुत से लोग नानक पंथियों को सिक्ख के रूप में मान्यता नहीं देते फलतः इनका झुकाव हिन्दू धर्म की ओर होता है। एक प्रकार से नानक पंथी हिन्दू धर्म में घुल-मिल गए हैं।

सिक्ख धर्म तथा हिन्दू धर्म

सिक्ख धर्म के अवलोकन से रात होता है कि इसके ईश्वर-जगत तथा परम लक्ष्य सम्बन्धी सिद्धान्त किसी भी अर्थ में हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं प्रतीत होते। आचरण और कर्मकाण्ड की दृष्टि से सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म के वाह्याडम्बरो की भर्त्सना अवश्य करता है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप में दोनों में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है। कुछ लोगों ने, विशेषकर विदेशी लेखकों ने सिक्ख धर्म को हिन्दू धर्म से अलग करने का प्रयास किया है। परन्तु निम्नलिखित आधारों पर हम कह सकते हैं कि सिक्ख धर्म हिन्दू परम्परा में ही माना जायगा—

(1) हिन्दू धर्म की तरह सिक्ख धर्म में भी कर्म, संसार, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

(2) हिन्दू परम्परा के अनेक सन्तों के भजन, गुरु ग्रन्थ साहिब में मिलते हैं, जैसे—सन्त कबीर, तुकाराम, रैदास आदि के जो हिन्दू परम्परा के ही महान सन्त, सुधारक और कवि माने जाते हैं।

(3) सिक्खों के सामाजिक जीवन में हिन्दू परम्परा का अब भी पालन किया जाता है। जैसे—जन्म-मरण तथा विवाह आदि की क्रिया-विधि में पुरोहितों का सहयोग लिया जाता है।

(4) सिक्ख गुरुओं ने सन्त परम्परा में आने वाले महापुरूषों की तरह ही हिन्दू धर्म के सुधार के लिए ही आवाज उठायी थी। यही कार्य बौद्ध तथा जैन धर्म ने भी किया था, परन्तु उन्हें हिन्दू परम्परावादी ही माना जाता है। इसी तरह सिक्ख धर्म को भी हिन्दू परम्परा में गिना जाता है।

(5) सिक्ख धर्म में हिन्दू परम्परा की अन्य अवधारणाएँ जैसे एकेश्वरवाद, गुरु का महत्व, नाम का महत्व आदि को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

अतः सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म और परम्परा पर ही आधारित है और इसे हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं समझा जाना चाहिए।

———

1 | मानवतावाद

पृष्ठभूमि—हमने प्रारम्भ में ही देखा है कि धर्म के अनेक विकल्प ढूँढ़े गए हैं। विश्व के विभिन्न धर्मों में चाहे वे ईश्वरवादी रहे हैं या अनीश्वरवादी, एक आध्यात्मिक तलाश, और परिपूर्णता देखी जाती है। उन धर्मों का कोई अन्य विकल्प नहीं हो सका है, फिर भी विश्व के इन धर्मों की बड़ी कमियाँ देखी गयी हैं और इसका मुख्य कारण है विज्ञान की आशातीत प्रगति और अनुभववादी दृष्टिकोण। अनुभववादी प्रभाव ने इन धर्मों की मनमानी छानबीन की है। नुक्ताचीनी की है। इसे मानव जीवन के लिए घातक समझा गया है, दकियानूसी माना गया है। धर्म को पिछड़ापन कहा गया है। ऐसा मानने के कई कारणों में से एक कारण यह भी है कि इन धर्मों ने विश्व के मानव को सदैव से ही संघर्ष में डाला है, संकीर्णता और कशमकश के गर्त में डाला है, निरीह मानव को विपत्ति में डाला है। इसने जितना मानव का हित नहीं किया है, उससे अधिक उसका अहित किया है। मनुष्य का इतिहास बताता है कि धर्म के नाम पर युद्ध किये गये और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समस्याएँ पैदा हुयी हैं। धर्म ने मानव जाति को अनेक गुटों, वर्गों तथा समूहों में बाँटा है। स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि धर्म से बढ़कर ऐसा कुछ नहीं है जिसने मनुष्य-मनुष्य के बीच बन्धुत्व उत्पन्न किया हो, धर्म से बढ़कर ऐसा कुछ नहीं है जिसने मनुष्य-मनुष्य के मध्य शत्रुता उत्पन्न की हो। धर्म ने ही मनुष्य के लिए दान, औषधालय तथा अन्य संस्थाओं का निर्माण किया है और यह भी सत्य है कि धर्म ने ही संसार को रक्त की सरिता में बहा दिया है। यही कारण है कि कुछ लोग विश्व के विभिन्न धर्मों के स्थान पर एक ऐसे विश्व धर्म की खोज में लग गये, जिसका मूल उद्देश्य मानव-कल्याण, मानव-हित हो। मानवतावाद ऐसे ही धर्म का एक विकल्प माना गया है। मानवतावाद, विज्ञान और उससे उत्पन्न अनुभववाद (जो दृश्य जगत को सत्य मानता है) का फल है।

अर्थ एवं परिभाषा—मानवतावाद वह मत है जो मनुष्य तथा मनुष्य की महत्ता और उसके गुणों में अर्थात् मानवता में आस्था और विश्वास करता है। मानवतावाद 'जीवित मानवता से प्रेम' है। मानवतावाद का केन्द्र बिन्दु मनुष्य है। यह मनुष्य के अस्तित्व, उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके कल्याण का पक्षपाती है। कार्लिस लेमॉन्ट के अनुसार मानवतावाद, विश्व बन्धुत्व, अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और मनुष्य के भ्रातृत्व का समर्थक है।

मानवतावाद की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि विश्व में मानव का स्थान ही सर्वोपरि है। मनुष्य चाहे जिस देश और स्तर का हो उसके प्रति श्रद्धा और उसका हित साधन ही सर्वोपरि होना चाहिए। विश्व धर्मों में मनुष्य के अतिरिक्त सर्वोपरि स्थान अतीन्द्रिय सत्ता को दिया जाता है तथा मोक्ष जैसी परिकल्पना में मनुष्य को उलझाये रखा जाता है, मनुष्य की पूर्णता ईश्वर जैसी सत्ता के हाथ में रहती है, अतः मनुष्य गौण हो जाता है और उसके स्थान पर ईश्वर तथा अन्य देवी-देवता पूज्य माने जाते हैं। मनुष्य का गौरव नगण्य हो जाता है। ऐसी दशा में मनुष्य की गरिमा पुनः लौटानी है। मानवतावादी धारणा का यही मूल मन्तव्य है।

मानवतावाद की शाब्दिक उत्पत्ति—मानवतावाद को अंग्रेजी में 'ह्यूमैनिज्म' कहा जाता है। 'ह्यूमैनिज्म' शब्द 'ह्यूमैनिटाज' से उत्पन्न हुआ है। 'ह्यूमैनिटाज' का अर्थ मनुष्य की शिक्षा से लिया जाता है। अर्थात् मनुष्य की ऐसी शिक्षा जो उसे बर्बर न रहने दे। उसका व्यवहार अनुशासनबद्ध हो, ऐसा प्रशिक्षित और दीक्षित हो कि मनुष्य के अनुकूल व्यवहार कर सके। उसके व्यवहार से ही उसकी श्रेष्ठता प्रकट हो सके। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि मानवतावाद मनुष्य को बर्बरता से मुक्त करने का आग्रह करता है।

धर्म के रूप में मानवतावाद—अत्याचार, निर्दयता, साम्प्रदायिकता आदि सभी मानवता के विपरीत व्यवहार हैं। मनुष्य के प्रति असहिष्णु होना मानवतावाद को स्वीकार नहीं है। बर्बरता या असहिष्णुता किसी भी क्षेत्र में नहीं होनी चाहिए। यदि धर्म में साम्प्रदायिकता और बर्बरता है तो वह मानवतावाद को स्वीकार नहीं है। परन्तु विश्व-धर्मों में जो संस्थागत भी हैं साम्प्रदायिकता देखी जाती है। इनमें समन्वय की कोई गुंजाइश नहीं है। संस्थागत धर्म रक्त-रंजित होते हैं, उनमें सहिष्णुता का उपदेश तो है, परन्तु सम्प्रदाय-विशेष होने के कारण उनका बर्बर और असहिष्णु होना निश्चित है। सहिष्णुता मानवतावाद का पर्याय है। अच्छा यही है कि इन सम्प्रदाय विशेष वाले धर्मों के स्थान पर सहिष्णुता के पोषक और समर्थक मानवतावाद को ही धर्म का स्थान दिया जाये। यही विश्व धर्म का स्थान ले सकता है।

मानवतावाद के प्रमुख सिद्धान्त (विशेषताएँ)

मानवतावाद की मुख्य विशेषताओं या सिद्धान्तों के आलोक में भी इसको अच्छी तरह समझा जा सकता है। यद्यपि मानवतावाद के समर्थकों में भी मतभेद हैं, फिर भी सबका उद्देश्य एक ही है—मानव-जाति का गौरव और उसका हित इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए मानवतावाद के मूल मन्तव्यों को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है—

(1) मानवतावाद मानव की समस्याओं को प्रमुख स्थान देता है। मानव की

स्वतन्त्रता, उसका गौरव, उसका हित इसका लक्ष्य माना गया है। इसका सम्बन्ध तत्वशास्त्र की मीमासा करने से नहीं है।

(2) मानवतावाद मानव मात्र के भ्रातृभाव का समर्थक है। विश्व बन्धुत्व, मैत्री सम्बन्ध तथा मानव के दुःखों का निवारण तथा उसमें मानवीय गुणों-सहिष्णुता, समता, सहयोग आदि का प्रादुर्भाव चाहता है।

(3) मानवतावाद, मानव से उच्च किसी सत्ता के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर लेने पर मनुष्य गौण हो जाता है और ईश्वर ही सब कुछ बन जाता है। मनुष्य की गरिमा स्वतः सिद्ध है। किसी वाह्य सत्ता की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य में ऐसे गुण मौजूद हैं जो आदरणीय हैं, उसके लिए ईश्वर को मानना आवश्यक नहीं है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।

(4) मनुष्य में नैतिक गुण मौजूद हैं। उनका विकास और प्रसारण करना मानवतावाद का लक्ष्य है। इसके लिए आत्मा और उसकी अमरता, कर्मवाद तथा ईश्वर की सत्ता को मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि नैतिकता का निर्धारण तो संवेगों से होता है। नैतिकता के आधार मनुष्य के भीतर ही हैं। जैसे स्नेह और मैत्री के भाव।

(5) चूँकि मानववाद मनुष्य के कल्याण को अपना उद्देश्य मानता है, इसलिए वह अन्य मूल्यों (भौतिक, बौद्धिक, सौन्दर्य, आध्यात्मिक) की अपेक्षा नैतिक मूल्यों को विशेष महत्व देता है।

(6) मानवतावाद मनुष्य के जीवन को सुखी बनाना चाहता है। मनुष्य का सुख इसी विश्व में है। सुख के लिए किसी अन्य लोक की कल्पना नहीं करनी चाहिये। मनुष्य का सुख मानव-जाति के सुख से जुड़ा है। हम सुखी तभी रहेंगे जब मानव-जाति सुखी रहेगी। स्वार्थ हमारे सुख को क्षीण करता है, अतः मानव जाति में मैत्री, सहयोग, सेवा अपेक्षित हैं।

कार्लिस लेमांट के अनुसार मानवतावाद की विशेषताएँ

अमरीकी दार्शनिक कर्लिस लेमांट ने अपनी पुस्तक 'दी फीलॉसफी ऑफ ह्यूमनिज्म' में मानवतावाद की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है :—

(1) मानवतावाद प्रकृतिवादी तत्वशास्त्र में आस्था रखता है। प्रकृतिवाद (वह सिद्धान्त जो प्रकृति के नियमों में विश्वास करता है किसी वाह्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता) को स्वीकार करने के कारण इसमें किसी अतीन्द्रिय या दैवीसत्ता को महत्व नहीं दिया जाता, प्रकृति जड़ शक्तियों की समष्टि है और वह अपने ही नियमों से संचालित होती है।

(2) मानवतावाद यह मानता है कि मनुष्य प्रकृति की उपज है। मनुष्य इस विकासात्मक प्रकृति से उद्‌भूत हुआ है। देह और मस्तिष्क के विनष्ट होने पर अर्थात् मृत्यु के पश्चात् चेतना का लोप हो जाता है। शरीर से भिन्न किसी आत्मा का अस्तित्व नहीं है। किसी मरणोत्तर जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। मानवतावाद और जड़वाद में अन्तर इसलिए है कि जड़वाद चेतना को स्वीकार नहीं करता, जबकि मानवतावाद मानता है कि जड़ और चेतन के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। इसमें चेतना को स्वीकार किया गया है।

(3) मानवतावाद यह मानता है कि मनुष्य अपनी अन्तर्निहित शक्ति और क्षमता से अपनी समस्याओं का समाधान विज्ञान की सहायता से स्वतः कर सकता है। मनुष्य की बुद्धि और वैज्ञानिक विधि मिलकर प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं।

(4) मानवतावाद मनुष्य की स्वतन्त्रता में विश्वास करता है। मानवतावाद में भाग्यवाद, दैववाद या नियतिवाद को अस्वीकार किया जाता है। मानव किसी पर निर्भर नहीं है। उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण है। मनुष्य सृजन कर सकता है। उसे अपने कार्यों के चुनाव की स्वतन्त्रता है। वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है।

(5) मानवतावाद के नैतिक मूल्य का आधार सांसारिक अनुभव और सम्बन्ध है। इसका नैतिक आदर्श सांसारिक सुखों को प्राप्त करना है। इसका विश्वास है कि मनुष्य चाहे जिस देश, जाति या वर्ग का हो उसे आर्थिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक सुख प्राप्त होना चाहिये। स्वतन्त्रता तथा प्रगतिशीलता मनुष्य का लक्ष्य है। मानवतावाद किसी धर्म और ईश्वर तन्त्र को स्वीकार नहीं करता। इस अर्थ में इसे धर्म-निरपेक्षता-वाद कहा जा सकता है।

(6) मानवतावाद मानव के व्यक्तिगत विकास, सन्तोष तथा व्यक्तित्व के विकास को महत्व देता है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास समाज के अन्य व्यक्तियों के हित और सेवा के कार्यों द्वारा कर सकता है। अर्थात् मानवतावाद के अनुसार मनुष्य व्यक्तिगत जीवन का सुख और व्यक्तित्व की पूर्णता बिना लोक सेवा के नहीं प्राप्त कर सकता।

(7) मानवतावाद मानव की सृजनात्मकता में विश्वास करता है। कला, साहित्य तथा सौन्दर्य की चेतना का विकास होना चाहिए। मनुष्य का जीवन पशु से भिन्न है। उसे सौन्दर्यात्मक अनुभव का वाहक कहना चाहिए। उसका जीवन सौन्दर्य से अभिभूत होना चाहिए। मानव आदर्श मनुष्य का प्रेरक बनें। मनुष्य केवल पशु-वृत्ति से ही सन्तुष्ट नहीं होता, अतः उसकी बुद्धि, विवेक तथा कल्पना-शक्ति का उपयोग होना चाहिए, जिससे उसकी सर्जना-क्षमता को बढ़ाया जा सके।

(8) मानवतावाद प्रजातन्त्रवादी है। इससे आगे बढ़कर वह विश्व जनतन्त्र-वादी भी है, क्योंकि यह विश्व व्यापी समाज की स्थापना [illegible]हता है और इसके आधार पर ही विश्वशान्ति, अमर शान्ति तथा प्रगति चाहत[illegible]। विश्वव्यापी समाज की धारणा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, मैत्री तथा विश्व बन्धुत[illegible]र ही निर्भर है। साम्य-वाद भी मानवतावादी है परन्तु वह तानाशाही को मह[illegible]ता है, जबकि मानवतावाद जनतन्त्र का समर्थक है।

(9) मानवतावाद मानव की बुद्धि तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों का सामाजिक स्तर पर प्रयोग करना चाहता है। वैज्ञानिक उपलब्धियों से ही यह मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन की सम्पन्नता सुदृढ़ करना चाहता है। यह मनुष्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता चाहता है। यही जनतान्त्रिक प्रणाली का उपयोग है।

(10) मानवतावाद रूढ़िवादी नहीं है। यह वैज्ञानिकता को महत्व देता है। इसलिए सभी मान्यताओं की सार्थकता-निरर्थकता की जाँच करता है। यह मानव की बुद्धि का भरोसा रखता है। यह सतत् विकास और प्रगति का समर्थक है।

मानवतावाद की पररूपरा और प्रकर

किसी ने ठीक ही कहा है कि मानवतावाद और कुछ नहीं 'एक दार्शनिक मिजाज है'। इसे एक रुझान कह सकते हैं, जो अनेक विचार पद्धतियों में प्रकट की गयी है। जैसे फलवाद (प्रैगमटिज्म) में, अस्तित्ववाद में तथा मार्क्सवाद में स्पष्टतः देखा जा सकता है। इन सब विचारधाराओं का केन्द्र-बिन्दु मानव ही है। वैसे सामान्य रूप से मानवतावादी परम्परा नवीन होते हुए भी प्राचीन है। यूनान की विचारधारा में ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में प्रीटागोरस को मानववादी विचारक माना जा सकता है, क्योंकि उन्होंने कहा था कि 'मनुष्य सब वस्तुओं का मापदण्ड है।' सुकरात को भी मानवतावादी विचारक कह सकते हैं, क्योंकि उन्होंने मनुष्य को 'अपने आपको जानो' का सन्देश देकर यह सिद्ध कर दिया था कि मनुष्य का स्थान सर्वोपरि है। प्रकृतिवाद तथा भौतिकवाद भी मनुष्य को प्रमुख स्थान देता है। इन विचार-धाराओं के विचारक यद्यपि ईश्वर, आत्मा जैसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते, परन्तु मनुष्य के हित की बात करते हैं। अनीश्वरवादी मत का पोषण करने वाला बौद्धमत भी मानवतावादी कहा जाता है, क्योंकि अन्य किसी सत्ता के बिना मनुष्य की सत्ता स्वतन्त्र है, इसे दुःखों से छुटकारा पाना है। मनुष्य अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण रखकर अपना उद्धार स्वतः कर सकता है। इसी तरह कन्फ्यूसियसवाद तथा ताओवाद भी मानवतावाद का समर्थक है। समकालीन दार्शनिकों में प्रो० बर्टन्ड रसेल मानवता-वाद के समर्थक हैं। चूंकि रसेल किसी अप्राकृतिक सत्ता को स्वीकार नहीं करते अतः उन्हें प्रकृतिवादी की संज्ञा दी जा सकती है। फलवाद के विचारक जॉन डिवी तथा शिलर मानवतावादी माने जाते हैं। अस्तित्ववाद के समर्थकों में सार्त्र मानवतावाद के

सबसे बड़े समर्थक माने गए हैं। इनका मानवतावाद ईश्वर की सत्ता को बिना स्वीकार किए ही मनुष्य की स्वतन्त्रता, उसकी गरिमा, महत्ता तथा उत्तरदायित्व को महत्व देता है। अमरीकी दर्शन में मानवतावादी विचारधारा के सबसे बड़े समर्थक कार्लिस लेमांट हैं। इनका मानवतावाद भौतिकवाद तथा अनीश्वरवाद दोनों को सम्मिलित करता है। उनकी पुस्तक 'दी फीलॉसफी आफ ह्यूमनिज्म' इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। इनके मानवतावाद को कई नामों से अभिहित किया जाता है—वैज्ञानिक मानवतावाद, धर्म-निरपेक्ष मानवतावाद, प्रकृतिवादी मानवतावाद या फिर प्रजातान्त्रिक मानवतावाद भी कहा जाता है। इनके मूल मन्तव्यों को पहले ही दर्शाया जा चुका है।

पाश्चात्य परम्परा का प्रभाव ग्रहण करते हुए कुछ आधुनिक भारतीय चिन्तकों ने भी मानवतावाद का प्रतिपादन किया है। इन विचारकों में मानवेन्द्रनाथ राय का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपने दर्शन को 'नव मानवतावाद' या 'वैज्ञानिक मानवतावाद' या 'अविकल मानवतावाद' कहा है। अपने नव मानवतावाद को उन्होंने समाज दर्शन के रूप में स्थापित किया है। राय से अधिकांश रूप में प्रभावित होते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी वैज्ञानिक मानवतावाद का समर्थन किया है। 'मेरी कहानी' में स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है कि "मेरे संस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवीं सदी के हैं और मानवतावाद की उदार-परम्परा का मुझ पर इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं उससे बिलकुल बचकर निकल नहीं सकता।" (पृ० 822) नेहरू वैज्ञानिक साधनों का उपयोग मानवता की वृद्धि के लिए करना चाहते हैं। परन्तु बहुत स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वे लेमान्ट तथा राय की तरह पूर्णतया प्रकृतिवादी और अनीश्वरवादी थे कि नहीं। परन्तु इतना तो बहुत ही स्पष्ट है कि नेहरू मानवता के सच्चे पुजारी थे। उनका पंचशील का सिद्धान्त, विश्व शान्ति का प्रचार तथा धर्म-निरपेक्षता का सिद्धान्त मानवतावाद के कवच हैं।

प्रकार—मानवतावादी परम्परा को देखते हुए हम इसके विविध रूपों पर दृष्टिपात कर सकते हैं। मानवतावाद सामान्यतः तो मानव-हितों को प्रमुख मानता है, परन्तु मानव हित दो तरीके से किया जा सकता है—एक तो ईश्वरीय सत्ता को आधार रूप में मानकर और दूसरे मनुष्य अपनी शक्ति और क्षमता के आधार पर अपना हित कर सकता है। इस आधार पर मानवतावाद के दो रूप देखे जाते हैं—प्रथम, धर्म से अनुप्राणित मानवतावाद, जिसमें विश्व के सभी धर्म आते हैं। पारलौकिक हित की चिन्ता इन धर्मों में अधिक की गयी है वैसे सामाजिक या लौकिक हित की पूर्णतया उपेक्षा नहीं की गयी है। इसके अन्तर्गत ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी धर्म जैसे-जैन तथा बौद्ध धर्म भी आ जाते हैं। दूसरा भेद, धर्म विरोधी मानवतावाद है। इसे धर्म-निरपेक्षतावाद भी कहा जाता है, क्योंकि यह धर्म से तटस्थ रहता है। ईश्वर और पारलौकिक जगत को इसमें कोई स्थान नहीं है। यह केवल मानव के

ऐहिक सुख और हित का समर्थक है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह ईश्वर तथा धर्म विरोधी है। यह प्रकृतिवादी, जड़वादी तथा प्रजातान्त्रिक मानवतावाद है। इसके समर्थक पाश्चात्य विचारकों में जॉन ड्यूयी, शिलर, रसल, सार्त्र, लेमांट आदि हैं और भारतीय चिन्तकों में एम० एन० राय तथा उनसे प्रभावित पं० जवाहरलाल नेहरू को माना जाता है।

सही अर्थों में हमारा सम्बन्ध मानवतावाद के इसी दूसरे भेद अर्थात् धर्म-विरोधी मानवतावाद से है। यही मानवतावादी धारणा नए रूप में हमारे सामने प्रस्तुत की गयी है। नए रूप में इसलिए कि सामान्यतया तो सभी धर्मों में मानव के हित की बात की गयी है, परन्तु धर्मों में मतैक्य नहीं है, संघर्ष और खून-खराबी है। दैवी सत्ता पर निर्भरता है, मनुष्य को सर्वोपरि स्थान नहीं दिया गया है। उसके इहलौकिक जगत की उपेक्षा करके पारलौकिक जगत को अधिक महत्व दिया गया है। अतः विश्व में एक नए विश्व धर्म की कल्पना की गयी। प्राचीन धर्म जो दैवी सत्ता का सहारा लेते हैं या पारलौकिक जगत को महत्व देते हैं, विश्व धर्म का स्थान नहीं ले सकते। कहा जाता है कि इटली में चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी के लगभग मानवतावाद का प्रचार प्रारम्भ हुआ। यद्यपि उस समय धर्मों का विरोध नहीं किया गया था, परन्तु शान्ति और सुरक्षा के लिए धार्मिक सहिष्णुता पर अधिक जोर दिया गया। उसी समय से प्रकृतिवादी विचारधारा ने भी जोर पकड़ा था। आगे चलकर यही मानवतावाद इतना प्रचलित हुआ कि बीसवीं सदी में इसे विश्व-धर्म के रूप में स्वीकार कर लिए जाने पर जोर दिया जाने लगा।

इस अर्थ में मानवतावाद नितान्त रूप से पाश्चात्य नवधारणा है, जिसका प्रबल रूप 1933 में घोषणा-पत्र के रूप में प्रकट होता है। मानवतावाद की आधुनिक धारणा के पीछे यूरोप और अमरीका की आर्थिक व्यवस्था का चरमरा जाना कहा जा सकता है, क्योंकि उस समय वहाँ की आर्थिक, व्यावसायिक तथा औद्योगिक व्यवस्था बिगड़ चुकी थी। ऐसी स्थिति में अमरीकी विचारकों ने, जो विज्ञान की उपलब्धियों और अनुभववादी विचारधारा से अधिक प्रभावित थे, यह धारणा बना ली कि मनुष्य बिना किसी दैवी सत्ता के ही अपनी शक्ति और क्षमता के आधार पर अपनी सहायता कर सकता है, प्रगति तथा सुख-सुविधा की वृद्धि कर सकता है। इसके सम्बन्ध में जो घोषणा-पत्र जारी किया गया उसको संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(1) आधुनिक विज्ञान के युग में ब्रह्माण्ड का जो स्वरूप है, उसमें किसी दैवी सत्ता को स्थान नहीं है।

(2) धर्म अपनी योजनाओं को विज्ञान के आलोक में प्रस्तुत करें।

(3) धर्म वह है जो मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करे। कोई भी वस्तु त्याज्य नहीं है। वास्तविक धर्म में श्रम, कला, दर्शन, विज्ञान, मनोरंजन, मैत्री सभी

समाहित हैं। अर्थात मानव जीवन को सन्तोष देने वाली सभी वस्तुएँ धर्म में निहित हैं। मानवतावाद ऐसा ही विश्व धर्म है जो मनुष्य के लिए उपयोगी तथा सन्तोष-प्रद है।

(4) मानवतावाद का उद्देश्य स्वतन्त्र तथा विश्वव्यापी समाज की स्थापना करना है; जिससे सभी सहयोग तथा मैत्रीपूर्वक रह सकें।

इस घोषणा-पत्र से प्रभावित होकर सन् 1934 में जॉन ड्यूवी ने अपने मानवतावादी दृष्टिकोण को 'ए कॉमन फेथ' नामक पुस्तक में प्रतिपादित किया। इनके अनुसार मानवतावादी धर्म प्रकृतिवादी होता है। मानव आदर्श मूल्यों पर निर्भर है। किसी पराशक्ति की आवश्यकता नहीं है। ऐहिक जीवन को सुधारना इनका लक्ष्य है। परम्परावादी धर्म दैवी सत्ता को महत्व देते हैं परन्तु ड्यूवी प्रकृति के ही अनुकरणीय मानते हैं और पारलौकिक जगत की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। मानव के सहयोग के द्वारा सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण की बात करनी चाहिए। इस अर्थ में मानवतावाद को सर्वोपरि मानकर ड्यूवी अनीश्वरवाद को स्वीकार करते हैं।

जॉन ड्यूवी से प्रभावित होकर कार्लिस लामेन्ट ने भी मानवतावाद को विश्व-धर्म के रूप में स्वीकार किया। लामेन्ट मानवतावाद को प्रकृतिवादी और वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं। इनके अनुसार मानवतावाद किसी दैवी सत्ता को प्रश्रय नहीं देता। इनका मानवतावाद आशावादी है। इसमें दैववाद और नियतिवाद को स्थान नहीं है। मनुष्य स्वतः अपने भाग्य का निर्माता है। इनके प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा चुका है।

भारतीय विचारकों में एम० एन० राय तथा पं० नेहरू ऐसे विचारक हैं, जिनका मानवतावादी चिन्तन डिवी और लेमान्ट के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में प्रकट हुआ है। संक्षेप में हम यहाँ इन दोनों विचारकों के मतों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं—

मानवेन्द्र नाथ राय (1889-1954)

पहले के 'मार्क्सवादी' और बाद के जीवन में अपने को 'मानवतावादी' विचारक के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले मानवेन्द्र नाथ राय ने अपने मानवतावादी सिद्धान्त को 'नव मानवतावाद' अथवा 'वैज्ञानिक मानवतावाद' या 'अविकल मानवतावाद' कहा है। वैसे मानवतावाद प्राचीन परम्परा के रूप में रहा है, परन्तु आधुनिक युग में विज्ञान के आलोक में मनुष्य को देखना तथा प्राचीन मिथ्यावादी धारणाओं से मनुष्य को मुक्त करना आवश्यक है। इसी अर्थ में इनका मानवतावाद नव मानवतावाद अथवा वैज्ञानिक मानवतावाद कहलता है। इनके मानवतावादी

विचार 'न्यू ह्यूमनिज्म' तथा 'रीजन, रोमान्टिसिज्म ऐण्ड रिवोल्यूशन' में मिलते हैं।

अन्य मानवतावादी विचारकों की भाँति राय भी परम्परावादी धर्म की आलोचना करते हैं और उसके स्थान पर मानव को सच्चे धर्म की ओर आकृष्ट करते हैं। उनके अनुसार धर्म का आधार कोई अलौकिक सत्ता नहीं है। धर्म का आधार 'मानवता' है। पूजा, उपासना, कर्मकाण्ड जैसी सद्भाव, सहयोग, मैत्री यही मनुष्य के स्वाभाविक गुण भी हैं और धर्म भी। मानवतावाद ही धर्म का वास्तविक रूप है। राय के मानवतावादी सिद्धान्त को निम्नलिखित रूपों में प्रकट किया जा सकता है।

(1) मानवतावादी विचारकों ने जहाँ प्रोटागोरस की इस उक्ति को महत्व दिया था कि 'मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है' वहाँ राय और उनके अनुयायी एक बात और जोड़ते हैं कि 'मनुष्य मानव जाति का मूल है'। राय का मानवतावाद इन दोनों उक्तियों को स्थान देता है। परन्तु दूसरी उक्ति को विशेष महत्व देते हुए कहते हैं कि 'मनुष्य मानव जाति का मूल है' का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने में ही पूर्ण है, उसे समझने के लिए किसी बाह्य सत्ता या अति प्राकृतिक सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। इस अर्थ में राय प्रकृतिवादी हैं और डिवी तथा लामेन्ट के मार्ग से मानवतावाद तक पहुँचते हैं। इनके अनुसार बिना ईश्वर को माने ही संसार को अच्छा बनाया जा सकता है। इस अर्थ में राय प्रकृतिवादी और अनीश्वर-वादी दोनों हैं और उनका मानवतावाद नैतिक तथा धार्मिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, इस पर उनका दृढ़ आग्रह है।

(2) 'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड है' इसका अर्थ राय की दृष्टि में यह है कि मानव होने के नाते हमारा सम्बन्ध उन्हीं वस्तुओं से होना चाहिए जिनसे मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है, आत्मा, ईश्वर जैसी अतिप्राकृतिक वस्तुएँ, जो मानव की चेतना से भिन्न हैं और जिनको वैज्ञानिक ढंग से प्रमाणित नहीं किया जा सकता, उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। ऐसा कहकर राय मानवतावाद के लिए विज्ञान को आवश्यक मानते हैं। यह विचार भी डिवी और लामेन्ट के विचारों से मिलता है। मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड इस अर्थ में है कि मनुष्य का मुख्य सम्बन्ध स्वयं मनुष्य से है, किसी रहस्यमयी सत्ता ईश्वर से नहीं है।

(3) राय के अनुसार मनुष्य का स्वभाव विकासमान भौतिक प्रकृति का परिणाम है। आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में यही सिद्ध किया जा सकता है। मानव स्वभाव के लिए किसी नित्य, अविनाशी सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। विज्ञान के अनुसंधानों से यही सिद्ध होता है। अतः राय इस अर्थ में भौतिकवादी भी हैं और धर्म निरपेक्षवादी भी।

(4) भौतिक तथा जैविक विज्ञानों की खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि मानव प्रकृति का मूल आधार और तत्व उसकी 'बुद्धि' है। प्रवृत्तियों, भावनाओं अथवा आत्मा को तत्व के रूप में नहीं माना जा सकता। मनुष्य में स्वतन्त्रता की आकांक्षा है, सत्य की खोज मानव स्वभाव की मूल प्रेरणा है। मानवतावाद का उद्देश्य समाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को संरक्षण देना है, सुरक्षित करना है।

(5) परम्परावादी धर्म मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक सिद्ध हुआ है। धर्म ने बुद्धिवादी स्वरूप को खो दिया है। कठोरता और कट्टरता के कारण मानव स्वतन्त्रता में बाधा आयी है। अतः परम्परावादी धर्म के स्थान पर नव मानवतावाद को प्रतिष्ठापित किया जाय।

(6) राय मानवतावादी समाज के निर्माण के लिए वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं। प्रार्थना, जादू, स्तुति, यज्ञ, देवी-देवता, हवन आदि के स्थान पर उर्वरक, सिंचाई तथा खनिज पदार्थों के उपयोग से समाज को समृद्ध तथा सुख पूर्ण बनाया जा सकता है।

(7) राय का भौतिक मानवतावाद मानव की स्वतन्त्रता में विश्वास करता है और इसके लिए दो बातें प्रमुख रूप से आधार रूप में हैं—प्रथम यह कि, मनुष्य अपने भाग्य का निर्धारण स्वतः करता है। इसलिए उसे पूर्ण स्वतन्त्रता का उत्तरदायित्व लेना चाहिए। दूसरे यह कि, अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए किसी अतिमानवीय सत्ता में विश्वास नहीं करना चाहिए।

(8) नव मानवतावादी समाज-व्यवस्था औपचारिक प्रजातन्त्रवाद पर नहीं प्रजातान्त्रिक व्यवस्था पर आधारित होगी। इसमें 'प्रजातन्त्रवाद' के दोष नहीं होंगे। मानवतावादी आधारों पर प्रबुद्ध, स्वतन्त्र एवं नैतिक व्यक्ति के हाथों में शासन होगा। पार्टी के हाथों में नहीं। राय का यह प्रजातन्त्र लेमान्ट और डीवी के प्रजातन्त्र से भिन्न है।

पं० जवाहर लाल नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद

पं० जवाहरलाल नेहरू का मानवतावाद जॉन ड्यूवी तथा लामेन्ट की कड़ी में ही वैज्ञानिक, प्रजातान्त्रिक तथा धर्मनिरपेक्षवादी है। उनकी मानवतावाद की पृष्ठभूमि एक तो विदेशों में रहने, वैज्ञानिक अन्वेषणों से प्रभावित होने तथा बौद्धिक वातावरण में जीवन व्यतीत करने से तथा दूसरी ओर धर्माश्रित मानवतावादी गाँधी तथा टैगोर से प्रभावित होने से तैयार हुयी है। परन्तु पहले वाली स्थिति उनके विषय में अधिक लागू होती है। उनकी रचनाओं को देखने से ऐसा लगता है कि बहुत स्पष्ट रूप से तो वे वैज्ञानिक मानवतावादी, धर्मनिरपेक्षतावादी या प्रकृतिवादी मानवतावाद के समर्थक थे, परन्तु बहुत ऐसे प्रमाण और उनके कथन मिल सकते

हैं जिनसे यह भी पता चलता है कि भीतर से गाँधी या भारत की प्राचीन धरोहर, संस्कृति, और धर्म से वे कम प्रभावित नहीं थे। अतः उनका मानवतावाद परम्परावादी धर्म की मानवता से भी प्रभावित है। अधिकांश रूप में लोग मनमाने ढंग से उनके वैज्ञानिक मानवतावाद के उदाहरणों को ही छाँट लेते हैं और उन्हें उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। हम यहाँ इस विवाद में न पड़कर उन्हें वैज्ञानिक मानवतावादी के रूप में प्रस्तुत करना चाहेंगे। नेहरू वेदान्त के धर्म को तो स्वीकार करते हैं, परन्तु सामान्यतः मजहबी ख्याल उन्हें ठीक नहीं जँचता। इन मजहबी विचारों के विरोध में उन्हें मानवतावादी दृष्टि ही सच्चा धर्म लगता है। यदि यही विश्व धर्म बन जाता तो संसार से झगड़े समाप्त हो जाते। शान्ति, फिर विश्व शांति का आधार पक्का हो जाता। नेहरू ने अन्य मानवतावादियों की तरह परम्परावादी धर्म का निषेध किया है। हम क्रमशः उनके इन (मानवतावादी) दृष्टिकोणों को निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(1) **परम्परावादी धर्म का निषेध**—उनका कहना है कि "हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में मजहब के और कम-से-कम मौजूदा रूप में संगठित मजहब के दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैंने उसकी कई बार निन्दा की है और उसको जड़-मूल से मिटा देने की इच्छा की है। मुझे तो लगभग हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्धविश्वास और प्रगति विरोध, जड़ (प्रमाण रहित) सिद्धान्त और कट्टरपन, अन्ध-श्रद्धा और शोषण नीति और (न्याय अथवा अन्याय से) स्थापित स्वार्थों के संरक्षण का ही नाम 'धर्म' है।" (मेरी कहानी पृ० 524) परन्तु आगे उनका कहना है कि वास्तविक धर्म तो कुछ और ही है, जो लोगों को शान्ति देता है। ऐसे धर्म को नेहरू जॉन ड्यूवी की परिभाषा के रूप में मानते हैं।

(2) **मानवतावादी धर्म की धारणा**—जॉन ड्यूवी की धर्म की धारणा का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि 'धर्म वह चीज है जो लोक जीवन के खण्ड-खण्ड और परिवर्तनशील दृश्यों को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है' या फिर 'जो प्रवृत्ति व्यक्तिगत हानि होने की आशंका होने पर भी, और बाधाओं के विरोध में भी, किसी आदर्श लक्ष्य को पाने के लिए जारी रखी जाती है और जिसके पीछे यह विश्वास हो कि वह सामान्य और स्थायी उपयोगिता वाली है, वही स्वरूप में धार्मिक है।" अगर धर्म यही चीज है तो निश्चय ही उस पर किसी को भी कुछ ऐतराज नहीं हो सकता।"

(वही पृ० 532)

पुनः नेहरू रोमां रोलां के कथनों का उद्धरण देते हुए अपने मानवतावादी धर्म की पुष्टि करते हैं, "रोमां रोलां ने भी धर्म का ऐसा अर्थ निकाला है, जिससे शायद संगठित मजहब के कट्टर लोग भयभीत हो जाएँगे—

'बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो सभी तरह के धार्मिक विश्वासों से दूर हैं, या

उनका ख्याल है कि वे दूर हैं, लेकिन वास्तव में उनमें एक अति-बौद्धिक चेतना व्याप्त रहती है, जिसे वे समाजवाद, साम्यवाद, मानवहितवाद, राष्ट्रवाद या बुद्धिवाद भी कहते हैं। विचार का लक्ष्य क्या है, इसकी अपेक्षा विचार किस कोटि का है, यह देख कर हम निर्णय कर सकते हैं कि वह धर्म-प्रसू है या नहीं। अगर वह विचार हर तरह की कठिनाई सहकर एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ निर्भयतापूर्वक ले जाता है, तो मैं उसे धर्म कहूँगा। क्योंकि धर्म के अन्दर यह विश्वास शामिल है कि मानवीय पुरुषार्थ का ध्येय मौजूदा समाज के जीवन से, बल्कि सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सर्वांशतः सच्ची बलवती प्रकृतियों से निकलती है, और जब वह निर्बलता का नहीं, बल्कि शक्ति की एक मूर्त रूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान सेना के प्रयाण में शामिल हो जाती है।''

नेहरू इसी मानवतावादी धर्म को स्वीकार करते हुए कहते हैं ''मैं नहीं कह सकता कि मैं रोमां रोलां की इन शर्तों को पूरा करता ही हूँ, लेकिन इन शर्तों पर तो इस महान सेना का एक तुच्छ सैनिक बनने को मैं तैयार हूँ।''

(3) **वैज्ञानिक मानवतावाद**—नेहरू लामेन्ट की भाँति वैज्ञानिक मानवतावाद को महत्व देते हैं। पुरानी समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान ढूंढ़ना वर्तमान युग का स्वभाव बन गया है। सच्चा वैज्ञानिक ही सच्चा धार्मिक है। नेहरू के विचार में 'मानवतावाद और वैज्ञानिक स्वभाव दोनों में समन्वय बढ़ रहा है और एक ढंग का वैज्ञानिक मानवतावाद पैदा हो रहा है।'' पुनः कहते हैं 'आज का जिज्ञासु वैज्ञानिक पुराने युग के दार्शनिक और धार्मिक व्यक्तियों की ही प्रतिमूर्ति है।'' नेहरू आइन्सटीन की उक्ति को उद्धृत करते हुए वैज्ञानिक अन्वेषकों को धार्मिक मानते हैं। आइन्सटीन कहते हैं 'हमारे इस जड़वाद के युग में सिर्फ जिज्ञासु वैज्ञानिक अन्वेषकों में ही गहरी धार्मिकता है।'

'हिन्दुस्तान की कहानी' में नेहरू वैज्ञानिक युग की विशेषता में मानवतावाद को एक मुख्य तत्व मानते हैं और यह मानवतावाद परम्परावादी धर्म नहीं, विश्व धर्म का दर्जा ले रहा है और विज्ञान के सहयोग से संचालित हो रहा है। उनका कहना है कि ''इस जमाने का दिमाग यानी आज का ऊँचे दर्जे का दिमाग व्यावहारिक है और कौशल-युक्त है, नैतिक है और सामाजिक है, परोपकारी है और मानववादी है। उसका संचालन सामाजिक उन्नति के अमली आदर्शवाद से होता है।······पुराने लोगों के दार्शनिक ढंग को, उनका अंतिम सत्य की खोज को, बहुत हद तक छोड़ दिया गया है। साथ ही मध्य युग का भक्तिवाद और रहस्यवाद छोड़ दिया गया है। उसका ईश्वर है मानवता और उसका धर्म है समाज सेवा।'' (पृ० 767)

(4) **विश्वव्यापी मानवतावाद**—मानवतावाद की सबसे बड़ी विशेषता विश्व

को मानवतावाद की गोद में उठा लेना है। लामेन्ट की तरह नेहरू भी ऐसे मानवतावाद की आकांक्षा करते हैं। उनका कथन है कि "हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि एक वर्गहीन समाज स्थापित हो, जिसमें सबको समान न्याय और समान सुविधा प्राप्त हो, जिसमें मनुष्य जाति को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमें सहयोग, निःस्वार्थ सेवा-भाव, सत्य-निष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने और अन्त में एक संसार व्यापी समाज की स्थापना करने की सुनिश्चित योजना हो।" (मेरी कहानी पृ० 769)

(5) **प्रकृतिवादी मानवतावाद**—नेहरू लामेन्ट की तरह प्रकृतिवादी मानवता को महत्व देते हैं। मनुष्य को प्रकृति से अलग मानकर दूरी रखना ठीक नहीं है। प्रकृति के विकास के साथ मानव का विकास हुआ है। इस धारण के समर्थन में कि प्रकृति और मनुष्य के बीच अन्तर नहीं है, नेहरू जेम्स जीन्स को उदाहृत करते हैं और उसे अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। उनका कहना है कि "पिछले पच्चीस बरसों में भौतिक दुनियाँ के बारे में वैज्ञानिक के दिमागी नक्शे में काफी तब्दीली हुयी है। विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य और प्रकृति करीब-करीब दो अलग चीजें थीं। लेकिन अब सर जेम्स जीन्स कहते हैं कि 'मनुष्य अब प्रकृति को अपने से अलग नहीं देखता।' ······बाह्य आन्तरिक का ही हिस्सा है और जो कुछ हम देखते हैं या सोचते हैं, वह सब हमारे मस्तिष्क का ही प्रकटीकरण है और विश्व और प्रकृति और आत्मा और मन और शरीर, अंतरंग और बहिरंग सब बुनियादी तौर पर एक ही चीज है। हम अपने दिमाग के संकीर्ण घेरे में इस विशाल योजना को किस तरह समझेंगे? विज्ञान ने इन समस्याओं पर ध्यान देना शुरू कर दिया है।" नेहरू के इन कथनों से एक ओर प्रकृतिवाद का समर्थन मिलता है तो दूसरी ओर प्रकृति और अध्यात्म का समन्वय भी मिलता है।

(6) **अनीश्वरवादी मानवतावाद**—आधुनिक मानवतावादी विचारकों की श्रेणी में चाहें वे लामेन्ट और ड्यूवी हों, चाहे एम० एन० राय हों, नेहरू भी आते हैं। उन्हें भी परलोक, ईश्वर आदि में विश्वास नहीं है, क्योंकि मानवतावाद की समस्या इस लोक की समस्या है। इस लोक को रहने योग्य बनाना, मानव को ही ईश्वर समझना अधिक अच्छा है। परम्परावादी धर्म तो पलायन सिखलाते हैं। इस सम्बन्ध में नेहरू का स्पष्ट कथन है कि "मुझे परलोक या मृत्यु के बाद क्या होता है, इसके बारे में कोई दिलचस्पी नहीं है। इस जीवन की समस्याएँ ही मेरे दिमाग को व्यस्त करने के लिए काफी मालूम होती है। मुझे तो चीनियों की परम्परा से चली आयी जीवन-दृष्टि, जो कि मूल में नैतिक है, लेकिन फिर भी अधार्मिकता या नास्तिकता का रंग लिए हुए हैं, पसन्द आती है।" पुनः आगे कहते हैं "मैं चाहता हूं कि जीवन को समझा जाय, उसको त्यागा नहीं, बल्कि उसको अंगीकार किया जाय, उसके अनुसार चला जाय और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम

धार्मिक दृष्टिकोण इस लोक से नाता नहीं रखता। मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है।......वह संकीर्ण है और अपने से भिन्न रायों या विचारों को सहन नहीं करता। वह स्वार्थपरता और अहंकार से पूर्ण है और अक्सर स्वार्थों और अवसरवादी लोगों को अपने से अनुचित फायदा उठाने देता है।''

(मेरी कहानी, पृ० 528)

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय विश्वशान्ति तथा मानव-सुखोन्मुखी तथा प्रजातान्त्रिक मानवतावाद**—नेहरू का मानवतावाद विश्वबन्धुत्व को महत्व देता है। विश्व-बन्धुत्व की भावना तब उत्पन्न होगी जब मनुष्य परम्परावादी धर्म की संकीर्णता से मुक्त होकर मानवहित और सुख का दृष्टिकोण अपनाएगा। मानव जाति को सुखी बनाना जितना विज्ञान के साधनों के उपयोग पर निर्भर है, उतना ही उसे विचारों और कार्यों में शान्ति देकर भी सुखी किया जा सकता है। यह शान्ति सह-आस्तित्व और अन्तर्सम्बन्धों पर भी निर्भर है। युद्ध निरीह मानव की विनाश-लीला का एक उपाय है। यह समस्या सत्ता लोलुप नेताओं के अहं के कारण उत्पन्न होती है। यदि विश्व प्रजातान्त्रिक आधार पर समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व को अपनाए तो विश्वशान्ति संभव हो सकती है। मानव जीवन सुखी हो सकता है। उद्योग-धन्धे बढ़ाये जा सकते हैं। सम्पन्नता आ सकती है और गुटों तथा वर्गों में बँटती हुई मानब जाति को संगठित किया जा सकता है। पूंजीवाद मानवतावाद का शत्रु है। सत्ता और अधिकार पूँजीवाद की धरोहर है। मानवतावाद की स्थापना इस संकीर्ण व्यवस्था के रहते नहीं हो सकती।

मानवतावाद की रक्षा के लिए ही नेहरू ने अपनी विदेश नीति में पंचशील के सिद्धान्त को स्वीकार किया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए गुटनिरपेक्ष का सिद्धान्त अपनाया। किसी गुट को महत्व न देना उसका निषेध करना है। पंचशील का सिद्धान्त विश्वशांति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए, सह आतित्व के लिए तथा मानव-जीवन में शान्ति लाने के लिए ही है। पंचशील के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं—

(1) एक दूसरे देश की संप्रभुता और अखंडता के लिए समादर, (2) अना-क्रमण, (3) अहस्तक्षेप—एक देश दूसरे देश के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप न करें, (4) समानता और आपसी सहयोग और (5) शान्तिपूर्ण सह-आस्तित्व।

(8) **सहिष्णुता, सहृदयता तथा उदारता**—मानवतावाद का मुख्य आधार सहिष्णुता, सहृदयता तथा मानव मात्र के प्रति उदारता का भाव है। नेहरू के पंचशील में ये तीनों तत्व दिखायी देते हैं। इन्हीं से सह-आस्तित्व की भावना आ सकती है। इसी के आधार पर विश्वराज्य की कामना की जा सकती है। नेहरू बार-बार मिली-जुली संस्कृति की चर्चा अपनी रचनाओं में करते हैं, यह साम्यवाद

की ही पृष्ठभूमि है। मानवता की रक्षा का एक उपाय है। विश्वसमाज और विश्व-राज्य की आशा करते हुए पं० नेहरू कहते हैं कि "हम उस 'एक दुनिया' की तरफ बढ़ रहे हैं; जहाँ मानव-जाति की अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति में सारी राष्ट्रीय संस्कृतियाँ घुल-मिल जाएँगी। इसलिए हमको जहाँ कहीं भी ज्ञान, विज्ञान, मित्रता और सह-योग या इनमें से एक भी चीज मिलेगी, हम उसको अपनाएँगे और साथ ही हम दूसरों के साथ मिलकर ऐसे कामों को करेंगे, जिनसे सब का हित हो······। इस तरह हम सच्चे हिन्दुस्तानी और एशियाई होंगे और साथ ही हम भले अन्त-र्राष्ट्रीयतावादी होंगे और दुनिया के नागरिक होंगे।"

(हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 780-1)

मानववाद की समीक्षा

मानवतावाद दर्शन और धर्म के क्षेत्र में एक नवीन धारणा है। वैसे तो मानवतावाद सामान्य रूप से उतना ही प्राचीन विचार है जितना मानव-इतिहास, परन्तु जिस मानवतावाद का जन्म दर्शन, विज्ञान और धर्म के बीच से हुआ है, वह तो नवीन ही है। आज के विभीषिका पूर्ण युग में मानवतावाद का सन्देश निःसन्देह बहुत उपयोगी है। यह मानव को स्वावलम्बी बनाने पर जोर देता है, परम्परावादी धर्मों की संकीर्णता से बचाकर मानव तथा मानवता की प्रतिस्थापना करता है। मानवता स्वयं में एक मूल्य है। मानवतावाद को इस मूल्य का संरक्षक कहा जा सकता है। यह सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार पर अधिक बल देता है। मानव के जीवन को कर्मठ बनाता है, जीवन में सुधार करने की पुकार करता है। मानवतावाद जगत के प्रति आस्था सुदृढ़ करता है। यह वही कार्य कर रहा है जो परम्परावादी धर्म मानव के लिए करते आ रहे हैं। धर्माश्रित मानवतावाद से यदि ईश्वर तथा पार-लौकिक जगत को निकाल दिया जाय तो जो बचता है, वह शुद्ध आधुनिक युग का मानवतावाद ही रह जाता है। उदाहरण के लिए स्वामी विवेकानन्द जब यह घोषणा करते हैं कि "मैं एक ऐसा धर्म चाहता हूँ जो हम लोगों में आत्म-विश्वास तथा जातीय मर्यादाबोध जगाने और जनगण को अन्न, वस्त्र और शिक्षा देने, हमारे चारों ओर की सभी दुःख वेदनाओं को दूर करने की शक्ति ला दे।······यदि भगवान को लाभ करना चाहते हो तो मनुष्य की सेवा करो" तो इसी मानवतावाद की घोषणा करते हैं। परन्तु सर्व विदित है कि स्वामी विवेकानन्द ने धर्म से ईश्वर, आत्मा तथा पारलौकिक जगत्, कर्म तथा पुनर्जन्म को अस्वीकार नहीं किया है। फिर भी उनके मानवतावाद में वही दम है, वही पुकार है, वही क्षमता है, जिसे आज के मानवतावादी चाहते हैं। यह मानवतावाद धर्म निरपेक्षता की बात करता है, परन्तु धर्म निरपेक्षता का यह अर्थ नहीं कि धर्म से तटस्थ हो जायँ या धर्म का निषेध कर दें। इसका अर्थ तो धर्मों के प्रति सहिष्णु होना है। सापेक्षवादी दृष्टिकोण रखना है। गाँधी भी किसी अर्थ में कम मानवतावादी नहीं है, परन्तु इस आधुनिक अवधारणा को वे स्वीकार नहीं कर सकते।

क्या मानवतावाद धर्म का विकल्प हो सकता है ? या यह विश्वधर्म के रूप में अपना स्थान बना सकता है ? यह प्रश्न विचारणीय है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह धर्म का स्थान नहीं ले सकता—

(1) धर्म में जो मौलिक तत्व हैं और जिसके लिए मनुष्य अपने जीवन की सार्थकता समझता है, जिसके लिए उसके भीतर छटपटाहट होती है, जिसके लिए लोक कल्याण, लोक सेवा करता है, वह है अनुभवातीत सत्ता। इसी से नियन्त्रित होकर मनुष्य कार्य करता है, परन्तु मानवतावाद उसी को अस्वीकार करता है, अतः मानवतावाद सभी अच्छाइयों से सुसज्जित होते हुए भी धर्म का स्थान नहीं ले सकता।

(2) मानवतावाद में वास्तविक धर्म की अर्जनशीलता तथा उत्तेजना का पूर्णतया अभाव है। डी० एम० एडवर्ड ने ठीक ही कहा है कि मानवतावाद केवल बौद्धिक विवेचन का विषय बन कर रहा जाता है। यह धर्म का स्थान नहीं ले सकता, क्योंकि ऐसा धर्म (जैसे काम्टे का मानवतावाद) जो जल-थल में कभी नहीं था और न जिसमें वास्तविक धर्म की सर्जनशीलता तथा उत्तेजना ही प्राप्त होती है।
(फीलॉसफी ऑफ रीलीजन, पृ० 27)

(3) डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि' में मानवतावाद की आलोचना करते हुए कहा है कि जीवन के मूल्य तभी सार्थक सिद्ध होते हैं जब धर्म उन्हें अतीन्द्रिय सत् से सम्बद्ध करता है। मानवतावाद भी मूल्य को स्वीकार करता है, परन्तु वह अतीन्द्रिय सत्ता को नकार देता है। अतः मूल्यों के प्रति हमारी आस्था न सबल होगी और न स्थायी ही। अतः मानवतावाद को धर्म का स्थान या विश्वधर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(4) मानवतावाद भौतिकवादी धारणा को स्वीकार करता है और यह मानता है कि जीवन का विकास स्वतः प्रकृति में निहित नियमों के द्वारा होता है, परन्तु पदार्थ में विकास का कोई सिद्धान्त नहीं है, जड़ से जीवन का विकास संभव नहीं कहा जा सकता। मनुष्य की पहचान और उसका मूल लक्षण नैतिकता है, परन्तु इन्द्रियों से युक्त मनुष्य के जीवन में नैतिकता की भावना स्वयं नहीं उत्पन्न हो सकती, इसके लिए आवश्यक है यह मानना कि नित्य चेतन शक्ति जड़, वनस्पति, पशु और मनुष्य में अभिव्यक्त हो रही है। उसी नित्य चेतन सत्ता से जीवन जगत की व्याख्या हो सकती है। मानवतावाद उच्चतर की व्याख्या निम्नतर से करते हैं (जड़ से चेतन की व्याख्या करते हैं) जब कि उच्चतर से निम्नतर की व्याख्या की जानी चाहिए (चेतन से जड़ का विकास) क्योंकि यही संभव व्याख्या बुद्धि में आने योग्य है। इस चेतन को बिना माने मानवतावाद को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

(5) मानतावाद वैज्ञानिक पद्धति पर जोर देते हैं, परन्तु विज्ञान प्राकृतिक व्यापार को समझने के लिए तो आवश्यक कहा जा सकता है, और उपयोगी भी है परन्तु उसके द्वारा आध्यात्मिक सत्य का अनुसंधान नहीं किया जा सकता । यदि मानवतावाद केवल वैज्ञानिक पद्धति और विज्ञान को लेकर मानवता की रक्षा और विकास करना चाहता है तो यह संभव नहीं कहा जा सकता । मानव की समस्या का समाधान मनुष्य की आन्तरिक वृत्ति के नियन्त्रण के आधार पर की जा सकती है और यह नियन्त्रण बिना निष्ठा के संभव नहीं है । पुनः निष्ठा किसी आन्तरिक लक्ष्य को लेकर उत्पन्न होती है, वह निष्ठा धार्मिक सत्य को स्वीकार करने पर आती है। उसे विज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता ।

(6) मानवतावादी अपने सिद्धान्त का आधार 'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है' को मानते हैं, परन्तु इस आदर्श का निर्वाह किया ही नहीं । मनुष्य को प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड बनाने में तब सफल होते जब बाह्य जगत या प्रकृति का अध्ययन मनुष्य द्वारा करते, न कि प्रकृति द्वारा मनुष्य का अध्ययन । प्रकृति मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य प्रकृति के लिए । सच्चा मानववादी मनुष्य को सर्वोपरि मानता है । मानववाद इस लक्ष्य में विफल कहा जा सकता है ।

(7) परम्परावादी धर्मों में चाहे जो भी विभेद हों, परन्तु एक अर्थ में तो उनकी एकता है कि सभी आस्तिक और अनीश्वरवादी धर्म, लौकिक जगत से परे के जीवन में आस्था रखता है, सारी बुद्धिवादिता और नैतिकता की पूर्ति बिना उसके नहीं हो सकती । धर्म मनुष्य की अन्तर्हित दैवी सत्ता की अनुभूति है । मानवतावाद मानव की सभी आकांक्षाओं की पूर्ति तो करना चाहता है, परन्तु मनुष्य की इस आन्तरिक पिपासा की शान्ति से उसे रोक देना चाहता है । फिर मानवतावाद को मानव का कल्याण चाहने वाला कैसे कहा जा सकता है । मनुष्य में जैसे भूख-प्यास नींद की आन्तरिक प्रेरणा और इच्छा होती है और उसकी पूर्ति की वस्तुओं से उनकी पूर्ति होती है, उसी प्रकार उसके अन्दर श्रद्धा, प्रेम, भक्ति की आन्तरिक इच्छा होती है और इसकी पूर्ति धर्म में ही होती है । क्या मानवतावादी मनुष्य को इनसे वंचित करके मानव के प्रति ईमानदारी कर सकते हैं ? निश्चित रूप से मनुष्य की इन आकांक्षाओं की पूर्ति मानवतावादी नहीं कर पाते । अतः इसे धर्म या विश्वधर्म नहीं बनाया जा सकता है ।

(8) मानवतावाद मानव की स्वतन्त्रता का समर्थक है। परन्तु उसका स्वतन्त्रता सम्बन्धी विश्लेषण पर्याप्त और पूर्ण नहीं है । क्योंकि स्वतन्त्रता का यह अर्थ पर्याप्त नहीं है कि यह प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों को नियन्त्रित करने की शक्ति है । क्या यह सही नहीं है कि समुद्र, पर्वत, शीत, गर्मी, राज्य, परिवार, कानून ही केवल हमारी स्वतन्त्रता की बाधाएँ नहीं हैं, बल्कि हमारी क्षुद्रतम

वासनाएँ और तृष्णाएं ही वास्तविक बाधाएँ हैं? वास्तविक स्वतन्त्रता मनुष्य को तब मिल सकती है जब वह इन आन्तरिक निम्नतम वृत्तियों से छुटकारा पाए और इन वृत्तियों को उच्चतर जीवन का साधन बनाए। मानवतावादी इस आन्तरिक स्वतन्त्रता का उल्लेख नहीं करते। बौद्ध और जैन धर्मों ने मनुष्य को यही तो सिखाया है। आत्मानुशासन ही स्वतन्त्रता है, यह संयम वृहत्तर दृष्टिकोण और उच्चतर लक्ष्य धर्म से ही संभव है।

(9) मानवतावादी अपने विचारों को बुद्धि पर आधारित करते हैं फिर तो यह सिद्धान्त बुद्धि को ग्रहण होना चाहिए परन्तु सत्य तो यह है कि मानवतावाद का सिद्धान्त साधारण व्यक्तियों को तो लुभावना और आकर्षक लगता है किन्तु एक चिन्तक तथा बुद्धिवादी की बुद्धि में यह बात नहीं आती कि मनुष्य केवल भौतिक सुखों तक सीमित है। बुद्धि से तो यही समझ में आता है कि मनुष्य भौतिक जीवन से खाने-पीने से, ऊपर उठ सकता है। मनुष्य की कल्पना, सर्जना, कला और इनसे ऊपर अध्यात्म का क्षेत्र है, वहाँ भी शान्ति मिलती है। सत्य के प्रति संघर्ष करके भी सुख मिलता है। केवल प्रत्यक्ष जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र से सुख का बोध नहीं होता। मनुष्य को सुख तक सीमित करना मानवतावाद का एकांगीपन है। सुख तो पशु-जीवन तक अर्थात् पाशविक वृत्तियों की सन्तुष्टि तक सीमित है। इसके भी परे आनन्द की स्थिति होती है, जो धर्म के क्षेत्र में मिलती है। मानवतावाद मनुष्य को इससे वंचित करने का एक प्रयास है, ऐसा सिद्ध होता है।

———

10 | सर्वधर्मसमन्वय

आज विश्व सिमट कर एक हो रहा है। इसका कारण है वैज्ञानिक प्रगति। विज्ञान के विकास से राष्ट्रों की भौगोलिक, राजनीतिक एवं सामाजिक सीमाएँ खण्ड-खण्ड हो रही हैं और विश्व एकता की ओर बढ़ रहा है। परन्तु विचारकगण विश्व की ऐसी एकता से सन्तुष्ट नहीं जान पड़ते। यह एकता बाह्य है। आन्तरिक एकता के बिना विश्व की एकता सम्भव ही नहीं है। कुछ भी हो इस बाह्य एकता से मनुष्य आदान-प्रदान की स्थिति में तो आ ही गया है और वह अपने को किसी विशेष देश, धर्म, और संस्कृति तक ही सीमित नहीं रखना चाहता। मनुष्य में विचारों की उदारता परिलक्षित होती है। ऐसी स्थिति में विचारक विश्व की आन्तरिक एकता की बात सोचने लगे हैं। उनके अनुसार आन्तरिक एकता आध्यात्मिक आधार पर ही स्थापित की जा सकती है। धर्म ही एक ऐसा आधार है जो विश्व की एकता की जंजीर को आन्तरिक रूप में दृढ़ करने के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि प्रदान कर सकता है। अर्थात् जब तक विश्व के विभिन्न धर्मों में समन्वय नहीं होता, विश्व में एक धर्म नहीं माना जाता, तब तक न विश्व की बाह्य एकता दृढ़ हो सकती है और न आन्तरिक एकता ही सम्भव है। प्रश्न है, क्या धार्मिक एकता या सर्वधर्म-समन्वय सम्भव है?

जिस प्रकार विज्ञान विश्व के एकत्व की खोज में लीन है उसी प्रकार दर्शन और धर्म-दर्शन भी एकत्व के ही पक्षपाती हैं। प्रथम स्तर पर दर्शन विश्व की मूल सत्ता के रूप में एक तत्व की ही खोज करता है। द्वितीय स्तर पर वही कार्य धर्म-दर्शन धर्म के आधार पर करना चाहता है। परन्तु धर्म की विविधता, धर्मानुयायियों की एक निष्ठता और धर्म संस्थापकों की धार्मिक अनुभूतियों की विभिन्नता आज तक यही सिद्ध करती आयी है कि सर्वधर्म-समन्वय कठिन और सम्भव नहीं प्रतीत होता। विभिन्न धर्म के अनुयायियों के बीच दंगे और झगड़े इसीलिए देखे जाते हैं कि एक की दूसरे के प्रति अनास्था है। प्रत्येक धर्मानुयायी अपने धर्म के देवी-देवता के प्रति ही आस्थावान होता है। अतः सिद्ध है कि एक का दूसरे में अनास्था प्रकट करना स्वाभाविक है। एक दूसरा कारण यह भी है कि व्यक्ति धर्म का चुनाव अपनी मनोवृत्ति, संस्कार, शिक्षा और सांस्कृतिक पर्यावरण के आधार पर करता है। यदि धर्म व्यक्ति पर निर्भर करता है तो व्यक्ति अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के अनुसार चाहे जिस धर्म को चुनेगा, और उसी के प्रति आस्थावान होगा। एक विश्वजनीन धर्म की

स्थापना कैसे सम्भव है ? यही नहीं जब एक ही देश में विभिन्न धर्म हैं और उस देश में ही एक धर्म की स्थापना नहीं हो सकती, उन धर्मों में समन्वय नहीं हो सकता तो सर्वधर्म समन्वय की कल्पना ही व्यर्थ प्रतीत होती है। हिन्दुओं में वैष्णव, शैव, और शाक्त की लड़ाई प्रसिद्ध है। ईसाई धर्म में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट का संघर्ष सर्वविदित है। मुसलमानों में शिया-सुन्नी की लड़ाई, बौद्धों के हीनयान और महायान तथा जैनियों के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर का मत-वैभिन्य किसी से छिपा नहीं है। परन्तु फिर भी धर्म-दार्शनिक और विचारक धर्म-समन्वय की चर्चा करते आए हैं। धर्म-समन्वय की बात चाहे वैचारिक स्तर पर ही क्यों न हो, धर्मों के पारस्परिक विवाद और झगड़ों के कारण ही सम्भवतः चल पड़ी है। इस दिशा में पाश्चात्य और प्राच्य विचारक निष्ठापूर्वक लगे रहे हैं। प्रमुख रूप में भारत में वैदिक काल से अब तक धर्म-समन्वय का प्रयास महत्वपूर्ण कहा जाता है। 'गीता' का महत्व भारतीय धर्म-शास्त्रों में सर्वोपरि माना जाता है। 'गीता' का यह उद्‌घोष सर्वधर्म-समन्वय का सच्चा रूप है—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज,' 18-66
या—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'

श्रद्धा से युक्त सकामी भक्त अज्ञानता के कारण यदि दूसरे देवताओं को पूजते हैं तब भी वे ईश्वर को ही प्राप्त करते हैं। (9-23) गीता की ऐसी धारणा सर्वधर्म-समन्वय का सर्वोत्कृष्ट रूप है आधुनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में धर्मों के आपसी संघर्ष को देखकर अन्य भारतीय चिन्तक, साधक और दार्शनिक भी धर्म-समन्वय की चर्चा करते हैं, जिनका उल्लेख और परीक्षण करने के पहले अन्य धर्मों में सर्वधर्म-समन्वय का क्या रूप है, इसे देख लेना अच्छा होगा।

ईसाई धर्म—बाइबिल में यूहन्ना रचित सुसमाचार में यह मिलता है कि "सब कुछ उसी के द्वारा उत्पन्न हुआ और जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसमें से कोई भी वस्तु उसके बिना उत्पन्न नहीं हुई। उसमें जीवन था वह जीवन मनुष्यों की ज्योति थी।" (1 : 2-4) सन्त पाल ने भी कहा है—'एक ही परमेश्वर है, जो खतनावालों को विश्वास से और खतना रहितों को भी विश्वास के द्वारा धर्मी ठहराएगा !" (3 : 31)

इस्लाम धर्म—इस्लाम धर्म में भी सर्वधर्मसमन्वयकारी उक्तियाँ मिलती हैं—कुरान में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि 'वह तुम्हारा ईश्वर सब चीजों को बनाने वाला है। उसके सिवा क़ोई पूज्य नहीं है ? (4-7-2)

पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर, फरे, हार्किङ्ग, अन्डरहिल तथा प्राच्य धार्मिक महापुरुष श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ टैगोर, गाँधी, डॉ० भगवानदास तथा डॉ० राधाकृष्णन् आदि विचारकों ने सर्वधर्म-समन्वय पर गम्भीरता

से विचार किया है। हम देखेंगे कि इन विचारकों की समन्वय की धारणा कहाँ तक उचित और सम्भव बतायी जा सकती है।

सर्वधर्म समन्वय का स्वरूप—विश्व में विभिन्न प्रकार के धर्म हैं, इन धर्मों के बीच एकता स्थापित करना ही समन्वय है। तुलनात्मक धर्म के अध्ययनों से यही ज्ञात हुआ है कि सभी धर्मों में धर्म के सामान्य तत्व विद्यमान हैं। धर्म दर्शन धर्मों के दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन से यह पता चलाने का प्रयास करता है कि क्या इन विभिन्न धर्मों में एकता स्थापित की जा सकती है? निश्चित है कि सभी धर्मों को एक में मिला देना सर्वधर्म-समन्वय नहीं है, वलिक यह देखना है कि क्या तर्क-संगत ढङ्ग से धर्मों में एकता स्थापित की जा सकती है? अतः धर्म-समन्वय में तर्क संगतता ढूँढ़ना ही धर्म-दर्शन का कार्य है। तार्किक रूप में कोई ऐसा आधार देखना है, जिसके आधार पर यह सोचा जा सके कि किस प्रकार धर्मों में एकता स्थापित हो सकती है। क्या किसी विशिष्ट धर्म में ही सभी धर्मों का विलयन कर दिया जा सकता है? या थोड़ा-थोड़ा अंश सभी धर्मों का ले लिया जाय और एक विश्वजनीन धर्म बनाया जाय। निश्चित है कि सर्वधर्मसमन्वय के लिए ये क्रियाएँ सम्भव नहीं हैं। क्योंकि सभी धर्मानुयायियों में मेल होने के बदले और भी लड़ाइयाँ प्रारम्भ हो जायेंगी। सभी अपने ही धर्मों को विश्वजनीन धर्म मानने का दावा करते हैं। अतः सर्वधर्म-समन्वय का अर्थ धर्मों की एकता में तर्क संगतता ढूँढ़ना है। अब हमें यह देखना है कि क्या सभी धर्मों के मध्य तर्क-संगत एकता स्थापित की जा सकती है? इस सम्वन्ध में विभिन्न विचारकों के अलग-अलग मत हैं, जिनके आधार पर सर्वधर्म समन्वय का प्रयास किया गया है।

(क) सामान्यता का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार सभी मनुष्य एक सामान्य विश्व में रहते हैं, सामान्य प्रकृति के हैं और सभी धर्मों में एक ही सामान्य तत्व वर्तमान हैं, इसलिए विश्व में एक सामान्य धर्म की स्थापना हो सकती है। इस मत के पोषक एन० एफ० एस० फरे कहे जाते हैं। सामान्यता के आधार पर कुछ लोग अपने ही धर्म विशेष को एक मात्र सत्य और विश्वधर्म होने का तर्क देते हैं। धर्म के इस एकाधिकारवादी दृष्टिकोण को डॉ० मसीह 'एकाधिपत्य सिद्धान्त' कहते हैं, जिसके आधार 'एक ही धर्म सत्य है शेष असत्य हैं।'

आलोचना :

(1) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव-प्रकृति की सामान्यता सिद्ध नहीं होती—मनोविज्ञान यह सिद्ध करता है कि मनुष्य विभिन्न रुचियों, अभिवृत्तियों और मानसिक बनावटों के कारण एक समान नहीं है। इसलिए मानव प्रकृति की सामान्यता के आधार पर एक सामान्य या विश्वजनीन धर्म की स्थापना नहीं की जा सकती।

(2) मानव प्रकृति की विभिन्नता से आराध्य सत्ता एक नहीं हो सकती—

व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार भक्ति-भावना अभिव्यक्त करता है। अतः मानव-प्रकृति के अनुसार ही लोगों के आराध्यदेव भी भिन्न-भिन्न होंगे। इसलिए निरपेक्ष आराध्य सत्ता के अभाव में सामान्य धर्म स्थापित किया जाना सम्भव नहीं है।

(3) **एक ही धर्म को सामान्य धर्म कहना और शेष को असत्य मानना उचित नहीं है**—यह वास्तविकता है कि विश्व में विभिन्न धर्म हैं, सभी धर्म अपने को सत्य कहते हैं। किसी एक धर्म को ही सत्य और सामान्य कहना तथा अन्य को असत्य ठहराना वास्तविकता को झुठलाना है। फिर किसी धर्म को असत्य कहने का हमारे पास कोई आधार भी नहीं है। निस्सन्देह आदिम धर्म में प्रेतात्माओं की पूजा होती है, फिर भी उसमें सत्यांश विद्यमान हैं और धर्म की मूल धारणा तो उसमें अन्तर्निहित मानी जा सकती है। अतः इस आधार पर भी एक सामान्य धर्म की स्थापना नहीं की जा सकती।

(4) **यदि सभी धर्म सत्य हैं तो एक सामान्य धर्म कैसे**—सभी धर्म अपनी सत्यता के आधार पर सामान्यता की होड़ में लड़ सकते हैं। अतः धर्मों के संघर्ष से धर्मों की एकता के स्थान पर धार्मिक विप्लव खड़ा हो सकता है। अतः सामान्यता का सिद्धान्त तर्क संगत नहीं है।

(ख) **एकरूपात्मक सिद्धान्त** :—इस सिद्धान्त के अनुसार सभी धर्म असत्य नहीं माने जा सकते। उनमें आंशिक सत्यता स्वीकार की जा सकती है। सभी धर्मों की आंशिक सत्यता के आधार पर एकरूप सामान्य धर्म की स्थापना की जा सकती है, जिसमें समस्त धर्मों की आंशिक सत्यता समाहित रहती है। डॉ० मसीह ने इस सिद्धान्त का नामकरण एकशिलात्मक सिद्धान्त किया है। इस सिद्धान्त के पोषक फरे तथा हार्किंग माने जाते हैं। इन लोगों के अनुसार ईसाई धर्म ही ऐसा धर्म है, जिसमें सभी धर्मों के आंशिक सत्य निहित हैं। इसमें एक ही सामान्य ईश्वर की उपासना की जाती है जो सभी धर्मों में विभिन्न रूपों में पूजा जाता है। चूंकि सभी धर्मों में प्रेम और सच्चाई को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है और ईसाई धर्म में ये दोनों तत्व वर्तमान हैं, इसलिए इसे सामान्य धर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। हार्किंग ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि केवल यही धर्म वैज्ञानिक ठहराया जा सकता है तथा इसमें गहराई और व्यापकता भी है। यही नहीं इस धर्म से आधुनिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन का मेल स्थापित किया जा सकता है। इसलिए एक मात्र यही सामान्य धर्म स्वीकार किया जा सकता है।

आलोचना :

यह सिद्धान्त भी तर्क संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि जिस प्रकार फरे और हार्किंग ईसाई धर्म को वैज्ञानिक और व्यापक सिद्ध करने का दावा करते हैं उसी प्रकार अन्य धर्म भी अपने को वैसा ही सिद्ध करते हैं, फिर क्यों ईसाई धर्म को ही सामान्य धर्म के रूप में माना जाय? दूसरे मानव-प्रकृति की विभिन्नता के आधार

पर यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि ईसाई धर्म ही सबकी प्रकृति के अनुकूल होगा। तीसरे क्या इस सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न अनुयायियों में इस बात के लिए लड़ाई नहीं हो सकती कि मेरा ही धर्म सामान्य धर्म के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये ?

(ग) एकतत्ववादी सिद्धान्त—इसके अनुसार एक तत्व-परमात्म तत्व, सभी धर्मों में सामान्यतया पाया जाता है। इस आधार पर धर्मों में एकता स्थापित की जा सकती है। इस मत के समर्थक डॉ० राधाकृष्णन् एवं डॉ० भगवानदास तथा अन्य भारतीय चिन्तक माने जाते हैं। इन लोगों ने हिन्दू धर्म में विश्वव्यापी धर्म के सभी लक्षणों को प्राप्त किया है। हिन्दू धर्म ही ऐसा धर्म है जो सभी धर्मों को स्वीकार करता है।

डॉ० राधाकृष्णन् की सर्वधर्म-समन्वय की धारणा

डॉ० राधाकृष्णन् एक परम तत्व में विश्वास करते हैं। विश्व के सभी धर्म किसी-न-किसी रूप में इसी परम तत्व की ओर बढ़ने का प्रयास करते हैं। सभी धर्मों में इसी की पूजा विभिन्न रूपों में होती है। धर्मों में जो मतभेद देखा जाता है वह उसी एक तत्व को पहचानने के कारण ही है। वस्तुतः सभी में एक सामान्य तत्व विद्यमान है'।[1] पुनः वे 'ईस्ट ऐण्ड वेस्ट इन रेलिजन' पुस्तक में लिखते हैं 'एक सामान्य विषय की ओर सभी धर्म सहयोगी की तरह बढ़ रहे हैं।' पूजा की पद्धतियाँ चाहे भिन्न हों परन्तु अनुभूतियाँ एक ही तत्व को व्यक्त करती हैं। एक ही सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। डॉ० राधाकृष्णन् ने हिन्दू धर्म को विश्वव्यापी धर्म के रूप में पहचाना है। उनके अनुसार इसमें अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता का भाव है। इसमें व्यापकता है। इसमें सर्वोच्च आत्मतत्व पर ही जोर दिया गया है जो सभी धर्मों में देखा जा सकता है। हिन्दू धर्म के अनुसार सभी धर्म मूल रूप में समान हैं। उन्होंने धर्मों की एकता अन्य कई आधारों पर स्वीकार की है। यदि मूल्यों के आधार पर देखा जाय तो प्रत्येक धर्म, सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, आत्मसंयम को महत्व देते हैं। प्रत्येक धर्म में सत्य की खोज की जाती है। इससे भी धर्मों की एकता प्रकट होती है। धर्मों की क्रिया-विधि में बहुत कुछ समानता पायी जाती है। इससे भी धर्म-समन्वय प्रकट होता है। 'ईस्टर्न रेलिजन ऐण्ड वेस्टर्न थाट्' में उनका कथन है कि विभिन्न धर्म अब एक साथ हो रहे हैं। यदि ये विभिन्न धर्म संघर्ष और प्रति-स्पर्धा की स्थिति में नहीं हैं तो उनको ग्रहणशीलता का भाव विकसित करना चाहिए जिससे पूर्वाग्रहों और गलतफहमियों का उन्मूलन हो और वे एक दूसरे के साथ हो जायें, क्योंकि सभी एक ही सत्य की अभिव्यक्तियाँ हैं'।[2] डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार सर्व धर्म-समन्वय विश्व के लिए अनिवार्य है।

---

1. रिकवरी ऑफ फेथ, पृ० 188
2. वही, पृ० 306

अलोचना

(1) डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार एक परम तत्व ही सत्य है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म प्राप्ति को ही सर्वोपरि माना गया है। राधाकृष्णन् उसी को एक तत्व मानते हैं। प्रश्न होता है क्या यही तत्व सभी धर्मों में विद्यमान हैं और उसी की उपासना की जाती है? उत्तर स्पष्ट है कि नहीं। ब्रह्मा जब उपास्य नहीं तो सभी में एक तत्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

(2) हिन्दू धर्म को ही विश्वधर्म क्यों माना जाय? क्या ईसाई, इस्लाम या अन्य धर्म इसका दावा नहीं कर सकते?

(3) इनके तर्कों से यही सिद्ध होता है कि धर्म वही सत्य है जिनमें एक परम तत्व या सर्वोच्च आतमा को स्वीकार किया गया हो। यदि यही बात सत्य है तो बहुत से धर्मों में यह तत्व नहीं है। तो क्या वे धर्म असत्य हैं? किसी धर्म को असत्य कहना क्या असहिष्णुता का परिचय देना नहीं है?

(4) डॉ० मसीह की यह आलोचना विचारणीय है कि 'यदि कहा जाय कि विभिन्न धर्म एक ही धार्मिक तत्व को विभिन्न नाम से पुकारते हैं तो इसका अर्थ है कि इन धर्मों में अन्तर्निहित दृष्टियाँ अवास्तविक हैं।' अब यहाँ कई प्रश्न होते हैं। यदि धार्मिक दृष्टियाँ अवास्तविक हैं तो सामंजस्य से लाभ ही क्या होगा? इनसे मानव जाति का विकास कैसे होगा तथा धर्म विशेष का संरक्षण कैसे होगा? डॉ० मसीह का ठीक ही कहना है कि यदि ईसाई और इस्लाम धर्म में ईसा तथा मुहम्मद साहब की जीवनी, शिक्षा और बाइविल तथा कुरान को हटा दिया जाय तो शेष ही क्या बचेगा? अतः यदि सभी धर्मों की दृष्टियाँ वास्तविक मान ली जाती हैं तो तर्क-संगत ढंग से समझौता नहीं होगा और यदि उनको आकस्मिक मान कर ठुकरा दें तो सभी धर्मों का विलयन हो जाएगा। अतः डॉ० राधक्रुष्णन् के अनुसार तर्कसंगत रूप में सर्वधर्म-समन्वय नहीं कहा जा सकता।

डॉ० भगवानदास का सर्वधर्म-समन्वय

डॉ० भगवानदास ने सर्वधर्म-समन्वय का स्तुत्य प्रयास किया है। इन्होंने सभी धर्मों में एक तत्व को खोज निकालने का प्रयास किया है। उनके अनुसार ईश्वर ही ऐसा तत्व है जिसको सभी धर्म स्वीकार करते हैं। अपनी पुस्तक "दी एसेन्सियल यूनिटी ऑफ ऑल रेलिजन्स' में उन्होंने धार्मिक एकता को विभिन्न रूपों में सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार जो यह मानते हैं कि धर्मों में एकता सम्भव नहीं हो सकती या यह एकता कल्पना मात्र है अथवा धर्म के द्वारा लोगों में संगठन नहीं पैदा किया जा सकता, कोरा भ्रम और निराशापूर्ण विचार है। उन्होंने 'समन्वय' नामक पुस्तक में अपने विचार प्रकट किये हैं—"कोई 'नमाज' के नाम से कोई 'सन्ध्या' के नाम से, कोई 'प्रेयर' के नाम से, उसी एक परमात्मा 'अल्ला' 'गॉड' को याद करते हैं।.........यह बात सभी मजहब वाले मानते हैं कि खुदा

एक है। सबसे बड़ा खुदा, अल्लाह-अकबर, महादेव परम ईश्वर, परम आत्मा, पर-ब्रह्म इन सब का अर्थ एक ही है।.........अगर एक मजहब वाले 'ओम्' कहते हैं तो दूसरे 'आमी' और तीसरे 'एमेन', तीनों एक ही चीज हैं और एक ही मतलब रखते हैं'[1]

'सब धर्मों के उसूल एक हैं'

सूफियों ने कहा है :

'फकत तकावत है नाम ही का, दर असल सब एक ही है यारो,
जो आबिसाफी के मौज में हैं, उसी का जलवा हवाब में है।

उपनिषदों में भी यह कहा गया है :

'गवां अनेक वर्णानां, क्षीरस्य आस्यि एक वर्णता;
तथैव सर्व धर्माणां तत्वस्यऽपि एक वस्तुता।

'गाय बहुत रंग की पर दूध सबका सफेद श्वेत ही, वैसे धर्म बहुत, भाषा बहुत अस्ल बात तत्व वस्तु एक ही'[2] इसी पुस्तक में आगे अनेक ढंग से भगवानदास जी ने समन्वय के सम्बन्ध में वक्तव्य दिया है। वे विभिन्न धर्मों के बीच समानता उसी प्रकार देखते हैं जिस प्रकार विभिन्न रुचि, व्यवसाय और वेश-भूषा वाले व्यक्तियों के बीच भी समानता देखी जा सकती है। विभिन्न देशों में एकता तभी सम्भव है जब धर्मों के बीच एकता स्थापित की जाय। उनका कथन है कि जिस प्रकार विभिन्न नदियों का उद्गम स्थल चाहे जो हो परन्तु वे अन्ततः गिरती हैं जा कर समुद्र में ही। उसी प्रकार विभिन्न धर्मों से चलता हुआ व्यक्ति अन्त में ईश्वर को ही प्राप्त करता है।

आलोचना

(1) वस्तुतः डॉ० भगवानदास का सर्वधर्म-समन्वय का प्रयास तार्किक आधार पर खरा नहीं उतरता। इनके अनुसार ईश्वर ही एक तत्व है, जो सभी धर्मों में निहित है, परन्तु अलग-अलग धर्मों का ईश्वर अलग-अलग है, जैसे ईसाई का ईश्वर प्रेमस्वरूप है और इस्लाम का ईश्वर न्यायस्वरूप है। इसके अतिरिक्त जैन और बौद्ध धर्म में ईश्वर को स्थान ही नहीं। फिर कैसे कहा जा सकता है कि सभी धर्मों में ईश्वर एक ही मात्र तत्व है ?

(2) उन्होंने ईसाई, सूफी, वैष्णव, शैव आदि विभिन्न मतों का अवलोकन करके समन्वय का प्रयास किया है, परन्तु इनमें से कोई रहस्यवादी धर्म है, कोई उपासना प्रधान। इसके अतिरिक्त इनका लक्ष्य भी अलग-अलग है। कैसे विभिन्न लक्ष्यों की ओर जाने वाले धर्मों को एकता के सूत्र में पिरोया जा सकता है ?

---

1. डॉ० भगवानदास, समन्वय, पृ० 247।
2. वही, पृ० 239।

(3) यदि यह भी मान लिया जाय कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक है जिस पर विभिन्न मार्गों से जाया जा सकता है, जैसे नदियाँ विभिन्न मार्गों से समुद्र में जाकर मिलती हैं, तो इतना तो निश्चित हो गया कि धर्म अनेक हैं। धर्म की अनेकता मानव प्रकृति की विभिन्नता के कारण भी अनिवार्य हैं क्योंकि वह अपनी प्रकृति के अनुसार ही धर्मानुसरण करता है। धर्म और लक्ष्य की अनेकता के कारण भी एक तत्व का सिद्धान्त सही नहीं प्रतीत होता है। डॉ० राधाकृष्णन् और डॉ० भगवानदास के मतों की आलोचना से यह भी स्पष्ट होता है कि कोई निरपेक्ष धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता। सभी धर्म सापेक्ष है।

(घ) **सापेक्षवादी सिद्धान्त**—अन्त में हमें इस मत को स्वीकार करना पड़ेगा कि धर्म अनेक और सापेक्ष हैं। किसी एक ही धर्म को सत्य नहीं माना जा सकता। धर्म को विज्ञान की तरह निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैज्ञानिक निष्कर्ष वैज्ञानिक की इच्छा पर निर्भर नहीं करता, परन्तु धर्म इसके विपरीत व्यक्ति की रुचि शिक्षा-दीक्षा, संस्कार, अभिवृत्ति पर निर्भर करता है। धर्म वैयक्तिक दृष्टिकोण है। व्यक्ति के अनुसार ही उसका आराध्यदेव भी होगा। व्यक्ति की अनेकता पर ही धर्म की अनेकता निर्भर है। इस प्रसंग में श्री रामकृष्ण की उक्ति सत्य चरितार्थ होती है। "जो भक्त जिस प्रकार देखता है वह वैसा ही समझता है।" धर्मों की अनेकता में एकता देखने की भावना या दृष्टि आवश्यक है। यदि धर्म अनेक हैं तो उनमें संघर्ष होगा ही, फिर समन्वय कैसे होगा? इसके उत्तर में सापेक्षवादी दृष्टिकोण ही रखना होगा। इसका बोध तभी होगा जब धर्मों की अनेकता में एकता देख सकें और उसी के आधार पर सभी धर्मों के प्रति आदर-भाव रख सकें। श्री रामकृष्ण ने इसी को एक उदाहरण द्वारा समझाया है। एक व्यक्ति ने जंगल में पेड़ पर सुन्दर लाल कीड़ा देखा। दूसरे से कहने पर जवाब मिला कि वह कीड़ा लाल नहीं हरा है, मैंने भी देखा है। तीसरे ने कहा न लाल न हरा वह तो पीला है। किसी ने भूरा किसी ने बैंगनी किसी ने आसमानी रंग का भी बताया। फिर सभी मिलकर उस कीड़े को देखने गये। वहाँ जो व्यक्ति रहता था और जिसने उनको देखा है, पूछने पर बताया कि 'मैं इस पेड़ के नीचे रहता हूँ, उस कीड़े को मैं खूब पहचानता हूँ, तुम लोगों ने जो कुछ कहा, सब सत्य है। वह कभी लाल, कभी हरा, कभी पीला, कभी आसमानी और जाने कितने रंग बदलता है। फिर कभी देखता हूँ कोई रंग नहीं। अर्थात् जिसे धर्म का वास्तविक ज्ञान और महत्व मालूम है, वही धर्मों की सत्यता जान सकता है। जो पेड़ के नीचे रहता है वही जानता है कि कीड़े के कितने रंग हैं, दूसरे लोग तो केवल वाद-विवाद करके कष्ट उठाते हैं।'[1]

धर्म-समन्वय सापेक्षवादी दृष्टिकोण पर आधारित है

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द द्वारा सर्वधर्म-समन्वय—सभी धर्मों के

---

1. श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, पृ० 138-39।

प्रति निष्ठाभाव, सहानुभूति, सहभागिता, समदर्शिता और आदर प्रकट करना सर्वधर्म-समन्वय के लिए आवश्यक है। श्रीरामकृष्ण ने अपनी धार्मिक साधना से यह सिद्ध करके प्रदर्शित कर दिया है। उन्होंने स्वतः ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म तथा अन्यान्य हिन्दू धर्मों की साधनाएँ की। उसी से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'जितने मत उतने पथ' सभी धर्म सत्य हैं। धर्म ही ईश्वर नहीं है। भिन्न-भिन्न धर्मों का सहारा लेकर ईश्वर के पास जाया जाता है।' नदियाँ भिन्न दिशाओं से आती हैं, परन्तु सभी समुद्र में जा गिरती हैं। वहाँ पर सभी एक हैं।' सभी धर्मों के लोग एक ही को पुकार रहे हैं। कोई कहता है ईश्वर, कोई राम, कोई हरि, कोई अल्लाह, कोई ब्रह्म—नाम अलग-अलग हैं परन्तु वस्तु एक ही है।' एक तालाब में चार घाट हैं, एक घाट से हिन्दू जल पी रहे हैं, वे कह रहे हैं 'जल', दूसरे घाट में मुसलमान, कह रहे हैं 'पानी' तीसरे घाट में ईसाई, कह रहे हैं 'वाटर' चौथे घाट में कुछ आदमी कह रहे हैं 'अकुआ'। वस्तु एक ही है—जल, पर नाम अलग-अलग है। अतएव झगड़ा करने का क्या काम ? सभी एक ईश्वर को पुकार रहे हैं और सभी उन्हीं के पास जाएँगे।' किसी के पूछने पर यदि दूसरे धर्म में गलत बातें हों तो ? श्री रामकृष्ण कहते हैं—गलत बातें भला किस धर्म में नहीं हैं ? सभी कहते हैं 'मेरी घड़ी सही चल रही है, परन्तु कोई भी घड़ी बिल्कुल सही नहीं चलती, सभी घड़ियों को बीच-बीच में मिलाना पड़ता है।' गलत बातें किस धर्म में नहीं हैं, और यदि गलत बातें रहीं भी, परन्तु यदि आन्तरिकता हो, यदि व्याकुल होकर उन्हें पुकारो तो अवश्य ही सुनेंगे।[1] धर्मों के प्रति यह दृष्टिकोण सापेक्षवादी है। सभी धर्म सत्य हैं उनके प्रति निष्ठा का भाव और धर्म तत्व में आन्तरिकता की आवश्यकता है। यह कहना कि मेरा ही धर्म ठीक है अन्य धर्म गलत हैं, ईश्वर मुझ पर ही कृपा करेगा, ठीक नहीं है। आन्तरिक प्रेम होने पर ईश्वर सब का है।

स्वामी विवेकानन्द ने सर्वधर्म-समन्वय का श्लाघनीय एवं स्तुत्य प्रयास किया है। उनका भी दृष्टिकोण सापेक्षवादी है। यह बात तार्किक रूप से भी सिद्ध होती है। शिकागो धर्म महासभा में उनके उद्‌गार इस प्रकार हैं—"यदि कोई महाशय यह आशा करें कि यह एकता इन धर्मों में से किसी एक की विजय और बाकी अन्य सब के नाश से स्थापित होगी तो उनसे मैं कहता हूँ कि 'भाई तुम्हारी यह आशा असम्भव है।' 'न तो ईसाई को हिन्दू या बौद्ध होना पड़ेगा, और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही।' पर हाँ प्रत्येक मत के लिए यह आवश्यक है कि वह अन्य मतों को आत्मसात् करके पुष्टि लाभ करे; और साथ ही अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करता हुआ अपनी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।" स्वामी विवेकानन्द से समन्वय-कारी दृष्टिकोण को ही स्वाभाविक माना है। सत्य सदा सार्वभौमिक रहा है। यदि केवल मेरे ही हाथ में छः उँगलियाँ हों और तुम सब के हाथ में पाँच, तो तुम

1. वही, भाग तीन, पृ० 554-557।

यह न सोचोगे कि मेरा हाथ प्रकृति का सच्चा अभिप्राय है, प्रत्युत यह समझोगे कि वह अस्वाभाविक और एक रोग विशेष है इसी प्रकार धर्म के सम्बन्ध में भी है। यदि केवल एक ही धर्म सत्य होवे और बाकी सब असत्य तो तुम्हें यह कहने का अधिकार है कि वह एक धर्म कोई रोग विशेष है, यदि एक धर्म सत्य है तो अन्य सभी धर्म सत्य होंगे ही।"[1]

महात्मा गाँधी—

महात्मा गाँधी ने सर्वधर्म-समन्वय के लिए धर्मों के प्रति आदर, निष्ठा और सहभागिता पर जोर दिया है। उनके अनुसार भी सभी धर्म सत्य हैं। उनके प्रति सहानुभूति और अपनत्व की भावना आवश्यक है। उन्होंने धर्म का अर्थ उस धर्म से लिया है जो सभी धर्मों को समाहित करे, जो सृष्टिकर्त्ता का साक्षात्कार कराए। ऐसा धर्म सब धर्मों से ऊपर है। वह सब की दृष्टि का परिवर्तन करता है। गाँधी जी ने सभी धर्मों के शास्त्रों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि सभी धर्मों में आवश्यक रूप में एकता है। यदि मनुष्य सच्चे अर्थों में धार्मिक है तो कोई भी धर्म एक दूसरे का बाधक नहीं है। यही कारण है कि वे ईसाई, इस्लाम, पारसी तथा हिन्दू धर्म के धर्म-ग्रन्थों में एक समान विश्वास रखते थे, उनका पाठ करते थे, और उनके सिद्धान्तों पर चलने का आग्रह करते थे। उनका कहना है 'मैं जैसा विश्वास गीता में रखता हूँ वैसा ही बाइबिल में भी। मैं अपने धर्म के समान ही विश्व के सभी धर्मों में विश्वास रखता हूँ। किसी विशेष धर्म का उसके ही अनुयायियों द्वारा मजाक उड़ाते देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है।' मनुष्य धार्मिक अज्ञानता के कारण ही एक दूसरे का विरोध करता है। सच्चा धर्म सभी धर्मों के प्रति निष्ठा के भाव से ही उत्पन्न हो सकता है। इसी से मानव को उत्थान और सर्वमुक्ति का पाठ सिखाया जा सकता है।

अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सभी धर्मों के प्रति आदर-भाव, धार्मिक सौहार्द्र तथा सहभागिता के आधार पर ही सर्वधर्म-समन्वय किया जा सकता है।

धर्म का भविष्य—कुछ विचारकों की यह धारणा है कि सामान्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अपने धर्म के समान सभी धर्मों के प्रति उदार हो और उनमें भाग ले सके। धार्मिक कलह और संघर्ष तब तक बने ही रहेंगे जब तक कि इन परम्परावादी धर्मों का अस्तित्व बना रहेगा। इसलिए आवश्यक है कि युग के अनुकूल इस प्रजातान्त्रिक स्थिति में एक विश्वजनीन धर्म माना जाय जो सब के अनुकूल हो और वह है मानवतावादी धर्म, जिसमें मानव-मूल्यों को दृष्टि में रखकर मानवता की सेवा-भावना निहित है। यही भविष्य में विश्व का धर्म स्वीकृत किया जा सकता है। परन्तु हमारे दृष्टिकोण से यह असम्भव की सम्भावना है। धर्म के मूल में ही उपासना, ज्ञान, आस्था निहित है, जो मानवतावाद में सम्भव नहीं है। हाँ, धर्म में मानवतावाद अवश्य निहित है। धर्मों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण ही मानवतावादी धर्म है। ईश्वरविहीन मानवता सम्भव नहीं है। सारांश में सापेक्षवादी दृष्टिकोण, धर्मों के प्रति आदर, निष्ठा तथा सहभागिता ही वह बिन्दु हैं, जहाँ धर्मों की एकता या समन्वय सम्भव है।

---

1. वही, पृ० 559।

11 धर्म निरपेक्षतावाद

पृष्ठ भूमि—धर्म निरपेक्षतावाद वैसे आधुनिक युग की एक पाश्चात्य धारणा है, जो[1] मानवतावाद का एक अंग कहा जा सकता है। यह वह सिद्धान्त या दर्शन है जो मानव-हितों को सर्वोपरि स्थान देता है। इसमें पारलौकिक जगत का विरोध तथा लौकिक जगत को महत्व दिया जाता है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण से पाश्चात्य जगत के धर्म निरपेक्षतावाद का हू-बहू रूप नहीं स्वीकार किया जाता। धर्म निरपेक्षतावाद का सम्बन्ध एक ओर धर्म से है तो दूसरी ओर राज्य से। इसके ऐतिहासिक रूप को देखने से इसके वास्तविक स्वरूप का पता चल सकता है और भारतीय दृष्टिकोण से इसका भेद भी स्पष्ट किया जा सकता है। वैसे भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद पाश्चात्य विचारधारा का ही एक रूप है परन्तु उसका उपयोग भारतीय सिद्धान्त और परम्परा के आधार पर किया गया है। अतः यहाँ हम धर्म निरपेक्षतावाद को दो रूपों में देखेंगे, एक पाश्चात्य धर्म निरपेक्षतावाद और दूसरा भारतीय निरपेक्षतावाद।

पाश्चात्य धर्म निरपेक्षतावाद—'इनसाक्लोपीडिया ऑफ रीलीजन ऐण्ड इथिक्स' में धर्म निरपेक्षतावाद के विषय में बताया गया है कि धर्म निरपेक्षतावाद का वर्णन एक आन्दोलन के रूप में किया जा सकता है, जो नैतिकता को आधार

---

1. मानवतावाद—वह मत या विचारधारा है, जिसके अनुसार मानव हित सर्वोपरि है। इसमें ईश्वर या किसी अतीन्द्रिय शक्ति को स्थान नहीं है। मानव कल्याण किसी बाह्य सत्ता पर निर्भर न होकर मनुष्य के श्रम, बुद्धि और कौशल पर निर्भर है।
2. Secularism may be obscribed as a movement, intentionally, ethical negativaly religious, with political and philosophycal antecedent. वाल्यूम XI, पृ० 347.

'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार 'धर्मनिरपेक्षतावाद' का अर्थ इस प्रकार है—"गैर आध्यात्मिक धर्म अथवा आध्यात्मिक विषयों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न होना···वह जो धर्म से भिन्न हो उसके विरुद्ध अथवा उससे सम्बन्धित न हो अथवा धार्मिक वस्तुओं से सम्बन्धित न हो तथा आध्यात्मिक और धार्मिक वस्तुओं के विपरीत सांसारिक (ऐहिक) हो।"

मानता है तथा धर्म के प्रति नकारात्मक दृष्टि रखता है। इस आन्दोलन की पूर्व पीडिका राजनैतिक और दार्शनिक है।[2] इसकी उत्पत्ति की दशाएँ कुछ तो राजनैतिक हैं और कुछ दार्शनिक।

राजनैतिक क्षेत्र में मध्य युग के पूर्व तक धर्म राजनीति पर छाया हुआ था। चर्च अपनी सत्ता राज्य पर चाहता था और राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता चाहता था, कभी तो धर्म का आश्रय लेता रहा और कभी धर्म का विरोध करता रहा। आधुनिक युग के राजनीतिक दार्शनिक मैकियावली ने सर्वप्रथम राजसत्ता को धर्म सत्ता से पृथक दर्जा देने का आग्रह किया और धर्म को राज्य के अधीन करने की माँग की। इससे पता चलता है कि आधुनिक युग में राजनीतिक सत्ता का धर्म से अलगाव प्रारम्भ हो गया था। धर्म निरपेक्ष राज्य या समाज का यह प्रथम रूप है।

इसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारण भी सहायक हुए हैं। विशेष रूप में सामाजिक अत्याचार, उत्पीड़न, धनिकों और प्रभावकारी लोगों का स्वार्थ तथा धर्म के अत्याचार से भी इसके उद्भव को बल मिला है। सारांशतः सामाजिक और धार्मिक अत्याचार के प्रति जो प्रतिक्रिया हुयी धर्म निरपेक्षतावाद उसी का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि धर्म निरपेक्षतावाद मूल रूप से अस्वीकार का आन्दोलन है।

धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना भी धर्म निरपेक्षतावाद के आन्दोलन का कारण है। यूरोप में जब प्रोटेस्टेन्ट धर्म का प्रभाव शुरू हुआ तो लोगों ने धर्म पर समान अधिकार की माँग की, परन्तु कैथोलिक पादरी इस पर सहमत नहीं हुए, इसका परिणाम यह हुआ कि विचारकों और सामाजिक सुधारकों ने धार्मिक संगठनों को बिना महत्व दिये राष्ट्र के विषय में विचार-विमर्श शुरू किया। धर्म का विरोध करते हुए राष्ट्र के हित के चिन्तन में स्वतन्त्र विचारकों ने पारलौकिक जगत (अध्यात्म जगत) और ईश्वर चिन्तन का विरोध किया। चर्च के आतंक से और पुजारियों के प्रभाव से अलग होकर स्वतन्त्र विचार का समर्थन किया। बुद्धि, विज्ञान, लौकिक जगत, तर्क, सामाजिक न्याय, लोक कल्याण आदि की पृष्ठभूमि में स्वतन्त्र चिन्तन का स्वागत हुआ। इन स्वतन्त्र चिन्तकों ने धर्म और पारलौकिकता के स्थान पर नैतिकता को महत्व दिया। इनकी दृष्टि में नैतिक जीवन के लिए आवश्यक नहीं है कि ईश्वर और पारलौकिक जीवन में विश्वास किया जाय। दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में उपयोगितावादी विचारकों का प्रभाव इस पर स्पष्टतः देखा जाता है। जेम्स, बेन्थम तथा जे० एस० मिल आदि ब्रिटिश उपयोगितावादियों का धर्म निरपेक्षतावाद के प्रचार में महत्वपूर्ण स्थान है।

संस्थापक—जार्ज जेकब होलीओक (सन् 1817-1906) धर्म निरपेक्षता के संस्थापक कहे जाते हैं। इनका जन्म बर्मिङ्घम में सन् 1817 में हुआ था। शिल्पकार की सन्तान होकर इन्होंने जीवन की कठिनाइयों का अनुभव किया था। इनमें

मानव की स्थिति के सुधार के लिए भीतरी छटपटाहट स्वाभाविक थी। इनके साथियों चार्ल्स साउथवेल, थामस कूपर, विलियन मिल्टन आदि ने होलिओक को पूर्ण समर्थन दिया। होलिओक का यह आन्दोलन 1849 में शुरू हुआ। अनीश्वरवाद (Atheism) के विकल्प के रूप में ही इन्होंने 'सेक्यूलरिज्म' शब्द का निर्माण किया। होलिओक के अनुसार 'सेक्यूलरिज्म' का मुख्य उद्देश्य है मानव जाति की उस स्थिति का सुधार करना जिसमें वह रह रहा है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के हितों को प्राप्त कराना इसका उद्देश्य है। इस आंदोलन की यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि इसमें न तो ईश्वरवाद और न ही अनीश्वरवाद को ही महत्व दिया जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह भी है कि इस आन्दोलन में ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवाद के विषय में सर खपाने की अपेक्षा मानव के लौकिक जीवन की सुख-सुविधा को परम-लक्ष्य मानना चाहिए, इस पर जोर दिया गया। लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए किसी दैवी सत्ता में विश्वास न करके मानव की बुद्धि और भौतिक साधनों पर ही निर्भर होना चाहिए। होलिओक के अनुसार धर्मनिरपेक्षतावाद में कट्टरवादिता, हठ-वादिता नहीं है। इसका लक्ष्य दैवी सत्ता की आलोचना करने की अपेक्षा, मानव हित को ढूँढ़ना है। यह दैवी सत्ता के प्रति तटस्थ और उदासीन है। इसे धर्म निरपेक्षतावाद इसलिए भी कहते हैं कि यह परम्परागत धर्मों का विरोध न करके उनके प्रति तटस्थ रहता है।

सिद्धान्त—संक्षेप में धर्म निरपेक्षतावाद के मूल सिद्धान्तों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(1) मानव की वास्तविक स्थिति में सुधार और प्रगति केवल भौतिक साधनों, खनिज पदार्थों, तकनीकी, उद्योग, कल-कारखानों के द्वारा लाना। मनुष्य को लौकिक सुख सुविधा की प्राप्ति कराना।

(2) विज्ञान की प्रगति के साथ धर्म से उसका कई रूपों में विरोध प्रकट हुआ जिसके कारण धर्म की मान्यताएँ हास्यास्पद सिद्ध होने लगीं। अलौकिक शक्ति में विश्वास रखने की अपेक्षा वैज्ञानिक साधनों पर निर्भर रहना अधिक उपयुक्त है। विज्ञान उन्हीं विषयों में आस्था रखता है जो वास्तविक जीवन के अनुभवों से सिद्ध होते हैं। अतः धर्म निरपेक्षतावाद जीवन के अनुभव पर आधारित है और ये अनुभव तर्क तथा कार्य के अनुभवों से पुष्ट तथा स्थिर किये जा सकते हैं। मन-गढ़न्त और कपोल-कल्पना के अनुभव जो जीवन और कार्य से सिद्ध नहीं किये जा सकते, उनको स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। इसी से बेकारी और आर्थिक स्वतन्त्रता की समस्या हल हो सकती है। अलौकिक अनुभव हमारी लौकिक समस्याओं का हल नहीं ढूँढ़ सकते।

(3) धर्म निरपेक्षतावाद जीवन के कल्याण और मनुष्य के आचरण तथा व्यवहार के लिए निरपेक्षता का सिद्धान्त अपनाता है। यह निरपेक्षता-भौतिक

विज्ञानों में देखी जा सकती है जैसे भौतिकी रसायन आदि निरपेक्ष हैं। जैसे इन विज्ञानों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है; न तो ये धर्म के पक्ष में हैं और न विपक्ष में, उसी प्रकार धर्म निरपेक्षतावाद विज्ञान की तरह तटस्थ होकर मानव-कल्याण का कार्य करता है। धर्म से लड़ना इसका उद्देश्य नहीं है? तटस्थ रहना ही इसका लक्ष्य है।

(4) धर्म निरपेक्षतावाद का सम्बन्ध लौकिक जगत से है। पारलौकिक जगत से ईश्वरशास्त्र (Theology) का सम्बन्ध है, परन्तु धर्म निरपेक्षतावाद केवल लौकिक जगत से सम्बन्ध रखता है अर्थात् उस जगत से जो ज्ञात है और जिसकी व्याख्या वास्तविक जीवन के अनुभवों से की जा सकती है। पारलौकिक जगत अज्ञात है और लौकिक जगत के अनुभवों में उसकी व्याख्या भी नहीं की जा सकती। अतः उसके प्रति तटस्थ रहना ही ठीक है।

चूंकि धर्म निरपेक्षतावाद लौकिक जीवन को ही महत्व देता है इसलिए कुछ लोग इसे लौकिकतावाद या ऐहिकता का भी नाम देते हैं, पाश्चात्य देशों में धर्म निरपेक्षतावाद से ऐहिकता का अर्थ लिया जाता है। परन्तु धर्म निरपेक्षता ऐहिकता से अधिक व्यापक है। ऐहिकता धर्म निरपेक्षतावाद का एक तत्व है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इसकी व्यापकता इससे भी सिद्ध होती है कि इसमें नैतिकता को भी महत्व दिया गया है। नैतिकता को जानने के लिए लौकिकता या ऐहिकता, से थोड़ा आगे जाना पड़ेगा। इसलिए धर्म निरपेक्षतावाद का अर्थ धर्म से 'तटस्थता' के अर्थ में ही लिया जाना चाहिए।

(5) धर्म निरपेक्षतावाद में ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दोनों को स्थान नहीं है, क्योंकि दोनों ही अनुभव से सिद्ध करने योग्य नहीं हैं।

(6) धर्म निरपेक्षतावाद नैतिकता को उन्हीं आधारों पर मान्यता देता है जो ईसाई धर्म में हैं अर्थात् नैतिकता की दृष्टि से दोनों मत समान हैं परन्तु धर्म निरपेक्षतावाद ईसाई धर्म के अन्ध विश्वासों के साथ सहमत नहीं है; क्योंकि ईसाई धर्म में ऐसे विश्वास जो अनुभव और तर्क की सीमा के परे हैं उनको स्वीकार नहीं किया जा सकता।

क्या 'सेक्यूलरिज्म' अनीश्वरवाद है ?—धर्म निरपेक्षतावाद की धर्म के प्रति 'तटस्थता' के कारण कुछ लोगों की यह धारणा बन जाती है कि धर्म निरपेक्षतावाद अनीश्वरवाद है, परन्तु होलिआक ने बार-बार यही कहा है कि दोनों अलग हैं। अनीश्वरवाद अनुभव का विषय नहीं इसलिए उससे तटस्थ रहना ही ठीक है। धर्म निरपेक्षतावाद का आधार तो बुद्धि और तर्क है। नैतिकता भी बुद्धि पर ही निर्भर है। धर्म निरपेक्षतावाद मनुष्य के जीवन में नैतिकता को महत्व देता है। ईश्वरवाद या अनीश्वरवाद के प्रति वह तटस्थ ही है।

समीक्षा—(1) पाश्चात्य देशों में धर्मनिरपेक्षतावाद के सिद्धान्त इतने लोक-

प्रिय हुए कि 19वीं शताब्दी के मध्य तक इसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत हुआ। मानव का हित, लोक कल्याण, विज्ञान, तकनीकी, उद्योग-धन्धे यही इसके मूल विचार बिन्दु हैं। इन्हें स्वीकार करने में धार्मिक विश्वासों और मतों, श्रुतियों तथा धर्म ग्रन्थों का कोई स्थान नहीं है। यह पूर्णतया मानववाद है। इस रूप में साम्यवाद धर्म निरपेक्षता का एक उग्ररूप है। चीन, जापान आदि देश भी इसे इसी रूप में स्वीकार करते हुए मानव-कल्याण में निरत हैं। इसका प्रभाव मानव-समाज पर स्पष्ट दिखलाई दे रहा है। आज मनुष्य, भौतिक साधनों पर निर्भर रहकर जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति बिना ईश्वर की दुहाई दिए हुए करने में समर्थ हो रहा है। खनिज पदार्थों का उपयोग करते हुए, तकनीकी में प्रगति करते हुए मानव की सभी सुख सुविधाओं की सामग्री में वृद्धि करता जा रहा है। आज बीमारी, अकाल, बाढ़, भूकम्प आदि आपदाओं का सामना तन्त्र-यन्त्र या पूजा-पाठ के द्वारा नहीं, अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के द्वारा खोजे गए विभिन्न साधनों से करने में सक्षम हो रहा है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि स्वर्ग की सभी कल्पित सुख-सुविधाएँ आज मनुष्य बिना धर्म को आधार माने हुए प्राप्त करने में सक्षम है। इतना ही नहीं प्रगति की संभावना अब भी बहुत अधिक है।

(2) राज्य और मानव-हित के लिए धर्मनिरपेक्षतावाद में पाए जाने वाले गुण जैसे सहिष्णुता, उपयोगितावाद, तकनीकी पर बल और लौकिकतावादी दृष्टि आवश्यक है। इसके विपरीत धर्म में जो हठवादिता और कट्टरपन तथा असहिष्णुता है, वह मानव हित के लिए ठीक नहीं है।

(3) धर्म निरपेक्षतावाद के अनेक गुण हैं और इसका महत्व भी है परन्तु इसमें बहुत सी कमियाँ भी हैं। धर्म से बिल्कुल अलग हटकर यह मानव की सेवा नहीं कर सकता। कुछ लोगों का कहना है कि—"धर्म निरपेक्षतावाद द्वारा धर्म को नकारने की अपेक्षा उसकी उपेक्षा (ignore) करना अव्यावहारिक है। अर्थात धर्म की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि धर्म 'सेक्यूलर' और अध्यात्म दोनों को अपने अन्दर समेटता है। दूसरे शब्दों में धर्म में व्यवहार और परमार्थ, लौकिक और पारलौकिक दोनों जगत सम्मिलित हैं। अतः सिद्ध है कि धर्म की उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

(4) धर्म निरपेक्षतावाद तथ्य और मूल्य में अन्तर करने में सक्षम नहीं है। इसका कारण यह है कि धर्मनिरपेक्षतावाद तर्क और बुद्धि को ही महत्व देता है। इसके आधार पर मिले हुए ज्ञान को सार्वलौकिक बनाया जा सकता है। यदि यह नैतिक मूल्य मानता है तो प्रश्न उठता है कि इस मूल्य का तथ्यों से भेद कैसे स्पष्ट होगा? क्योंकि मूल्य का स्थायित्व और महत्व तो आस्था पर आधारित है। परन्तु आस्था को धर्म निरपेक्षतावाद में स्थान नहीं है। वह तो तर्क और बुद्धि को महत्व देता है।

(5) धर्म निरपेक्षतावाद परम्परागत धर्मों को स्वीकार नहीं करता, परन्तु इसका प्रादुर्भाव एक आन्दोलन और जीवन तथा चरित्र के सिद्धान्त के रूप में हुआ और संभवतः यह परम्परा के रूप में शेष भी रह जाएगा। फिर भी इसका पालन परम्परागत धर्मों की तरह ही होने लगेगा। देखने में भी आता है कि साम्यवाद जो धर्म निरपेक्षतावाद का उग्ररूप है, परम्परा के रूप में ही साम्यवादियों द्वारा स्वीकार किया जाता है और उसके साहित्य तथा नेताओं के प्रति लोगों की आस्था परम्परागत धर्मों की तरह ही होती है। सारांश यह है कि धर्मनिरपेक्षतावाद भी परम्परा का रूप ग्रहण कर लेगा।

(6) धर्म निरपेक्षतावाद की नैतिक धारणा पर उपयोगितावादी विचारधारा का प्रभाव है। अतः उपयोगितावाद के सभी दोष इस पर भी लागू होते हैं। उपयोगितावाद का लक्ष्य है 'अधिक से अधिक सुख अधिक से अधिक लोगों का' यह सिद्धान्त स्वयं में अपूर्ण है। क्या धर्म निरपेक्षतावाद 'सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय' का सिद्धान्त नहीं स्थापित कर सकता ?

(7) धर्मनिरपेक्षतावाद अपने को भौतिक साधनों, सुख, सुविधा तक ही सीमित रखता है। परन्तु मनुष्य में भौतिकता के प्रति लगाव के अतिरिक्त 'पूर्णता' और 'उद्देश्य' की प्राप्ति के प्रति जो लगाव है, उसके विषय में धर्मनिरपेक्षतावाद क्या कहेगा ? इस प्रश्न का उसके पास कोई उत्तर नहीं है, क्योंकि यह न तो जीवन का कोई अध्यात्मपरक उद्देश्य ही मानता है और न ही विश्व के रचयिता को मानता है। अतः धर्म निरपेक्षतावाद मनुष्य को एक असहाय, और व्यग्रता की अवस्था में छोड़ देता है।

भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद

पाश्चात्य जगत की धर्मनिरपेक्षतावाद की धारणा से भारत अप्रभावित नहीं रहा और देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् उसे भी अपनी धर्मनिरपेक्षता का प्रमाण पत्र संविधान में देना पड़ा, जिसके अनुसार भारतीय संविधान व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपों में किसी भी धर्म को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता देता है। विभिन्न धर्मों को राज्य की ओर से समान रूप से सहायता देने की व्यवस्था है। धर्म के नाम पर राजनीतिक और सामाजिक जीवन में कोई भेद-भाव का बर्ताव नहीं है।

भारतीय संविधान के 42 वें संशोधन (1976) में 'धर्म निरपेक्ष' शब्द जोड़ा गया और घोषणा की गयी कि "हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक धर्म निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता···एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

इतना ही नहीं इसके अनेक अनुच्छेद भी धर्म निरपेक्षता को प्रकट करते हैं। जैसे अनुच्छेद 15 व 16 धार्मिक अविभेदीकरण के सिद्धान्त को प्रकट करता है, जिसके अनुसार बिना धार्मिक भेद-भाव के नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त है। अनुच्छेद 25 के द्वारा व्यक्तिगत सामूहिक धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। अनुच्छेद 27 में धार्मिक विषयों में व्यक्तिगत सहमति को महत्व दिया गया है। अनुच्छेद 23 में राज्य द्वारा संचालित विद्यालयों में अनिवार्य धार्मिक शिक्षा देने का निषेध है। अनु० 325, 350 और 352 में धर्म के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र को बाँटने का निषेध है। इस प्रकार भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। इसकी धर्म निरपेक्षता इस अर्थ में है कि यह धर्मों के बीच सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करता है। भारत न तो रूस की तरह धर्म विरोधी है और न ही इंगलैण्ड की तरह राज्य द्वारा धर्म विशेष का समर्थन करता है। वैसे तो भारतीय हिन्दू धर्म में धर्म निरपेक्षता की प्रवृत्ति निहित है, परन्तु स्पष्ट रूप से राज्य के सन्दर्भ में धर्म निरपेक्षता की धारणा को मुखरित करने वाले प्रथम राजनीतिज्ञ पं० जवाहरलाल नेहरू को कहा जा सकता है। यद्यपि नेहरू जी पाश्चात्य धर्म निरपेक्षतावाद से सर्वाधिक प्रभावित लगते हैं और लौकिकता (ऐहिकता) का ही समर्थन करते हैं फिर भी उनके दृष्टिकोण को नास्तिक नहीं कह सकते, क्योंकि वे यह मानते थे कि मनुष्य की अन्य आवश्यकताओं के अतिरिक्त एक धार्मिक आवश्यकता भी होती है, जो आदर्श के रूप में या 'पूर्णता की प्राप्ति' के रूप में उसे आकर्षित करती है। मनुष्य पूर्णत्व की ओर किसी शक्ति के कारण खिचा चला जाता है। उनका दृष्टि-कोण नास्तिक न होते हुए भी स्पष्टतया यह नहीं कहा जा सकता कि उनको धर्म, ईश्वर, अध्यातम में विश्वास था। वे आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों से प्रभावित थे, इसलिए वैज्ञानिकता, तर्क बुद्धि तथा निरपेक्ष चिन्तन और लौकिकता को अधिक महत्व देते थे। उनकी दृष्टि में धार्मिक पद्धति अवैज्ञानिक और रूढ़िवादी है। धर्म आध्यात्मिक पलायनवाद का रूप लेता है, उनके लिए लौकिक जगत सत्य है। वैज्ञानिक पद्धति और तकनीकी से सम्पूर्ण मानव का उत्थान हो सकता है। इस प्रकार उनका वैज्ञानिक मानवतावाद धर्म निरपेक्षतावाद का रूप लेता है। पाश्चात्य निरपेक्षतावाद का इस अर्थ में कहना न होगा कि पं० नेहरू का धर्म निरपेक्षतावाद पाश्चात्य निरपेक्षतावाद का ही रूप है। इस अर्थ में महात्मा गाँधी का 'सर्वधर्म समभाव' जिसे भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद से भिन्न प्रतीत होता है। गाँधी जी को आध्यात्म और पारलौकिक जगत में पूर्ण आस्था थी। वे हिन्दू धर्म के पूर्ण समर्थक थे और मानते थे कि हिन्दू धर्म विश्व धर्म का ही रूप है। सभी धर्मों में एकता है। धर्मों के प्रति सहिष्णुता और समभाव यही धर्म निरपेक्षता है। नेहरू के धर्म निरपेक्षतावाद में धर्म के प्रति 'तटस्थता' विद्यमान है परन्तु गाँधी के धर्म निरपे-क्षतावाद में 'समभाव' विद्यमान है।

यहाँ भारतीय और पाश्चात्य धर्म निरपेक्षतावाद में अन्तर स्पष्ट है। पाश्चात्य दृष्टि से धर्म निरपेक्षतावाद मूलतः ऐसी स्थिति है, जिसका सम्बन्ध इस लोक से है, परलोक से नहीं। 19 वीं शताब्दी के यूरोप में इस शब्द का प्रयोग ऐसी आचार व्यवस्था के लिए होने लगा जो नैसर्गिक नैतिकता पर आधारित हो, स्व प्रकाशित धर्म पर नहीं।[1] यदि एक शासन सिद्धान्त के रूप में देखें तो धर्म निरपेक्षतावाद का प्रयोग मुख्य रूप से दो अर्थों में होता है—(क) ऐसी स्थिति में जब सरकार धार्मिक संगठन से कोई सरोकार नहीं रखती। (ख) 'ऐसी स्थिति में जब सरकार सभी धार्मिक संगठनों और उनके अनुयायियों के साथ एक जैसा व्यवहार करती है। ऐसी स्थिति में सरकार धार्मिक संगठनों को सहायता दे सकती है : या उनके प्रबन्ध में हस्तक्षेप कर सकती है। परन्तु ऐसा करते समय वह किसी धर्म के साथ भेद-भाव नहीं करती। भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित कर दिया गया। वैसे इससे पहले भी भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य माना जाता रहा है। वस्तुतः भारत के सन्दर्भ में धर्म निरपेक्ष का दूसरा अर्थ अधिक उपयुक्त होता है। जब कि इसका पहला अर्थ यूरोपीय संकल्पना को अधिक अच्छी तरह व्यक्त करता है। भारत में धर्म निरपेक्ष की व्याख्या धर्म के प्रति 'तटस्थता' के भाव के रूप में नहीं दी जाती बल्कि 'धर्म' समन्वय के रूप में दी जाती है। भारत में धर्म निरपेक्षता केवल शासन का सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि यह राष्ट्रीय एकता का मूलमन्त्र भी है।'[2]

अन्तर—भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद की यही धारणा डा० राधाकृष्णन अपनी पुस्तक 'रिकवरी आफ फेथ' में व्यक्त करते हैं; जिससे भारतीय और पाश्चात्य धर्म निरपेक्षतावाद का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। उनके कथनानुसार जब भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य कहा जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम अलौकिक आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हैं अथवा जीवन के लिए धर्म की उपयोगिता को नहीं मानते अथवा हम अधर्म को प्रोत्साहन देते हैं। इसका यह भी अर्थ नहीं होता कि 'सेक्यूलरिज्म' स्वतः एक धर्म बन जाता है, अथवा राज्य दैवी सत्ता का अबाध अधिकार मानता है। यद्यपि परमसत्ता में आस्था रखना भारतीय परम्परा का मुख्य सिद्धान्त है, फिर भी भारतीय राज्य किसी विशिष्ट धर्म से अपना तादात्म्य नहीं रखता या किसी धर्म विशेष से नियन्त्रित नहीं होता। (यहाँ द्रष्टव्य है कि गाँधी जी हिन्दू धर्म का समर्थन करते हैं परन्तु किसी धर्म के पक्षपाती नहीं हैं। हिन्दू धर्म को सभी धर्मों का समागम मानते हैं। सर्वधर्म समभाव से धर्म विशेष से पक्षपात नहीं सिद्ध होता। राज्य के स्तर पर यही निष्पक्षता ही सेक्यूलरिज्म का

---

1. **ओम प्रकाश गाबा**—राजनीतिक विज्ञान कोष, पृ० 274-75
2. वही, पृ० 274-75

रूप हो जाती ।) इस प्रकार हम मानते हैं कि किसी एक धर्म को वरीयता नहीं दी जाएगी। अथवा विशेष भेद दृष्टि नहीं रखी जाएगी। राष्ट्रीय जीवन में या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी एक धर्म को विशेष दर्जा नहीं दिया जायेगा, क्योंकि दूसरे प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लंघन होगा तथा धर्म और सरकार के हित में विरोधी सिद्ध होगा । डा० राधाकृष्णन के अनुसार इस प्रकार धार्मिक निष्पक्षता सहिष्णुता और भविष्यगामी दृष्टि और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के लिए अधिक महत्वपूर्ण होगी।[1] यहाँ पाश्चात्य और भारतीय धर्म निरपेक्षता का दृष्टिकोण बहुत ही उभरकर सामने आता है। पाश्चात्य देशों का धर्म के प्रति 'तटस्थता' भारतीय दृष्टि में 'निष्पक्षता' में बदल जाती है। धर्मों के प्रति 'उपेक्षा' 'सहिष्णुता, का रूप ले लेती है और ऐहिकता (लौकिकता) तथा आध्यात्म का अलगाव भारतीय मत में सिमट कर एक हो जाता है। धर्म में लोक और परलोक अलग-अलग नहीं हैं। विश्व जनीन दृष्टि से भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विलगाव नहीं रखता। आज के इस वैज्ञानिक युग में धर्म को वैज्ञानिक दृष्टि देनी होगी न कि धर्म को जीवन से बिलकुल अलग कर देना होगा।

भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद के अनुसार धर्म के एक समूह के नागरिकों के द्वारा ऐसे अधिकार की माँग नहीं की जा सकती जो अन्य धर्म के समूह के लोगों के विरुद्ध सिद्ध होता हो। सामान्य जीवन में सभी का समान हिस्सा है कोई भी व्यक्ति या समूह धर्म के कारण भेद-भाव की दृष्टि से नहीं देखा जाएगा । भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद का यह सिद्धान्त राज्य और 'चर्च' का अलगाव सिद्ध कर देता है। इस प्रकार भारतीय राज्य की धार्मिक 'निष्पक्षता' को पाश्चात्य धर्म निरपेक्षतावाद या अनीश्वरवाद के साथ नहीं रखा जा सकता। डा० राधाकृष्णन स्पष्ट रूप में भारतीय निरपेक्षतावाद का पाश्चात्य धर्म निरपेक्षतावाद से विलगाव सिद्ध करते हैं। धर्मों में समभाव मैत्री और सहिष्णुता यही भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद के मुख्य गुण हैं।

भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद में अन्य भारतीय विचारकों के अतिरिक्त गाँधी जी की विचारधारा की अपनी खास विशेषता है। यह विशेषता है—राज्य और धर्म के सम्वन्ध का विवाद और उसका हल। यही है भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद

---

1. रिकवरी आफ फेथ—पृ० 202

2. वही—Secularism as here defined is in accaodance with the ancient religious tradition of India it tries to build up fellowship of belivers, not by subordinating individual qualities to the group mind buot by bringing them in to hermony with each other.'

पृ० 202

का महत्वपूर्ण बिन्दु । जब कि एक ओर विश्व का लोकतन्त्र पाश्चात्य 'सेक्यूलरिज्म' की ओर भाग रहा था । गाँधी का कहना था कि राजनीति को धर्म-मय होना चाहिए । धर्म से अलग राजनीति जनता का कल्याण नहीं कर सकती । यहाँ गाँधी जी पाश्चात्य अर्थ में तो धर्म निरपेक्षवादी नहीं प्रतीत होते परन्तु सही बात तो यह है कि गाँधी जी जितना ही जोर राजनीति को धर्म-मय करने के लिए देते हैं उतना ही अधिक धर्म निरपेक्षतावाद की पुष्टि करते हैं । इसका कारण यह है कि गाँधी जी का दर्शन और धर्म किसी ऐसे विशेष सिद्धान्त से नहीं जुड़ा हुआ है जिसकी भावना साम्प्रदायिकता, वर्ग-भेद या जाति-भेद का संकेत देती हो । गाँधी का ईश्वर अल्ला, राम सब कुछ है, गाँधी का दर्शन वह मानवतावाद नहीं जो 'कुछ' को छोड़ कर 'कुछ' को ग्रहण करता हो । 'मानवतावाद' अनीश्वरवाद है, परन्तु गाँधी अनीश्वरवादी न होते हुए भी मानवतावादी हैं । उनका दर्शन 'सर्वोदय' अन्त्योदय का दर्शन है जो मानवतावाद से भी आगे का दर्शन है । गाँधी जैसे राज्य के लिए धर्म आवश्यक मानते हैं वैसे ही धर्म के लिए नैतिकता को प्रमुख मानते हैं । विश्व के किसी धर्म में नैतिकता का बहिष्कार नहीं मिलता । आस्तिक होते हुए यदि नैतिकता का पालन ही धर्म कहा जाय तो गाँधी का दर्शन इसी की पुष्टि करता है । धर्मों के प्रति समभाव रखना स्वयं में एक नैतिक गुण है । गाँधी 'सर्व धर्म समभाव' के लिए ही आग्रह करते हैं, और यही भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद है । डा० राधाकृष्णन ने गाँधी के इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है । निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि धर्म निरपेक्षता का सही अर्थ है, सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता और समभाव । इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि देश में कोई धर्म न हो ।

समीक्षा—

गुण—भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद की अनेक विशेषताएँ हैं, जैसे—प्रथम, यह उदारवादी है । इसकी उदारता इस बात में है कि बिना भेद-भाव किये सभी नागरिकों को समानता तथा स्वतन्त्रता के अधिकार दिये गए हैं । अल्पसंख्यकों को अपने धर्म के पालन और प्रसार की स्वतन्त्रता है । दूसरे, भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद स्थिर, जड़ नहीं । यह निरन्तर गतिशील हैं । इसमें जागरूकता है । तीसरे, इसमें समाज कल्याण को सर्वोपरि रखा गया है । समाज कल्याण में बाधा पड़ने पर धार्मिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध भी लगाया जा सकता है ।

बाधाएँ—भारतीय धर्म निरपेक्षता में इन सभी विशेषताओं के होते हुए भी इसकी सफलता और पूर्ण स्थापना में कुछ बाधाएँ भी हैं जिनको समाप्त करना आवश्यक है । मूलभूत समानता के अभाव में धार्मिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता । समानता की शिक्षा और ग्रहणशीलता आवश्यक है । दूसरी बाधा अशिक्षा है । शिक्षा के द्वारा ही व्यापक दृष्टिकोण सम्भव है धर्म निरपेक्षता की

भावना एकाएक नहीं उत्पन्न होगी। इसके लिए सतत् प्रयास आवश्यक है। जन चेतना का विकास होना भी जरूरी है। भारत में धर्म की जड़ गहरी है, कुछ धर्मों में संकीर्णता, पक्षपात की भावना अज्ञानता के कारण बनी हुयी है, इसके लिए जन-चेतना जागृत करना इसकी सफलता के लिए अनिवार्य है। अपने ही धर्म विशेष के प्रति लगाव रखना संकीर्ण दृष्टिकोण का द्योतक है, अन्य धर्मों के प्रति उदार होना कर्त्तव्य की कोटि में आता है, इसके लिए तर्क तथा वैज्ञानिक दृष्टि आवश्यक है। इसी से सर्वधर्म समभाव उत्पन्न हो सकता है। राजनीति में धर्म तो हो परन्तु राजनीतिज्ञों को चाहिए कि धर्म को साम्प्रदायिक रूप न दें। यही कर्तव्य शिक्षकों, समाज सुधारकों तथा परिवार के बड़े सदस्यों का है कि वे विद्यार्थियों और समाज के लोगों के बीच धर्म निरपेक्षता का आचरण प्रस्तुत करें।

———

परिशिष्ट 1

(1) हिन्दू धर्म में मोक्ष और उसके मार्ग

ईसाई धर्म जिसे 'पाप से मुक्ति' या 'साल्वेसन' कहा जाता है, वही हिन्दू धर्म में मोक्ष के नाम से अभिहित किया जाता है। मोक्ष—जिसे आत्म साक्षात्कार कहा जाता है, हिन्दू धर्म में इसके लिए चार मार्गों का उल्लेख मिलता है—(1) ज्ञान मार्ग, (2) भक्ति मार्ग (3) कर्म मार्ग तथा (4) योग मार्ग। इसी को ज्ञान योग, भक्तियोग, कर्मयोग तथा राजयोग भी कहा जाता है। सामान्य रूप में योग का अर्थ ढंग या मार्ग से लिया जाता है। वैसे 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ युक्त होना, जोड़ना या मिलाना होता है। अर्थात योग का अर्थ है आत्मा का परमात्मा से मिलन, भक्त का भगवान से संयोग। मनुष्य की तीन प्रधान प्रकृति होती है, सात्विक, राजसिक और तामसिक। मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार किसी मार्ग का अनुसरण करके भगवान से युक्त हो सकता है, अपने भूले हुए स्वरूप को पुनः प्राप्त करके मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में ज्ञान, भावना तथा संकल्प का समावेश है। जिस व्यक्ति में ज्ञान की प्रधानता है वह ज्ञान मार्ग (योग) का, जो भक्ति भावना प्रधान है, वह भक्ति मार्ग (योग) का तथा जिसमें संकल्प की प्रधानता है वह कर्म मार्ग (योग) का अनुसरण करके आत्म साक्षात्कार कर सकता है। पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है। इससे भी आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो सकती है। अतः यह भी एक विशिष्ट मार्ग है। गीता हिन्दू धर्म का मूल आधार है। इसे सर्वशास्त्रमयी कहा गया है। इसमें सभी मार्गों का उल्लेख मिलता है। यहाँ तक कि इन सभी मार्गों का उसमें समन्वय भी मिलता है। इसमें बताया गया है कि ज्ञानी भक्त सभी कर्मों का सम्पादन करते हुए योग साधना से अपनी चित्त-वृत्तियों का शमन करके अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

ज्ञान माग

हिन्दूधर्म में यह मान्यता है कि अज्ञान के कारण ही आत्मा अपने को शरीर-रूप में समझ लेती है, यही बन्धन का क़ारण है। अज्ञानता के कारण

---

1. वही, 99-100

मनुष्य स्वार्थी तथा लोभी हो जाता है । उसका दृष्टिकोण दोषपूर्ण होता है । यही कारण है कि उसे सत्य का ज्ञान नहीं होता । अतः अज्ञानता के कारण हुए बन्धन से ज्ञान द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है । ज्ञान से ही अज्ञान को हटाना होगा । अज्ञान है, सत्य को असत्य समझना और असत्य को सत्य समझना । इस अज्ञान को दूर करना ज्ञान द्वारा ही संभव बनाया जा सकता है । यह ज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान है जिससे सद्-असद् का ज्ञान संभव है । यही ज्ञान मार्ग के रूप में भी माना जाता है । जब ज्ञान से अज्ञान को दूर करके सत्य की प्राप्ति करते हैं, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान लेते हैं तो वह मार्ग के रूप में भी माना जाता है । सारांश में 'ज्ञान' पूर्णता की प्राप्ति भी है और पूर्णता की प्राप्ति का मार्ग भी है । ज्ञान मार्ग को मुख्य रूप से गीता तथा शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त में महत्व दिया गया है । शंकर के अनुसार, वास्तविक ज्ञान ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध होने पर ही होता है । इस बोध से 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' का स्पष्ट प्रमाण मिलता है । शंकर के अनुसार बिना इस ज्ञान के मुक्ति संभव नहीं है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।' इस उक्ति से ज्ञान मार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है । गीता के अनुसार भी ज्ञान मार्ग श्रेष्ठ बतलाया गया है । ज्ञान से ही सभी अन्य मार्ग सफल बनाए जा सकते हैं । इसी में सब की परिसमाप्ति होती है । इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है :—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।'

ज्ञान मार्ग का अधिकारी कौन ?

शंकर के अनुसार ज्ञान मार्ग से ही मुक्ति संभव है, परन्तु ज्ञान मार्ग के सभी अधिकारी नहीं हो सकते । यह कठिन मार्ग बतलाया गया है । यह कठिन मार्ग उसी के लिए अनुकूल है 'जो बुद्धिमान हो, विद्वान हो और तर्क-वितर्क में कुशल हो ।' दूसरी आवश्यकता इस मार्ग के लिए यह बतलाई गई है कि जो मनुष्य सद्-असद् विवेकी हो, वैराग्यवान हो, शम-दमादि षट्सम्पत्ति युक्त हो, तथा जिसमें मोक्ष की उत्कट इच्छा हो,[1] ऐसा ही अधिकारी व्यक्ति ज्ञान मार्ग का अनुयायी हो सकता है । जिसके भीतर मोक्ष की उत्कट अभिलाषा जग जाती है उसे धार्मिक कर्म काण्ड करने की आवश्यकता नहीं । शंकर ऐसे जिज्ञासु और ज्ञान मार्ग पर चलने के अधिकारी के लिए चार साधनों का भी उल्लेख करते हैं, जिसे 'साधन-चतुष्टय' कहा गया है ।

साधन-चतुष्टय—विवेक चूड़ामणि में मोक्ष के लिए चार आवश्यक साधनों का उल्लेख मिलता है । इन साधनों से ही सत्य स्वरूप आत्मा में स्थिति हो सकती

---

1. विवेक चूड़ामणि-16-17.
शम-दमादि षट्सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ।

है, उनके बिना नहीं। वे साधन इस प्रकार हैं—(1) नित्यानित्य वस्तु विवेक, (2) लौकिक एवं पारलौकिक सुख भोग में वैराग्य होना, (3) शम, दम आदि छः सम्पत्तियों का होना, और (4) मुमुक्षता।[1]

(1) नित्यानित्य वस्तु विवेक का अर्थ है वेदान्त के इस वाक्य का निश्चय हो जाना कि 'ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है।' अर्थात् साधक में ऐसा विवेक हो जो सद्-असद् या नित्य और अनित्य वस्तुओं में विभेद कर सके।

(2) मोक्ष के लिए वैराग्य का होना आवश्यक है। सांसारिक भोगों में चिपके रहने से मोक्ष संभव नहीं होगा। विवेक चूडामणि के अनुसार तो दर्शन तथा श्रवण आदि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त अनित्य भोग पदार्थों में जो घृणा बुद्धि है, वही वैराग्य है।[2]

(3) साधक में शमदमादि साधन सम्पत् का होना आवश्यक है—अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये छः सम्पत्तियाँ हैं, इन साधनों को अपनाना चाहिए। शम का अर्थ है, विषयों से (भोग की वस्तुओं से) विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना। दम का तात्पर्य है, कर्मेन्द्रियों और ज्ञाने-न्द्रियों को उनके विषयों से हटा कर नियन्त्रण में रखना। उपरति का अर्थ है, बाह्य विषयों में वृत्ति का न होना, तितिक्षा का अर्थ है, चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किए सब प्रकार के कष्टों का सहन करना। अर्थात् तितिक्षा सर्दी-गर्मी आदि प्रतिकूल कष्टकारी तत्वों को सहन करने के अभ्यास को कहते हैं। श्रद्धा का अर्थ है, शास्त्र और गुरुवाक्यों में सत्यत्व की वृद्धि करना। समाधान का तात्पर्य है, अपनी बुद्धि को सब प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में ही सदा स्थिर रखना।

(4) मोक्ष प्राप्त करने की दृढ़ संकल्प शक्ति को मुमुक्षा कहते हैं। अर्थात जितने भी अज्ञान कल्पित बन्धन हैं उनको ज्ञान से त्याग देने की इच्छा को ही मुमुक्षा कहा जाता है।

इन साधनों में मुमुक्षत्व और वैराग्य को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि इनके होने पर ही शम, दम आदि सफल हो सकते हैं। परन्तु जहाँ ये दोनों तत्व मन्द हैं वहाँ शम, दम आदि का भी मरुस्थल में जल-प्रतीति के समान आभास मात्र ही समझना चाहिए। इतना ही नहीं, इन सब साधनों के होते हुए भी शंकर ने गुरु कृपा को अधिक महत्व दिया है। गुरु-कृपा से ही भव-बन्धन से निवृत्त हुआ

---

1. आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते।
   इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम्
   शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम। 19॥
2. 21

जा सकता है। गुरु कैसा होना चाहिए और उस गुरु के क्या लक्षण हैं, इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—जो निष्पाप हों, कामनाओं से शून्य हों, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हों, ब्रह्म निष्ठ हों, ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त हों, अकारण दया सिन्धु हों, शरण में आए हुए की रक्षा करें, सज्जनों के हितैषी हों।[1] ऐसे गुरु की शरण में जाकर मोक्ष के लिए प्रार्थना करें। फिर गुरु की कृपा से उनके उपदेश से साधक को अपरोक्षानुभूति होती है। परन्तु गुरु की कृपा के अतिरिक्त स्व प्रयास भी आवश्यक है। वेदान्त में इसके लिए कुछ विधियों की भी चर्चा की गयी है।

ज्ञान मार्ग की विधियाँ

(1) **श्रवण**—गुरु के उपदेशों को जो आत्मा, ईश्वर, जगत के विषय में दिया जाता है, मनोयोग पूर्वक सुनना या श्रुतियों से इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। आध्यात्मिकता का इस रूप में ज्ञान प्राप्त करना श्रवण कहलाता है।

(2) **मनन**—दूसरी विधि मनन की है। गुरु या श्रुति द्वारा प्राप्त ज्ञान के विषयों का स्वतः तार्किक विवेचन करना भी आवश्यक है। आध्यात्मिकता के विषय में सुने हुए महावाक्यों का निश्चयीकरण और प्रामाणिकता प्राप्त करने के लिए उनका बौद्धिक विवेचन ज्ञान प्राप्ति में सहायक होता है। अतः इस बौद्धिक चिन्तन और तार्किक विश्लेषण को मनन कहा जाता है।

(3) **निदिध्यासन**—मनन के द्वारा साधक को सत्य का केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त होता है, हो सकता है कि उसके विरोधी तर्क से साधक का ज्ञान गलत सिद्ध हो सकता है। अतः बौद्धिक ज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं कहा जा सकता। ज्ञान अपरोक्ष होना चाहिए। उसी में निश्चितता संभव है। अतः निश्चित और स्पष्ट ज्ञान के लिए एक तीसरी विधि की आवश्यकता है, जिसे निदिध्यासन कहा जाता है। इसमें साधक गुरु से प्राप्त ज्ञान को निरन्तर ध्यान तथा विचार के द्वारा दृढ़ करता है। आत्म चिन्तन और ध्यान से साधक को ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार इन तीनों विधियों द्वारा साधक का अज्ञान नष्ट हो जाता है और आत्म साक्षात्कार या ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। फिर उसे मोक्ष की अवस्था प्राप्त हो जाती है। वह अपने को सच्चिदानन्द स्वरूप जानकर आनन्दित हो जाता है।

शंकराचार्य ऐसे मोक्ष प्राप्त पुरुष के लक्षण कई रूपों में बतलाते हैं—ऐसा पुरुष निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति में स्थित रहता है। उसकी बुद्धि वाह्य विषयों में नहीं

1. विवेक चूड़ामणि, 34-36,

रहती । वह बालकवत् रहता है । इस संसार को स्वप्नवत् देखता है । सदा ब्रह्म में चित्तलीन करके आनन्द स्वरूप ब्रह्म में मग्न रहता है । वह स्थित प्रज्ञ होता है । अर्थात उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है । बीती हुयी बात को याद नहीं करता । भविष्य की चिन्ता नहीं करता । वर्तमान में प्राप्त हुए सुख-दु.ख में उसकी उदासीनता रहती है । वह सदैव समदर्शी होता है । उसके चित्त में कोई विकार नहीं होता । सज्जनों के सत्कार से तथा दुष्टजनों से पीड़ित किए जाने पर भी जिसके चित्त का भाव समान रहता है, वह मनुष्य जीवन्मुक्त है । मुक्त पुरुष के लक्षण इस प्रकार हैं—समुद्र में मिल जाने पर जैसे नदी का प्रवाह समुद्र रूप हो जाता है उसी प्रकार दूसरों द्वारा प्रस्तुत किए विषय आत्मस्वरूप प्रतीत होने से उसके चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं होता ।[1]

समीक्षात्मक निष्कर्ष—मोक्ष और उसके मार्ग के सम्बन्ध में समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने भी पर्याप्त रूप में विचार किया है । इनमें स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द तथा गांधी के भी विचार महत्वपूर्ण हैं । स्वामी विवेकानन्द आदि शंकराचार्य के ज्ञान योग सम्बन्धी विचारों से पूर्णतया सहमत हैं, परन्तु टैगोर, श्री अरविन्द तथा गांधी जी का शंकर के मायावाद से मतभेद है । शंकर का मायावाद ज्ञान योगी को सांसारिक वस्तुओं से विमुख करता है । ज्ञान मार्ग व्यक्ति को बहुत ही कठिन स्थिति में डाल देता है । रहता तो है वह संसार और समाज के प्रलोभनों के बीच में परन्तु उससे कहा जाता है कि उनसे दूर रहो, अनासक्त रहो, स्वतन्त्र रहो । यह कैसे संभव है ? यह एक कठिन मार्ग है ।

इसकी दूसरी कमी यह है कि वह समाज और समूह से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । धर्म का सम्बन्ध समाज से भी है, परन्तु ज्ञान योग आत्मसाक्षात्कार, अनासक्त, वैराग्य तथा शारीरिक और मानसिक नियन्त्रण के लिए समाज से दूर रहने की शिक्षा देता है । साधक समाज से अलग एकान्त में इन विषयों की उपलब्धि कैसे कर सकता है ? साधक के इस कठिन प्रयास में कोई सहायक नहीं है । ज्ञान मार्ग की अपेक्षा भक्ति और कर्म मार्ग में समाज या समूह का सहयोग रहता है । ज्ञान मार्ग की साधना अकेले में होती है, यह कैसे संभव है ?

यह एक वैयक्तिक मार्ग है । व्यक्तिगत मुक्ति की अपेक्षा सामाजिक या सामूहिक मुक्ति की चेतना अधिक आवश्यक है । ज्ञान योग से यह संभव नहीं है । श्री अरविन्द ने इसीलिए समग्र मुक्ति की कल्पना की है, जो शंकर के वैयक्तिक मुक्ति से कहीं अधिक उचित और उपादेय सिद्ध होती है ।

---

1. यत्र प्रविष्टा विषयाः परेरिता
   नदी प्रवाहा इव वारि राशौ ।
   लिनन्ति सन्मात्रतया न विक्रिया-
   मुत्पादयन्त्येष यतिर्विमुक्तः ॥442॥ तथा 4426-40

भक्ति मार्ग

हिन्दू धर्म में मोक्ष का दूसरा मार्ग भक्ति-मार्ग है। ज्ञान मार्ग में जहाँ प्रबुद्ध और विचारशील व्यक्ति ही प्रवेश पा सकते हैं, वहाँ भक्ति मार्ग उन सभी व्यक्तियों के लिए ठीक कहा जा सकता है जो भावुक और संवेदनशील हैं। भावना प्रधान व्यक्ति के लिए भक्ति मार्ग ही उचित है। ईश्वर से अटूट प्रेम का ही नाम भक्ति है। ईश्वर प्रेम के द्वारा भी भक्त-भगवान का मिलन हो जाता है। तादात्मीकरण की यह स्थिति मोक्ष की अवस्था है।

भक्ति का अर्थ और स्वरूप—'भक्ति' शब्द 'भज्' धातु से बना है। 'भज्' का अर्थ सेवा करना है। इस प्रकार भक्ति या सेवा के द्वारा भगवान से तादात्म्य स्थापित करने का नाम भक्ति मार्ग है। नारद, शाण्डिल्य, रामानुजाचार्य आदि मुनियों और दार्शनिकों ने भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया है और गीता तथा श्रीमद्भागवत् पुराण में भक्ति की महिमा और सार्थकता का मार्मिक और प्रेरणादायक वर्णन मिलता है। संतों और साधकों ने भी भक्ति मार्ग का व्यावहारिक रूप प्रदर्शित किया है। भक्ति से सम्बन्धित उनके उद्‌गार भजन और कीर्तन में प्रवाहित हुए हैं। सूर, तुलसी, मीरा, महाप्रभु चैतन्य, रैदास, तुकाराम, दक्षिण भारत के आलवार सन्तों भक्तों तथा आधुनिक युग के महानतम भक्त श्री रामकृष्ण की भक्ति-धारा से भक्ति-साहित्य समृद्ध हुआ है। इन भक्तों की जीवनी और वचनामृत से ही इस बात की पुष्टि होती है कि भक्त और भगवान एक हैं। भक्ति जीवन मुक्ति का साधन और मार्ग है। नारद ने भक्ति को ईश्वर के लिए अतिशय प्रेम कहा है। शाण्डिल्य ने भक्ति को ईश्वर के प्रति सर्वोच्च अभिलाषा कहा है। भक्ति में ईश्वर के प्रति अटूट प्रेम के कारण भक्त भगवान में ही निरन्तर वास करता है। उन्हीं के रंग में रंग जाता है। भक्त को सर्वत्र भगवान ही दृष्टिगोचर होता है। ईश्वर के प्रति भक्त अपने को समर्पित कर देता है। भगवान भक्त के प्रेम, समर्पण और श्रद्धा को देखकर उसे शरण में ले लेते हैं। गीता में भी भगवान भक्त को ही अपना प्रिय पात्र मानते हैं। गीता में वर्णित भक्ति सर्वोच्च ज्ञान से युक्त है। गीता कहती है—'जो ध्यान योग में युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानि में सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किए हुए मेरे में दृढ़ निश्चय वाला है, वह मेरे में अर्पण किए हुए मन बुद्धि वाला मेरा भक्त मेरे को प्रिय है'। पुनः कहा गया है कि 'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, वह भक्ति-युक्त पुरुष मेरे को प्रिय है'।[1] गीता में भक्त के लक्षणों की विशद चर्चा है। उन लक्षणों से भी यह ज्ञात होता है

---

1. 12/14, 17,

कि भक्ति में ईश्वर प्रेम, वासना का त्याग, समर्पण की भावना शरणागति, एकनिष्ठता तथा अनन्यता आदि विशेषताएँ हैं।

भक्ति के प्रकार--भक्ति के कई भेद हैं। इन भेदों को मुख्यतया हेतुकी और अहेतुकी भक्ति में रखा जा सकता है। जिस व्यक्ति की जैसी मानसिक स्थिति होती है, उसी के अनुसार वह भक्ति पथ पर चल कर मोक्ष की ओर अग्रसर होता है—

(1) हेतु की भक्ति को सकाम भक्ति भी कहा जा सकता है। अर्थात भक्त किसी कामना अथवा हेतु से ईश्वर से प्रेम करता है। इसमें भक्त संसार के विषयों की प्राप्ति के लिए ईश्वर की शरण ग्रहण करता है। परन्तु इस प्रकार की भक्ति मुक्ति में तो सहायक नहीं होती, हाँ, इससे अनन्य भक्ति या अहेतु की भक्ति अथवा ईश्वर के लिए ईश्वर से प्रेम या भक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। यह प्रथम सीढ़ी है, जिस पर चल कर भक्त अहेतु की भक्ति की ओर बढ़ता है। वही भक्ति साध्य और साधन दोनों हो जाती है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह प्रधान लक्ष्य नहीं है, इसीलिए हेतुकी भक्ति को गौणी भक्ति कहा गया है। गीता में हेतुकी भक्ति के उदाहरण अर्थार्थी, आर्त तथा जिज्ञासु भक्त के रूप में मिलते हैं। सांसारिक पदार्थों के लिए ईश्वर को भजने वाला अर्थार्थी कहलाता है। संकट-निवारण के लिए भजने वाला आर्त कहलाता है और ईश्वर को यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भजने वाला जिज्ञासु कहा जाता है। ये तीनों प्रकार के भक्त हेतुकी भक्ति के ही उदाहरण हैं।

(2) **अहेतुकी भक्ति**—गीता में चौथे प्रकार की भक्ति की चर्चा आती है जिसे ज्ञानी भक्त की संज्ञा दी गयी है।[1] यह ज्ञानी भक्त निष्काम होता है इसका कोई प्रयोजन नहीं होता। उसकी भक्ति अहेतुकी होती है। इसी भक्ति को मुख्या या पराभक्ति भी कहते हैं। यह सर्वोच्च भक्ति है, अनन्या है, निष्काम है। यह भक्ति की पराकाष्ठा है। इसमें भक्ति के लिए भक्ति की जाती है। ईश्वर के लिए ईश्वर की भक्ति की जाती है। भक्त सब कुछ त्याग कर केवल भगवान की शरण लेता है। इसीलिए इसे अनन्या भक्ति कहते हैं। यह शरणगति से ही संभव है। भक्त ईश्वर के शरण में जाकर सब कुछ उसी के ऊपर छोड़ देता है, बिल्ली के बच्चे की तरह। बिल्ली का बच्चा एक स्थान पर पड़ा म्याऊँ-म्याऊँ करता रहता है। माँ जब चाहती है उठा कर दूसरी जगह ले जाकर रख देती है। पूर्ण निर्भरता। अपनी इच्छा कुछ नहीं। रामानुजाचार्य इस शरणगति की अवस्था को प्रपत्ति कहते हैं। यही परा-भक्ति, निष्काम भक्ति है। गीता में इसी को अनन्य प्रेम वाला ज्ञानी भक्त कहा गया है।[2]

---

1. 7/16
2. 7/17

प्रपत्ति—प्रपत्ति, भक्ति की पराकाष्ठा कही जा सकती है। भक्ति प्रारम्भिक अवस्था है प्रपत्ति साध्य है। भक्ति में मुक्ति की कामना होती है। प्रपत्ति में भक्त ईश्वर के समक्ष पूर्ण समर्पण करता है। प्रपत्ति में भक्त, फल, भार तथा अपने स्वरूप का समर्पण कर देता है। भगवान से एकाकार की स्थिति प्रपत्ति है। भक्ति साधन है, प्रपत्ति साध्य है। इसीलिए एक साधन भक्ति है दूसरा परमाभक्ति है। वास्तव में प्रपत्ति में ज्ञान-भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय रहता है। प्रपत्ति के छः अंग हैं। रामानुजाचार्य ने प्रपत्ति के लिए छः बातों को आवश्यक माना है (1) आनुकूलस्य संकल्प—अर्थात ईश्वर के अनुकूल संकल्प, विचार और कर्म करना। (2) प्रतिकूलस्य वर्तनम्—अर्थात ईश्वर के प्रतिकूल विचार, कर्म न करना। (3) रक्षिष्यतीति विश्वासः—अर्थात् ऐसा विश्वास हो कि ईश्वर अवश्य रक्षा करेंगे। (4) वरणं—अर्थात् भक्त ईश्वर को ही एक मात्र पूज्य और आराध्य रूप में स्वीकार करे। (5) कार्पण्य—ईश्वर के चरणों में ही शरण ले। (6) आत्म निरपेक्ष—अर्थात् दीन भाव से ईश्वर में दृढ़ विश्वास के साथ शरणागति हो। इन छः रूपों में भक्त जब ईश्वर की शरण ग्रहण करता है तो ईश्वर भक्त के आत्म-समर्पण तथा अनन्य प्रेम को देखकर प्रसन्न होते हैं तथा उसे मोक्ष प्रदान करते हैं।

भक्ति मार्ग का अधिकारी कौन ? :

(1) श्रद्धा, सरलता, निष्कपटता, तथा शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही भक्ति मार्ग का अधिकारी हो सकता है। ईश्वर से अनुराग और प्रेम के लिए श्रद्धा आवश्यक है अतः ईश्वर-प्रेम के लिए श्रद्धा और निष्ठा तथा अनन्यता के बिना भक्ति मार्ग पर नहीं चला जा सकता। भक्ति के लिए विश्वास और आस्था आवश्यक है, परन्तु विश्वास बिना सरलता के संभव नहीं। भक्त को बालक की तरह सरल स्वभाव का होना चाहिए। संशय और कपट से युक्त मनुष्य भक्ति मार्ग का अधिकारी नहीं हो सकता।

(2) भक्ति मार्ग का अधिकारी वह है जो क्रोध, काम, मोह, लोभ आदि विकारों पर नियन्त्रण रखता है। जो अन्दर बाहर से पवित्र हो। अकिंचन हो। धन-वैभव से परिपूर्ण व्यक्ति संग्रही होगा। उससे निस्पृह व्यक्ति ही एकनिष्ठ होकर ईश्वर से प्रेम कर सकता है। सन्तोषी व्यक्ति, धैर्यवान, निरभिमानी तथा मान-अपमान से परे रहने वाला व्यक्ति ही भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सकता है।[1]

(3) भक्ति मार्ग के लिए नैतिक सद्गुणों से युक्त पुरुष ही योग्य माना जाता है। जो नीति का त्याग नहीं करता, स्वभाव का सरल और सबसे प्रीति रखने वाला होता है। संयम-नियम से जीवन व्यतीत करता है। श्रद्धा, क्षमा, दया, मैत्री, विनय, त्याग तथा परोपकार में निरत व्यक्ति ही भक्ति-मार्ग पर चल सकता है।

---

1. रामचरित मानस अरण्यकांड—दोहा 44-45 के बीच चौपाइयाँ।

(4) नैतिक गुणों से युक्त गृहस्थ भी भक्ति-मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं आवश्यकता केवल ईश्वर अनुराग की है। त्यागमय जीवन व्यतीत करने वाला गृहस्थ भक्त इस मार्ग के अनुयायी रहे हैं इतिहास इसका साक्षी है। मध्यकालीन और आधुनिक सन्तों की परम्परा में कुछ एक को छोड़कर सभी गृहस्थ ही रह चुके हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि यदि हाथ में तेल लगा कर कटहल काटा जाय तो उसका दूध नहीं चिपकता उसी प्रकार यदि त्याग वृत्ति से या मोहासक्त होकर गृहस्थ में न रहा जाय तो ईश्वर-लाभ गृहस्थ जीवन में ही संभव है। उन्हीं का दूसरा उदाहरण है 'घर की दासी' का। जिस प्रकार घर की दासी मालिक के बच्चों को अपना बच्चा समझती है, प्यार करती है, परन्तु यह मन-ही-मन जानती है कि मेरा मुन्ना तो मेरे घर है। उसी प्रकार गृहस्थ घर का सभी कार्य करे परन्तु अनासक्त भाव से मन उसका ईश्वर के समीप ही रहे। तभी गृहस्थ जीवन में रहकर भी भक्ति-मार्ग पर चला जा सकता है।

(5) किसी भी जाति, आयु या लिंग का भक्ति-मार्ग के लिए बन्धन नहीं है। भक्ति मार्ग में चण्डाल या निकृष्ट कुल में उत्पन्न व्यक्ति और उच्च कुल में उत्पन्न, दोनों का स्थान एक है। ईश्वर प्रेम से ओत-प्रोत नीच कुलोद्भव व्यक्ति ईश्वर का दास होने के कारण उस ब्राह्मण से उच्च है जो बिना ईश्वर-प्रेम के जीता है। इसी तरह किसी भी आयु का व्यक्ति जिसमें भक्ति-भाव विद्यमान है, भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सकता है। कहते हैं जिस प्रकार प्रस्फुटित पुष्प देवताओं के लिए अधिक उपयुक्त होता है, उसी प्रकार प्राथमिक अवस्था में ही ईश्वर-भक्ति अधिक उपयुक्त मानी जाती है। भक्ति मार्ग में स्त्री-पुरुष का भी भेद नहीं है। कोई भी ईश्वर-भक्ति से पूर्ण इस मार्ग पर चल सकता है।

(6) गीता और रामचरित मानस[1] में नकारात्मक ढंग से भक्ति मार्ग पर चलने वाले अधिकारी व्यक्ति के लिए कहा गया है कि जो व्यक्ति शठ है, हठी है, जिसे ईश्वर की लीला में रुचि नहीं है, जो लोभी, क्रोधी, कामी, है वह इस मार्ग का अधिकारी नहीं है। भक्ति मार्ग के लिए संतसंगति की आवश्यकता है। कुमार्ग पर चलने वाला व्यक्ति इसका अधिकारी नहीं है। सबसे महत्वपूर्ण बात है गुरु के चरणों में प्रीति रखने वाला गोविन्द की प्रीति पा सकता है।

भक्ति के विभिन्न रूप

भक्ति-मार्ग के विभिन्न रूप हैं। इनमें से किसी भी रूप में भक्ति की जा सकती है और मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

---

1. गीता—18|67 रामचरित मानस—उत्तर काण्ड दोहा 127 के बाद की चौपाइयाँ।

वैष्णव सन्तों और भक्तों द्वारा तथा 'रामचरित मानस' में 'नवधाभक्ति' को महत्व दिया गया है। अर्थात् नौ रूपों 'में' भक्ति की अभिव्यक्ति होती है।[1] ये नौ साधन है, पूजा करना, बन्दना करना, ईश्वर की दासता, सेवा करना, ईश्वर का स्मरण करना, ईश्वर के गुणों का कीर्तन एवं श्रवण करना, सखा भाव रखना और अन्त में आत्म निवेदन करना। इसी को रामचरित मानस में भी कहा गया है कि प्रथम भक्ति संतों का सत्संग, दूसरी ईश्वरीय कथा में प्रेम, तीसरी गुरु के चरणों की सेवा, चौथी कपट त्याग कर ईश्वर-गुणगान करना, पाँचवीं गुरु के दिये मन्त्र का ईश्वर में दृढ़ विश्वास के साथ जाप करना, छठीं, बहु प्रपंची न होकर शील, संयम का पालन करते हुए निरन्तर सज्जनों के धर्म-कर्म में लीन रहना, सातवीं जगत को ईश्वरमय देखना और ईश्वर से भी अधिक सन्त को महत्व देना, आठवीं जो भी लाभ हो उसी में सन्तोष तथा स्वप्न में भी दूसरे में दोष न देखना, नवीं सरलता तथा दूसरों के साथ छल-हीन व्यवहार करना और अन्त में भक्ति का यह रूप हो कि भक्त ईश्वर पर पूर्ण भरोसा रखे तथा हृदय से प्रसन्न रहे। ईश्वर पर भरोसा रखने वाला दीन और कातर न हो। 'मानस' में यह भी कहा गया है कि इनमें से यदि एक भी किसी में है तो वह ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है।[2]

पूजा की दृष्टि से प्रतिमा की पूजा को भी भक्ति का ही एक रूप माना गया है। इससे भी ईश्वर भक्ति दृढ़ होती है और व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है। प्रतिभा के रूप में ईश्वर की ही पूजा की जाती है। मूर्तिपूजा के निन्दकों को स्वामी विवेकानन्द ने जो चेतावनी दी है उससे भक्ति के प्रतिभा पूजन के रूप की महत्ता प्रकट होती है—'यदि मनुष्य जड़ मन्दिर बना कर भगवान में प्रीति कर सके तो अच्छा ही है। यदि भगवान की मूर्ति बनाकर इस प्रेम के आदर्श पर पहुँचने में मनुष्य को कुछ भी सहायता मिलती है तो उसें एक ही जगह बीस मूर्तियाँ पूजने दो। चाहे कोई भी काम क्यों न हो, यदि उसके द्वारा धर्म के उस उच्चतम आदर्श पर पहुँचने में सहायता मिलती है तो उसे वह अबाध गति से करने दो, पर हाँ वह नैतिकता के विरुद्ध न हो।"[3]

भक्ति का एक वह भी रूप है जिसमें भक्त ईश्वर को अपने भाव या दृष्टिकोण के आधार पर माता, पिता, सखा, प्रीतम, पुत्र दास आदि के रूप में चाहता है और उससे प्रेम स्थापित करता है, एकरूपता या तादात्म्य स्थापित करता है।

---

1. अर्चनम् वन्दनम् दास्यम् दास्यम् सेवनम् स्मरणम् तथा।
   कीर्तनम् श्रवणम सख्यम् तथैवात्मनिवेदनम् ॥
2. अरण्यकाड—दोहा31-36 के बीच की चौपाइयाँ।
3. विवेकानन्द साहित्य—खंड 5-पृ० 281.

यही एकरूपता ही मोक्ष है। इन भावों के आधार पर अनेक भक्तों ने ईश्वर सान्निध्य प्राप्त किया है, इसकी चर्चा भक्ति साहित्य और इतिहास में मिलती है। सूर, तुलसी, मीरा, तथा गोपियों का उदाहरण इसका प्रमाण है। इन सम्बन्धों के आधार पर भक्ति के कई रूप देखे जाते हैं जैसे, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मातृ, माधुर्य भक्ति। अन्त में संतभाव से की गयी भक्ति होती है, जिसमें ईश्वर को सब कुछ माना जाता है। ईश्वर सर्व व्यापी, कर्ता, अनन्त तथा प्रेम स्वरूप है। स्वामी विवेकानन्द ने भक्ति की तुलना एक त्रिकोण के साथ की है। इसमें पहला कोण है—भक्ति कोई प्रतिदान नहीं चाहती, दूसरा प्रेम या भक्ति में भय नहीं है, तीसरा प्रेम ही प्रेम का लक्ष्य है।

'अन्त में संत या भक्त इसी भाव पर आ पहुँचता है कि स्वयं प्रेम ही भगवान है। और बाकी सब कुछ असत् है।' संत भाव में भक्त ईश्वर को ही सर्वत्र देखता है। मोक्ष का यही वह रूप है जब भक्त भक्ति या प्रेम में देखता है कि 'वही वह शक्ति है जो सूर्य चन्द्र और तारो को घुमाती एवं चलाती है तथा स्त्री पुरुषों व सभी जीवों में, सभी वस्तुओं में प्रकाशित हो रही है। जड़ शक्ति के राज्य में, मध्याकर्षण शक्ति के रूप में वही विद्यमान है। प्रत्येक स्थान में प्रत्येक परमाणु में वही वर्तमान है—सर्वत्र उसकी ज्योति छिटकी हुयी है। वही अनन्त प्रेम स्वरूप है, संसार की एक मात्र संचालिनी शक्ति है, और वही सर्वत्र प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है।[1]

कर्म-मार्ग

प्रस्तावना—भारतीय धर्म साधना में मोक्ष की प्राप्ति के लिए दो मार्गों को निर्धारित किया गया है, प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग वह मार्ग है जिससे कर्म करने में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् इसमें कर्म की प्रेरणा होती है। मनुष्य कर्म में लीन होता है। प्रवृत्ति मार्ग सकाम है। इसके अनुसार लौकिक तथा पारलौकिक जगत में सुख की प्राप्ति के लिए कर्म करना आवश्यक है। सकाम कर्म में सुखद वस्तु के प्रति राग अथवा लगाव उत्पन्न होता है और दुःखद वस्तुओं के प्रति विराग होता है। ऐहिक जीवन के लिए अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, यश, आदि के लिए किए गये कर्म सकाम हैं। प्रवृत्ति मार्ग सकाम कर्म का ही मार्ग है। इस मार्ग से किये गये कर्म चूँकि कामना से पूरित होते हैं, फल की आशा से कर्मों का सम्पादन करते है, और उसके अच्छे-बुरे फलों को प्राप्त करते हैं, फिर कामना होती है और कर्म में प्रवृत्त होकर उसके फल का भोग करते हैं। इस प्रकार अनवरत कर्म की शृङ्खला चलती रहती है। इसका फल यह होता है कि कर्म के बन्धन के कारण व्यक्ति आवागमन के चक्कर से छूट नहीं पाता। इस प्रकार प्रवृत्ति मार्ग का यह सबसे बढ़ा दोष है कि आसक्ति और मोह के कारण कर्म करने से बन्धन ही होता है।

---

1. पृ० 284.

इसके विपरीत निवृत्ति मार्ग है। निवृत्ति मार्ग वह मार्ग है, जिसके अनुसार कर्मों का त्याग आवश्यक बताया गया है। यह संन्यास मार्ग है। आसक्ति, मोह और राग से कर्मों से छुटकारा नहीं मिल सकता और कर्मों से बिना छुटकारा मिले मोक्ष संभव नहीं है। संसार का त्याग अर्थात् संन्यास आवश्यक है। इसी से मुक्ति संभव है। इस मार्ग में इन्द्रियों को लौकिक विषयों से विरक्त करके बुद्धि को स्थिर किया जाता है और एकाग्रचित्त से ब्रह्म का चिन्तन किया जाता है। इसे ज्ञान मार्ग भी कहा जाता है। इसके लिए नश्वर जगत का त्याग, कर्मों का त्याग आवश्यक है, तभी मोक्ष संभव है। परन्तु इस मार्ग की कठिनाई यह है कि कर्मों का त्याग करना सम्भव नहीं है। कर्म तो मनुष्य को करना ही होगा, फिर मोक्ष कैसे संभव है?

निष्काम कर्म मार्ग ही मोक्ष का मार्ग है—प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों की कठिनाइयों को देखते हुए गीता में विशिष्ट मार्ग का प्रतिपादन किया गया है, जिसे निष्काम कर्म मार्ग कहते हैं। इसी से मोक्ष प्राप्ति संभव है। इसके अनुसार मनुष्य को कर्म करना ही है। बिना कर्म के न तो अपना अस्तित्व रहेगा न तो समाज का ही। अतः कर्म अवश्य करना चाहिए परन्तु फल की आशा से नहीं। कर्म निष्काम भाव से आसक्ति रहित होकर करना चाहिए। अनासक्त भाव से कर्म करना मोक्ष दायक है। इसके विपरीत आसक्ति से किया गया कर्म बन्धन कारक है। गीता के अनुसार, कर्म से संन्यास संभव नहीं है तो कर्म के फलों से संन्यास लेना चाहिए। मनुष्य का अधिकार कर्म करने में तो है परन्तु उसके फल पर उसका वश नहीं है। गाँधी जी निष्काम कर्म मार्ग के विषय में कहते हैं 'एक ओर से कर्म मात्र बन्धन रूप है, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म हैं। तब कर्म करते हुए मनुष्य बन्धन मुक्त कैसे रहे? जहाँ तक मुझे मालूम है, इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया है वैसा दूसरे किसी भी ग्रन्थ ने नहीं किया है। गीता का कहना है, ''फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो,'' 'आशा रहित होकर कर्म करो', 'निष्काम होकर कर्म करो।' यह गीता की वह ध्वनि है जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है, वह बढ़ता है। फल त्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान आवश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किए बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है।''[1]

निष्काम कर्म योग, प्रवृत्ति मार्ग के अनुसार फल की प्राप्ति भी कराता है और निवृत्ति मार्ग के अनुसार वास्तविक ज्ञान भी देता है कि कर्म-त्याग नहीं फल-

1. गीता माता—पृ० 109।

त्याग आवश्यक है। फलाशा ही जीवन का बन्धन है, मोक्ष में बाधक है। इस विषय में गाँधी जी कहते हैं 'फल-त्याग का कोई यह अर्थ न करे कि त्यागी को फल मिलता ही नहीं। फलत्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव। वास्तव में देखा जाय तो फलत्यागी को तो हजार गुना फल मिलता है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है वह बहुत बार कर्म-कर्तव्य भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोध के वश में हो जाता है और फिर वह न करने योग्य करने लग पड़ता है, एक कर्म में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में पड़ता जाता है। परिणाम की चिन्ता करने वाले की स्थिति विषयांध की-सी हो जाती है और अन्त में वह विषयी की भाँति सार-असार का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करने के लिए हर किसी साधन से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।''[1]

क्या बिना फल की इच्छा के कर्म सम्भव है—इस सम्बन्ध में गीता का यह कहना है कि कर्म का फल तो मिलेगा ही परन्तु कर्ता के कर्म का प्रेरक फल न होकर 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' का नियम होना चाहिए। निष्काम कर्म यह नहीं कहता कि कर्म बिना फल के होगा। इसके अनुसार तो बिना फल का ध्यान किए ही कर्म करना चाहिए। फल चाहे शुभ हो या अशुभ, कर्ता का इससे सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। कुछ लोगों को शंका होती है कि निष्काम कर्म बिना किसी प्रेरक के कैसे सम्भव है? परन्तु निष्काम कर्म का यह अर्थ नहीं है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि बिना प्रेरक के कोई कर्म सम्भव नहीं है। निष्काम कर्म का प्रेरक ईश्वरार्पण बुद्धि को कहा गया है—

> ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
> अहन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥12॥6
> तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु संसार सागरात्।
> भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम ॥12॥7

अर्थात् हे पार्थ! जो मुझ में परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके, अनन्यभाव से (एकनिष्ठ होकर) मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझ में जिनका चित्त पिरोया हुआ है, उन्हें मृत्यु रूपी संसार-सागर से मैं झटपट पार कर लेता हूँ।'

यही समर्पण-बुद्धि निष्काम कर्म का प्रेरक है। इस प्रेरणा से किया गया कर्म मनुष्य को बन्धन कारक नहीं सिद्ध होता। फिर तो कर्म करना ही मनुष्य के हाथ में रहता है। फल की प्राप्ति तो ईश्वर पर निर्भर है। समर्पणयुक्त कर्म ही मनुष्य को अपने लक्ष्य की सिद्धि दिलाता है। ईश्वर ही 'समुद्धर्ता' है, फिर फल की आशा

---

1. वही—पृ० 109।

में घूमते रहने की क्या आवश्यकता, इस ज्ञान और समर्पण (भक्ति) से निष्काम कर्म सम्भव है।

निष्काम कर्म मार्ग की श्रेष्ठता—स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने ही ज्ञान और भक्ति की महत्ता स्वीकार करते हुए भी निष्काम कर्म योग को श्रेष्ठ माना है। 'अभ्यास मार्ग से ज्ञान मार्ग श्रेयस्कर है। ज्ञान मार्ग से ध्यान मार्ग श्रेष्ठ है और ध्यान मार्ग से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि इस त्याग के अन्त में तुरन्त ही शान्ति होती है।'[1] इस पर टिप्पणी करते हुए गाँधी जी कहते हैं—'अभ्यास अर्थात् चित्त-वृत्ति निरोध की साधना, ज्ञान अर्थात् श्रवण मननादि, ध्यान अर्थात उपासना। इनके फलस्वरूप यदि कर्मफल त्याग न दिखाई दे तो वह अभ्यास, अभ्यास नहीं है, ज्ञान, ज्ञान नहीं है और ध्यान, ध्यान नहीं है।' इस प्रकार निष्काम कर्म मार्ग ही वह मार्ग है जो ज्ञान-भक्ति में समन्वय स्थापित करता है। यह सम्भव इसलिए भी है कि निष्काम भाव से किया गया कर्म ईश्वर अर्पित भाव से होता है। यही गीता का 'समर्पण योग' है। इसी समर्पण योग से 'स्थित प्रज्ञ' या 'गुणातीत' की स्थिति प्राप्त हो सकती है। यही मुक्तावस्था है। कर्ममार्ग के इसी निष्काम कर्म योग को मोक्ष का मार्ग बताया गया है।

योग मार्ग

मोक्ष-प्राप्ति के विभिन्न मार्गों में योग मार्ग का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका महत्व इससे भी प्रकट होता है कि मोक्ष के विभिन्न साधनों में योग शब्द जुड़ा रहता है। साधक की जैसी वृत्ति होती है उसी के अनुसार वह उस साधन का उपयोग करता है। जैसे भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि साधनों में जो साधक भक्ति प्रधान है वह भक्तियोग का अनुसरण करता है, जो ज्ञान प्रधान है वह ज्ञान योग का तथा जो कर्म प्रधान है वह कर्म योग का अनुसरण करता है। इससे यह भी परिलक्षित होता है कि सभी मार्गों में योग का तत्व निहित रहता है। योग का सामान्य अर्थ होता है 'जोड़ना' मोक्ष के मार्ग या साधन के रूप में योग का अर्थ होता है वह साधन जिससे परमात्मा से युक्त होता या जुड़ता है। इस प्रकार योग का दो अर्थों में उपयोग होता है एक 'साधन' के रूप में और दूसरा ईश्वर और जीव के मिलने की 'अवस्था' के रूप में। ईश्वर और जीव या आत्मा तथा परमात्मा के एक हो जाने या संयुक्त हो जाने की अवस्था 'योग' है। साधन, के रूप में कुछ क्रियाएँ जैसे संयम, नियम, आसन आदि का पालन आवश्यक होता है। ये सभी क्रियाएँ योग के अन्तर्गत आती हैं और उनका प्रयोग सभी मार्गों में कुछ-न-कुछ किया जाता है इसलिए व्यापक रूप में सभी मार्गों में योग शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस अर्थ में 'योग' एक विधि या प्रणाली भी है।

---

1. 12/12

योग को सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक विशिष्ट अर्थ में भी लिया जाता है। विशिष्ट अर्थ में 'योग' एक विशिष्ट मार्ग या साधन है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति संभव है। इस विशिष्ट साधन के प्रतिपादक पतंजलि हैं। पतंजलि के अनुसार, योग एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा मन को नियन्त्रण में रखकर मोक्ष की प्राप्ति की जाती है। इसमें शारीरिक और मानसिक अनुशासन के द्वारा एकाग्रता और समाधि की स्थिति को प्राप्त किया जाता है। इस पद्धति को राजयोग भी कहा जाता है। यह सभी योग-पद्धतियों में श्रेष्ठ कहा जाता है, क्योंकि यह वह साक्षात् विधि है। जिसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र ईश्वरानुभूति की जा सकती है। यह व्यावहारिक और वैज्ञानिक पद्धति है।

पतंजलि के अनुसार 'चित्त की वृत्तियों का निरोध (सर्वथा रुक जाना) योग है' 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है, अर्थात् वह मोक्षावस्था को प्राप्त हो जाता है। हिन्दू धर्म के अनुसार, अज्ञान ही बन्धन का कारण है। योग के अनुसार, जब आत्मा अपने को अनात्म वस्तुओं से अलग समझ लेती है तभी मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। इसके लिए चित्त की एकाग्रता, स्थिरता आवश्यक है। योग के अनुसार चित्त में वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं इससे चित्त सदैव चंचल रहता है। इन वृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष आदि) का निरोध होना मोक्ष के लिए आवश्यक कहा गया है। इस निरोध से आत्मा वृत्ति की ओर आकृष्ट नहीं होगी तो बन्धन भी रुक जाएगा। योग दर्शन में मन या चित्त वृत्तियों के विभिन्न रूपों को न ग्रहण कर सके, इस पर बल दिया गया है। दूसरे शब्दों में योग का उद्देश्य चित्त (मन) की क्रियाओं को रोकना है। जब इसका कार्य करना रुक जायेगा तो आत्मा निर्लिप्त होकर स्वतन्त्र या मुक्त हो जाएगी। जब मन (चित्त) शान्त और क्रिया से शून्य हो जाएगा तो आत्मा पूर्णतया जगत से अनासक्त हो जाएगी। यही निर्लिप्तावस्था मोक्ष है। मन ही बन्धन का कारण है। इसी से अहं, बन्धन और आसक्ति की उत्पत्ति होती है। जब मन या चित्त की क्रिया रुक जाएगी तो व्यक्ति संसार से कुछ ग्रहण नहीं करेगा। अर्थात् संसार से अथवा अनात्म से अपने को स्वतन्त्र पाएगा। इसी अवस्था में मन (चित्त) की क्रिया (वृत्ति) जैसे आसक्ति, बन्धन, मोह, लोभ-क्रोध आदि समाप्त हो जाएँगी। यही मोक्षावस्था है। इसीलिए पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' कहा है। इस आध्यात्मिक साधन के लिए राजयोग ने आठ अंगों को निर्धारित किया है। यही आठ मार्ग योग की अवस्था को प्राप्त करने के साधन हैं। इसे अष्टांग मार्ग भी कहा जाता है। राजयोग के अष्टांग मार्ग इस प्रकारहैं —

(1) यम, (2) नियम, (3) आसन, (4) प्राणायाम, (5) प्रत्याहार, (6) धारणा, (7) ध्यान, (8) समाधि ।[1]

(1) **यम**—बाह्य और आन्तरिक संयम और नियमन को 'यम' कहा गया है। योग के लिए अनुशासन आवश्यक है। यह अनुशासन बाहर और भीतर अर्थात् शरीर तथा मन दोनों का है। बाह्य और आन्तरिक पवित्रता बिना योग की प्राप्ति के नहीं हो सकती। पतंजलि ने यम की परिभाषा इस प्रकार की है—'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः' । 30 अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव) ये पाँच यम हैं।

(1) **अहिंसा**—मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को कभी किसी प्रकार भी दुःख न पहुँचाना अहिंसा है। दूसरे के दोष को देखने का त्याग भी अहिंसा के अन्तर्गत ही आता है।

(2) **सत्य**—प्रत्यक्ष रूप में जो देखा या सुना है अथवा अनुमान करके जो अनुभव किया है ठीक वैसे ही प्रिय और हितकर वचन बोलना सत्य है। अर्थात साधक को मन और वाणी से सत्य का पालन करना चाहिए। छल और कपट रहित व्यवहार भी सत्य व्यवहार कहा जाता है।

(3) **अस्तेय**—किसी भी प्रकार की चोरी के अभाव का नाम अस्तेय है। छल से अपहरण करके किसी की वस्तु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(4) **ब्रह्मचर्य**—'मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है'।[2]

(5) **अपरिग्रह**—वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह न करना ही अपरिग्रह है। अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति का संचय करना परिग्रह है। इसका अभाव ही अपरिग्रह है। साधक को लोभ वश किसी वस्तु का संग्रह करना उचित नहीं है।

(6) **नियम**—योग के अनुसार मोक्ष के लिए अनिवार्य है। आचरण की पवित्रता कुछ नियमों पर ही निर्भर है। अतः नियम का अर्थ है सदाचार को अपनाना। पतंजलि के अनुसार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति ये पाँच नियम हैं—

---

1. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—29 ।
योग सूत्र-

2. कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते ।।

'शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः ।।' 32 ।।

शौच—योगी को बाह्य और आन्तरिक शुचिता पर ध्यान देना होगा। शरीर, वस्त्र और मकान आदि के मल को दूर करना बाह्य शुद्धि है। न्याय पूर्वक धन का अर्जन करना उससे शुद्ध अन्न को प्राप्त करना, पवित्र व्यवहार करना बाह्य शौच के अन्तर्गत आता है। जप-तप करना, शुद्ध विचारों से मैत्री आदि भावनाओं तथा सद्गुणों से अन्तःकरण के राग-द्वेष आदि विकारों को नष्ट करना आन्तरिक पवित्रता है।

संतोष—अपने कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ भी प्राप्त हो जाय तथा जिस परिस्थिति और अवस्था में रहने का जो संयोग प्राप्त हो जाय उसी में सन्तुष्ट रहना तथा किसी प्रकार की कामना या तृष्णा न करना 'सन्तोष' है।

तप—स्वधर्म का पालन करना तथा उसके पालन में जो शारीरिक और मानसिक कष्ट हो, सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख, द्वन्द्व आदि हो, उसे सहर्ष सहन करना ही 'तप' है। व्रत, उपवास भी इसके अन्तर्गत आते हैं। तप करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है।

स्वाध्याय—वेद, शास्त्र आदि धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन करना, महापुरुषों, संतों आदि की जीवनी का अध्ययन करना, ईश्वर के किसी नाम का जप करना 'स्वाध्याय' है। अपने जीवन का अध्ययन करना, अपने भीतर दोषों को देखकर निकालते रहना भी इसी के अन्तर्गत आता है।

ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर को ही सबकुछ मानते हुए उनके प्रति शरणापन्न हो जाने का नाम 'ईश्वर-प्रणिधान' है। ईश्वर का सतत् चिन्तन करते हुए अपने समस्त कर्मों तथा फलों को अर्पित कर देना, अपने को ईश्वर के हाथों या यन्त्र तथा ईश्वर को यन्त्री समझना जैसी स्थिति में रखें उसी में सहर्ष रहना तथा ईश्वर से अनन्य प्रेम रखना आदि सभी ईश्वर प्रणिधान के अंग माने जाते हैं।

(3) **आसन**—निश्चल सुखपूर्वक बैठने का नाम 'आसन' है—'स्थिर सुखमासनम्'। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शरीर को किसी विशेष मुद्रा में निश्चल रखना 'आसन' कहलाता है। ध्यान के लिए शरीर को आसन में रखना आवश्यक होता है। आसन से शरीर और मन दोनों पर नियन्त्रण हो जाता है, जो योग के लिए अनिवार्य है।

(4) **प्राणायाम**—श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना 'प्राणायाम' है—'श्वास प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः'। प्राणवायु का शरीर में प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनों की गति का रुक जाना प्राणायाम का सामान्य लक्षण कहा जाता है। प्राणायाम से चित्त में स्थिरता आती है। इससे

शरीर और मन दोनों दृढ़ होते हैं। योग की स्थिति प्राप्त करने के लिए प्राणायाम अनिवार्य होता है। योग सूत्र में प्राणायाम के तीन भेद बतलाए गए हैं—

(अ) **बाह्यवृत्ति (रेचक)**—प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालना और उसे कुछ समय तक बाहर ही सुख पूर्वक रोके रखना 'बाह्यवृत्ति' प्राणायाम है। इसी को 'रेचक' भी कहा जाता है क्योंकि इसमें रेचनपूर्वक प्राण को रोका जाता है।

(ब) **आभ्यन्तर वृत्ति (पूरक)**—इसमें प्राणवायु को भीतर ले जाते हैं और जितने काल तक सुखपूर्वक रोक सकते हैं, उतने समय तक रोके रखते हैं। यही अभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम है। इसी को 'पूरक' कहते हैं।

(स) **स्तम्भवृत्ति (कुम्भक)**—प्राणवायु स्वाभाविक रूप से बाहर या भीतर जहाँ गया हो उसे वहीं स्तम्भित कर देना (रोक देना) 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम है। उसे 'कुम्भक' प्राणायाम भी कहा जाता है।

पतंजलि ने प्राणायाम के महत्व को यह कहते हुए सिद्ध किया है कि—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' अर्थात प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण हो जाता है। आवरण का अर्थ कर्म-संस्कार और अविद्या आदि हैं। प्राणायाम से यह आवरण क्षीण हो जाता है। फिर साधक इनसे मोहित होकर अज्ञान में नहीं रहता। उसका ज्ञान सूर्य की भाँति प्रकाशित हो जाता है। प्राणायाम से मन में धारणा की योग्यता भी आ जाती है।

(5) **प्रत्याहार**—इन्द्रियों की बाह्यवृत्ति को सब ओर से हटाकर मन में विलीन करने के अभ्यास को 'प्रत्याहार' कहते हैं। इन्द्रियाँ ही मन को चंचल करती हैं, इधर-उधर ले जाती हैं। उन्हें ही बाह्य विषयों से हटाकर मन के वश में करने के इस अभ्यास को प्रत्याहार की संज्ञा दी जाती है। जब तक इन्द्रियाँ मन के वश में नहीं हो जातीं तब तक ध्यान लगाना संभव नहीं है। योगाभ्यास के लिए ध्यान को एक ओर लगाना आवश्यक है इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर मन के वश में किया जाय। इन्द्रियों पर नियन्त्रण होने से वह विषयों के पीछे नहीं जाती अतः मन भी चंचल नहीं होता और ध्यान में बाधा भी नहीं पड़ती। कहते हैं कि प्रत्याहार की सिद्धि होने के पश्चात् इन्द्रिय विजय के लिए किसी दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं रहती।

(6) **धारणा**—धारणा में किसी एक वस्तु पर चित्त (मन) को लगाना होता है। पतंजलि के अनुसार 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी किसी एक देश (स्थान) में चित्त को ठहराना धारणा है। कहा जाता है कि नाभिचक्र, हृदय कमल आदि शरीर के आन्तरिक देश (स्थान) हैं। या तो इन स्थानों पर चित्त की वृत्ति को लगाया जाय या फिर शरीर के बाहर आकाश, सूर्य, चन्द्रमा किसी मूर्ति आदि पर चित्त को लगाया जाय, यही धारणा है। धारणा के अभ्यास

से ध्यान की क्रिया का मार्ग पुष्ट होता है। धारणा के पश्चात् साधक ध्यान के योग्य सिद्ध हो जाता है।

(7) **ध्यान**—योग सूत्र में कहा गया है 'तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्' अर्थात् जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। धारणा के पश्चात् ध्यान की क्रिया है। ध्यान की क्रिया धारणा से शुरू होती है। ध्यान में बिना किसी रुकावट के एकतार किसी वस्तु पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। ध्यान से विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

(8) **समाधि**—समाधि ध्यान की पूर्णावस्था है। ध्यान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का आभास रहता है। अर्थात् आत्म चेतना रहती है। समाधि की अवस्था में इस चेतना का भी लोप हो जाता है। इस अवस्था में चित् की वृत्तियों का पूर्ण लोप हो जाता है। योगी इस अवस्था में पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। योग में समाधि ही योगी का चरम लक्ष्य माना गया है। पतंजलि ने समाधि के दो भेदों का उल्लेख किया है—(1) सम्प्रज्ञात समाधि, (2) असम्प्रज्ञात समाधि। जी-कास्टर ने अपनी पुस्तक 'योग ऐण्ड वेस्टर्न साइकालॉजी' में इसे क्रमशः चेतन और अचेतन समाधि की संज्ञा दी है।

(1) **सम्प्रज्ञात समाधि**—सम्प्रज्ञात समाधि वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता से युक्त होती है। इसलिए इसे सबीज समाधि भी कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं—

(अ) **सवितर्क समाधि**—इसमें बाह्य स्थूल भूत ही ध्यान के विषय होते हैं। वितर्क का अर्थ है प्रश्न और सवितर्क का अर्थ है प्रश्न सहित। अर्थात् उन स्थूल भूतों से पूछना, जिससे वे अपने अन्तर्गत सत्य और अपनी सारी शक्ति अपने ऊपर ध्यान करने वाले पुरुष को दे दें, इसी को सवितर्क कहते हैं।

(ब) **सविचार समाधि**—इसमें ध्यान का विषय सूक्ष्म पदार्थ है। इसके सविचार तथा निर्विकार दो रूप हैं। इसी प्रकार जब ग्राह्य (इन्द्रियों के स्थूल और सूक्ष्म विषय) और ग्रहण (इन्द्रियाँ और अन्तःकरण) के सूक्ष्म रूप में समाधि की जाती है, उस समय समाधि में जब तक शब्द, अर्थ और ज्ञान का विकल्प रहता है, तब तक वह सविचार और जब इनका विकल्प नहीं रहता तब वही निर्विकार कही जाती है।

(स) **आनन्दानुगता समाधि**—इसे आनन्द समाधि भी कहा जाता है। इसमें आनन्द का अनुभव होता है। इसीलिए इसे सानन्द समाधि कहा गया है। इसमें अन्तःकरण को ध्यान का विषय बनाया जाता है और जब अन्तःकरण को रज और तम इन दोनों गुणों से रहित सोचा जाता है तब उसे आनन्द समाधि कहते हैं।

(द) **अस्मिता समाधि**—इसमें स्वयं मन ही ध्यान का विषय होता है। 'जब ध्यान बिल्कुल परिपक्व और एकाग्र हो जाता है, जब स्थूल और सूक्ष्म भूतों की

समस्त भावनाएँ त्याग दी जाती हैं और जब अन्य सब विषयों से पृथक होकर अहंकार की केवल सत्तावस्था ही शेष रह जाती है, तब उसे अस्मिता समाधि कहते हैं। इस अवस्था में भी पूर्णतया मन के अतीत होना संभव नहीं होता।'[1]

वेदों में इस अवस्था को प्राप्त पुरुषों को 'विदेह' की संज्ञा प्राप्त है और जो लोग इस अवस्था में रहते हुए बिना परम पद की प्राप्ति के प्रकृति में लीन हो जाते हैं, उन्हें 'प्रकृतिलय' कहा जाता है। परन्तु यह सब सूक्ष्म भोग सुख हैं। जो इसे भी प्राप्त कर सन्तुष्ट नहीं होते वे ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि मुक्ति-प्राप्ति की पूर्व तैयारी स्वरूप है।

(2) **असम्प्रज्ञात समाधि**—इसे निर्जीव समाधि भी कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त-वृत्तियों का केवल दमन भर होता है फिर भी वे संस्कार या बीजाकार में विद्यमान रहती है। समय पाते ही वे पुनः प्रकट हो जाती हैं। असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि ज्ञानातीत अवस्था है। इसमें संस्कारों को भी निर्मूल कर दिया जाता है। जब मन को लगभग नष्ट कर दिया जाता है, तब समाधि निर्जीव हो जाती है।

वेदान्तियों के अनुसार भी समाधि दो प्रकार की होती है जो पातंजलि योग की समाधि के समान ही है। इनके अनुसार सम्प्रज्ञात को सविकल्प तथा असम्प्रज्ञात को निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। सदानन्द के अनुसार, सविकल्प समाधि एक मानसिक वृत्ति है और जिसका विषय शुद्ध चैतन्य या ब्रह्म है। इसी में वृत्ति का परिवर्तन कर देना इसका लक्ष्य है। इसमें ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का विभेद नष्ट नहीं होता। निर्विकल्प समाधि की परिभाषा भी मानसिक वृत्ति कह कर की गई है—जिसका परिवर्तन ब्रह्म या पूर्ण चैतन्य में ही कर देना है। इसमें साधक ब्रह्म से अपना पूर्णरूपेण समागम स्थपित कर लेता है। यह अवस्था शुद्ध ब्रह्म की चेतन अवस्था है।

पतंजलि के अनुसार, अष्टांग मार्ग से की जाने वाली साधना के आधार पर पूर्ण समाधि संभव है। समाधि में योगी को पूर्ण ज्ञान हो जाता है उसे अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान हो जाती है। फिर वह दुःख नहीं भोगता मुक्त हो जाता है। उसकी अविद्या दूर हो जाती है। योगाभ्यास से योगी में अनेक शक्तियाँ भी आ जाती हैं, परन्तु साधक इनके लिए साधना नहीं करता। मोक्ष को चाहने वाला मुक्ति के लिए योग का अभ्यास करता है।

———

1. स्वामी विवेकानन्द—राजयोग पृ० 142-45

परिशिष्ट 2

(2) ईसाई धर्म में पाप से मुक्ति और इसके मार्ग

ईसाई धर्म में यह मान्यता है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया। मनुष्य को स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति दी। उसको ऐसा विवेक दिया, जिसके आधार पर वह भले-बुरे का ज्ञान कर सकता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह बुराई का त्याग करके भलाई का कार्य करे। मनुष्य भला तभी हो सकता है जब वह ईश्वर को समर्पित हो जाय। अपनी इच्छाओं को ईश्वर के अधीन कर दे। ईश्वर के आदेशों का पालन करे। परन्तु जब मनुष्य ने दुराचार से अपने को कलंकित कर लिया तो उसकी ईश्वर-छवि विकृत हो गयी। ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य को इस पाप से मुक्त होना है। इस पाप वृत्ति से मुक्त होने पर ही मनुष्य ईश्वर की छवि को प्राप्त कर सकता है। यही पाप बन्धन का कारण है। संत पाल कहते हैं—'यदि मैं वही करता हूँ, जिसकी इच्छा नहीं करता तो उसका करने वाला मैं न रहा परन्तु पाप जो मुझमें बसा हुआ है। 'मैं' कैसा अभागा मनुष्य हूँ! मुझे इस मृत्यु के देह से कौन छुड़ाएगा ?' (7|20,24)

संत पाल के कथन से यही सिद्ध होता है कि पाप के कारण ही बन्धन है। इससे छुटकारा ही मुक्ति ((Salvation) है। इस मुक्ति के उपायों पर ईसाई धर्म में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। हिन्दू धर्म की तरह ईसाई धर्म में भी यह स्वीकार किया गया है कि आत्मिक जीवन जीना ही मुक्ति है। शरीर में जीना पाप में जीना है। संत पाल कहते हैं—'शरीर पर मन लगाया तो मृत्यु है, परन्तु आत्मा पर मन लगाना जीवन और शान्ति है।' ईसा मसीह ही जीवन हैं। उनका निवास जिसमें है वही जीवित है अर्थात् मुक्त है। उसे शान्ति है। कितना भी पाप हो यदि ईसा की शरण में जाय तो वह शान्ति देंगे क्षमा करेंगे। इसीलिए कहा गया है कि यदि किसी में मसीह का आत्मा नहीं तो वह उसका जन नहीं और यदि मसीह तुममें है तो देह पाप के कारण मरी हुयी है परन्तु आत्मा धर्म के कारण जीवित है।'[1]

संत पाल के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि मुक्ति के विभिन्न उपाय और मार्ग हैं, जिन पर चलकर मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है—

(1) **विश्वास**—ईसाई धर्म में मुक्ति के लिए पहला मार्ग है कि मनुष्य ईसा मसीह में विश्वास करे। वही उद्धार कर्त्ता है। उनके उपदेशों में विश्वास करना मनुष्य का कर्तव्य है। स्वयं ईसा ने कहा भी है कि 'द्वार मैं हूँ। यदि कोई मेरे द्वारा भीतर प्रवेश करे तो उद्धार पाएगा।' 'जो मुझे देखता है, वह मेरे भेजने वाले को

1. रोमियों—8|6, 9, 10

देखता है। मैं जगत में ज्योति बनकर आया हूँ ताकि जो कोई मुझ पर विश्वास करे वह अन्धकार में न रहे।'[1]

(2) **ईश्वर कृपा, क्षमा, एवं हृदय की पवित्रता**—ईसाई धर्म में मुक्ति की प्राप्ति के लिए ईश्वर की कृपा आवश्यक है। ईश्वर के समक्ष बालकवत सरल वन कर जाने से क्षमा किया जाएगा। ईश्वर की कृपा उसी पर होगी जिसका विश्वास ईसा में, उनके उपदेशों में है। जिनका अन्त:करण शुद्ध है, जो नम्र हैं, जो आत्मिक जीवन जीना चाहते हैं वे ही क्षमा के पात्र हैं। ईसा मसीह कहते हैं—'यदि तुम न फिरो, और बालकों के समान न वनो तो स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने नहीं पाओगे।' मनुष्य के सब प्रकार के पाप और निन्दा क्षमा की जायेगी पर आत्मा की निन्दा क्षमा न की जायेगी।'

इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि ईसाई धर्म में जहाँ मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा पर निर्भर रहना आवश्यक बतलाया गया है, वहाँ हिन्दू धर्म या बौद्ध धर्म में मनुष्य का प्रयास अधिक आवश्यक है। परन्तु डॉ० राधाकृष्णन का कहना है कि ईसाई धर्म में भी मनुष्य के प्रयास और उसके कर्मों के आधार पर ही मुक्ति निर्भर है। उनके शब्दों में ईसा को भी मान्य है कि अध्यात्म जगत के भी नियम हैं। तुच्छ तृण, चोर, गुप्तधन, मोती, पथ-भ्रष्ट भेड़, मुद्रा, दश कुमारियों एवं वैवाहिक वस्त्रों की दृष्टान्त-कथाओं का यही संकेत है कि हमारी मुक्ति अपने ही कर्मों से हो सकती है।'[2]

(3) **नैतिक आचरण**—ईसाई धर्म में मुक्ति के मार्ग के रूप में नैतिक आचरण की शुद्धता पर भी बल दिया गया है, क्योंकि मानव का भावी जीवन वर्तमान के कर्मों पर निर्भर होता है। वही व्यक्ति दैवी साम्राज्य का अधिकारी होगा जिसका नैतिक आचरण शुद्ध रहा है अर्थात् जिसने नैतिक जीवन व्यतीत किया है तथा बुरे आचरण के लिए ईश्वर से क्षमा की प्रार्थना की है। पाप से क्षमा होने पर ही उसे मुक्ति मिलेगी। इसी से यह भी प्रकट होता है कि ईसाई धर्म वैयक्तिक अमरता में विश्वास करता है। अन्य धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म नैतिकता पर इतना अधिक बल देता है कि व्यावहारिक दृष्टि से कुछ लोग इसे संभव नहीं मानते परन्तु इतना सत्य है कि मानव जीवन के लिए नैतिकता का अतिवादी रूप बहुत चौंकाने वाला भी नहीं है, क्योंकि नैतिकता का प्रश्न पशु जीवन के लिए नहीं, मनुष्य के लिए ही उठाया जा सकता है। ईसा का यह उपदेश मनुष्य को ही दिया जा सकता है कि 'मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने बैरियों से प्रेम रखो और अपने सामने वालों के लिए प्रार्थना करो।'

---

1. यूहन्ना—10/9, 12|45-46.
2. भारत की अन्तरात्मा—पृ० 90, मैथ्यू—13, 24-30, 45-46,

सारांश कि ईसाई धर्म के अनुसार, मानव जीवन का चरम उद्देश्य पाप से मुक्त होना और वैयक्तिक अमरता को प्राप्त करना है। परन्तु इसकी अमरत्व की धारणा हिन्दू धर्म में वेदान्त की धारणा से भिन्न है। वेदान्त में तो ब्रह्म और जीव में एकाकारता हो जाती है परन्तु ईसाई धर्म में एकाकारता नहीं होती इस धर्म में मनुष्य ईश्वरत्व को नहीं प्राप्त करता वरन् वह ईश्वर से अलग अपनी सत्ता बनाये रखता है।

समीक्षा—ईसाई धर्म के अनुसार पाप से निवृत्ति होने के बाद ही मुक्ति संभव है। ईश्वर के प्रतिरूप में मनुष्य ने झूठे और अनित्य रूप को चाहा तथा अपने सच्चे रूप अर्थात् ईश्वर से दूर भागता रहा। पाप का उदय हो गया। परन्तु मनुष्य में ईश्वर ने स्वतन्त्र इच्छा शक्ति दी है, उसका वह उपयोग कर सकता है। मनुष्य स्वभावतः पापी नहीं है। वह अपनी परमगति को प्राप्त कर सकता है। उस पर उसका अधिकार है। उसे कोई छीन नहीं सकता कुछ समय के लिए टल जरूर सकता है। डा० राधाकृष्णन का कथन है कि 'वह सिद्धान्त जो मनुष्य को स्वभावतः पापी समझता है, मुझे भय है सत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। हमारी प्रकृति तो दैवी है। जो पुरुष संसार में आता है, वह ईश्वरीय ज्योति से युक्त रहता है। यदि मैं तुममें न होता तो तुम हमारी खोज नहीं कर सकते थे·········इस दृष्टि से पाप-वृत्ति-त्याग किसी नवीन वृत्ति का आविर्भाव नहीं है।··········मुक्ति अपने भीतर के देवत्व के क्रमिक विकास का परिणाम है, ईश्वरी करुणा का फल नहीं।'[1] इस प्रकार यदि ईसाई धर्म में पाप पर अधिक बल न दिया जाय तो 'मुक्त आत्मा के लक्षण हिन्दू और ईसाई मत में समान ही हैं।' मुक्ति का फल ज्ञान, प्रेम तथा आनन्द है।·········मुक्त पुरुष के पास केवल ज्ञान तथा प्रेम ही नहीं होता वरन् उसके पास तो वह शान्ति भी होती है जो मनुष्यों एवं परिस्थितियों की शक्ति से परे होती हैं और जिसका वर्णन हिन्दू किया करते हैं। यही वह आनन्द है जिसकी ओर ईसा ने संकेत किया था, जब उन्होंने कहा था—'अपना आनन्द मैं तुम्हें देता हूँ और तुम्हारा आनन्द तुमसे कोई नहीं छीनता।' इस प्रकार ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म के मुक्ति के सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है। डा० राधाकृष्णन ने दो बातों पर विशेष बल दिया है। एक है अपने त्याग से दूसरों के पापों का प्रायश्चित करने का सिद्धान्त और दूसरा ईसा के बलिदान के फलस्वरूप ईश्वर द्वारा मनुष्यों को फिर से अपना लेने का सिद्धान्त। उनका कहना है कि यदि इन दो बातों में विश्वास न करें तो हिन्दू और ईसाई धर्म में मुक्ति के स्वरूप तथा साधन के सम्बन्ध में भेद नहीं रह जाता। उनका कहना है कि 'यह बात तो निर्विवाद है कि सभी साधुओं की तरह ईसा भी किसी हद तक हमें पापों से बचाकर ईश्वर की ओर ले जाता है, किन्तु ईसा का बलिदान लोगों के पापों का प्रायश्चित करे, यह अनर्गल बात है।[2]

---

1. भारत की अन्तरात्मा पृ० 96
2. वही, पृ० 99-100.